TEXT FLY
WITHIN THE
BOOK ONLY
TEXT LITE
WITHIN THE
BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186442

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H551/V33B Accession No. H2824

Author वाशिष्ठ, राम स्वरूप

Title भूगोल के आधार

This book should be returned on or before the date last marked below. 3-11-72. 1958

भूगोल के भौतिक आधार

कुछ सम्मतियाँ

इस पुस्तक में हमारे निवास-स्थान पृथ्वी का बड़ा ज्ञानपूर्ण, रोचक तथा विशद् विवेचन है ''''''प्राकृतिक भूगोल के सब विषयों का नवीनतम खोजों और सिद्धान्तों के साथ सरल और मनोरंजक रूप में वर्णन करने वाला यह ग्रन्थ हिन्दी में अब तक इस विषय पर निकली पुस्तकों में सर्वश्रेष्ठ है।''''''विविध जटिल प्रश्नों को बड़े सुगम रूप में समझाया गया है। '''' न केवल भूगोल के विद्यार्थी अपितु इस विषय में अभिरुचि रखने वाले पाठक भी इससे अपनी ज्ञान-वृद्धि कर सकते हैं। पुस्तक की छपाई और गेट-अप अत्युत्तम है।

—'हिन्दुस्तान', नई दिल्ली

''''''यह पुस्तक 'भूगोल की पाठ्य-पुस्तिका के रूप में लिखी गई है' और इस दृष्टि से यह एक अत्यन्त सफल पुस्तक सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नहीं। पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर लेखक का परिश्रम और वर्णित विषय पर पूर्ण अधिकार स्पष्ट झलकता है। भूगोल विषयक हिन्दी की अच्छी पुस्तकों का अभाव ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन द्वारा यथेष्ट रूप से दूर होगा।"

—'बाल भारती', दिल्ली

''''''हिन्दी में भौगोलिक विज्ञान का उचित स्पष्ट करने वाली आकर्षक पुस्तकों का प्रायः अभाव है। प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा मे हुआ एक सफल प्रयास है। ''''''पुस्तक अध्यापकों को और कालिजों के विद्यार्थियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है।"

—'कल्पना', हैदराबाद

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत

भूगोल के भौतिक आधार

(भूगोल तथा भूतत्वविज्ञान (Geology) की इण्टरमीडियेट,
बी. ए., बी. एस-सी., एम. ए. और एम. एस-सी.
कक्षाओं के लिए)

लेखक
रामस्वरूप वशिष्ठ, एम. ए.

सर्वोदय साहित्य मंदिर,
कोठी, (बसस्टेण्ड,) हैदराबाद ब.

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली - ६

लेखक की अन्य रचना

मानचित्र-प्रवेशिका (सचित्र) ३.००

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

COPYRIGHT © ATMA RAM & SONS, DELHI-6

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	**सात रुपये**
दूसरा परिवर्द्धित संस्करण	:	जुलाई, १९५८
मुद्रक	:	मूवीज़ प्रेस, दिल्ली-६

द्वितीय संस्करण की भूमिका

पाठकों ने पुस्तक के प्रथम संस्करण का जिस अपूर्व उत्साह से स्वागत किया उसके लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ। उत्तर-प्रदेश की सरकार ने इस पुस्तक को पुरस्कृत करके मेरा उत्साह बढ़ाया। पाठकों की सेवा में पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। इस संस्करण में विविध विश्वविद्यालयों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के आधार पर पुस्तक का कलेवर बढ़ा दिया गया है। कुछ पारिभाषिक शब्दों में भी थोड़ा-सा हेरफेर किया गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक प्रश्नावली भी जोड़ दी है। आशा है पुस्तक की उपयोगिता काफी बढ़ जाएगी।

आषाढ़-पूर्णिमा
संवत् २०१५

—रामस्वरूप वशिष्ठ

प्रथम संस्करण की भूमिका

पृथ्वी मनुष्य का रहस्यमय घर है। इस घर में मानव को भोजन, वस्त्र, आवास आदि अनेक सुख-सुविधायें प्राप्त हैं। फिर क्या आश्चर्य कि मानव को इस धरती से गहरा प्रेम हो। अपनी इस कौतूहलपूर्ण क्रीड़ाभूमि 'पृथ्वी' के बारे में अधिकाधिक जानने की इच्छा मनुष्य के मन में सदा ही बनी रही है। इसी अतृप्त जिज्ञासा के कारण प्रारम्भिक काल से ही मानव-मन में मन्थन होता आया है। हमारा पृथ्वी सम्बन्धी ज्ञान इसी जिज्ञासा का परिणाम है।

केवल जिज्ञासा इस ज्ञान की विधातृ भले ही रही हो, किन्तु जिज्ञासा-पूर्ति के अतिरिक्त यह ज्ञान हमारे लिए लाभप्रद भी है। भौतिक वातावरण मानव-जीवन पर काफ़ी महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री प्रो० सिरिल बर्ट ने मनुष्य और वातावरण का सम्बन्ध बताते हुए लिखा है—"जब तक मिट्टी और जलवायु उपयुक्त नहीं होगी तब तक बीज न तो अंकुरित होगा और न प्रस्फुटित होगा। फिर मानव की स्थिति तो भिन्न होती है। वह बीज की तरह जड़ नही किन्तु चेतन है। मनुष्य पर वातावरण का प्रभाव तो होता ही है। वह स्वय भी वातावरण का उपयोग करता है और अपनी ज्ञानवृद्धि करता है। हमें बालकों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे व्यक्ति और वातावरण का सम्बन्ध भली भाँति समझ सकें।" प्रो० सिरिल बर्ट ने यहाँ वातावरण शब्द में भौतिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार के वातावरण को सम्मिलित किया है। बहुत से व्यक्ति भौतिक वातावरण के प्रभाव को नगण्य मानते

है। मेरा विश्वास है कि उनकी धारणा मिथ्या है। सुप्रसिद्ध भूगोलवेत्ता प्रो० ग्रिफथ टेरल के शब्दों में मनुष्य का महत्त्व चौराहे पर खड़े हुए पुलिसमैन से अधिक नही है। वह भौतिक वातावरण के प्रभाव को केवल घटा या बढा सकता है, उसको सर्वथा निर्मूल नही कर सकता और न उसे बदल ही सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक व्यक्ति के भौतिक वातावरण के विभिन्न रूपों की व्याख्या करती है। हमारी पृथ्वी कैसी है, इसके विभिन्न आकार-प्रकारों के पीछे क्या रहस्य है, उनसे व्यक्ति का कैसा जीवन प्रस्फुटित होता है, आदि अनेक समस्याओं पर इस पुस्तक में विचार किया गया है। इसलिए, इसका नाम 'भूगोल के भौतिक आधार' रखा गया है।

यह पुस्तक भूगोल की पाठ्य-पुस्तक के रूप में लिखी गई है। अतः कहीं कहीं पर बात को भली भाँति समझाने के लिए उसे विभिन्न रूपो में प्रस्तुत किया गया है। कई बार एक ही बात दूसरे अध्यायों में भी आ गई है। मेरी धारणा है कि पाठ्य-पुस्तकों में पुनरुक्ति दोष नही माना जाता। वर्ण्य-विषय की गहनता की अनिवार्यतावश कही कहीं पर पुस्तक की भाषा कुछ क्लिष्ट हो गई है। परन्तु पुस्तक जिन कक्षाओं के लिए लिखी गई है उनके लिए सर्वथा उपयुक्त है।

मुझे विश्वास है कि मातृभाषा द्वारा शिक्षा मिलने पर शैक्षणिक स्तर में अभूतपूर्व उन्नति होगी। इसी आशा और विश्वास के आधार पर इस पुस्तक की रचना की गई है। पुस्तक-रचना के समय मैंने इस विषय पर अंग्रेजी की प्रायः सभी प्रामाणिक पुस्तको को पढने का प्रयत्न किया है। मैं उन सभी विद्वानों का अत्यन्त आभारी हूँ। किन्तु जिस सीमा तक पाठ्य-पुस्तक में मौलिकता सम्भव हो सकती है उस सीमा तक यह पुस्तक भी मौलिक कही जा सकती है। कई पारिभाषिक शब्दो के गढने में डॉ० रघुवीर के शब्द-कोष से सहायता ली गई है।

मैं पूज्य प्रो० डॉ० के० पी० रोड़े, उदयपुर, का अत्यन्त आभारी हूँ जिनके कृपापूर्ण आग्रह एवं आदेश से प्रेरित होकर यह पुस्तक लिखी गई है। अपने मित्रों में मैं प्रो० श्यामस्वरूप जी कुलश्रेष्ठ, महाराणा भूपाल कालेज, उदयपुर तथा श्री चन्द्रप्रकाश जी भारद्वाज लैक्चरार, जैन हायर सैकण्डरी स्कूल, दिल्ली, का भी आभारी हूँ जिन्होंने समय समय पर अपनी अमूल्य सम्मति प्रदान की।

अन्त में मै प्रकाशक श्री रामलाल पुरी जी का अत्यन्त आभारी हूँ जिनके हिन्दी-प्रेम एवं सौजन्य के कारण पुस्तक शीघ्र प्रकाशित हो सकी है।

बाजार सीताराम, दिल्ली
कार्तिक-पूर्णिमा, संवत् २०१०

—रामस्वरूप वशिष्ठ

विषय-सूची

खण्ड १—पृथ्वी-परिचय

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१.	पृथ्वी की उत्पत्ति, आकार और आधार	१–११
२.	पृथ्वी के सौर-सम्बन्ध	१२–२६
३.	भूगर्भ की झाँकी	२७–४४
४.	धरातल की प्रधान रूपरेखा	४५–५९
५.	पृथ्वी के धरातल का इतिहास	६०–७०

खण्ड २—स्थलमण्डल

६.	स्थलमण्डल	७१–८६
७.	स्थलरूप और उनका परिवर्तन	८७–९४
८.	भौगर्भिक शक्तियाँ (१) दीर्घकालिक घटनायें	९५–१०३
९.	भौगर्भिक शक्तियाँ (२) आकस्मिक घटनायें	१०४–१२४
१०.	समतलस्थापक शक्तियाँ (१) मौसमी क्षरण व भूमिगत जल	१२५–१३७
११.	समतलस्थापक शक्तियाँ (२) प्रवाहित जल	१३८–१५४
१२.	समतलस्थापक शक्तियाँ (३) हिम	१५५–१६९
१३.	समतलस्थापक शक्तियाँ (४) लहरें और वायु	१७०–१८०
१४.	मैदान	१८१–१९२
१५.	पर्वत	१९३–२०६
१६.	पठार	२०७–२१३
१७.	तटरेखा	२१४–२२१
१८.	झील	२२२–२२८

खण्ड ३—वायुमण्डल

१९.	वायुमण्डल	२२९–२३४
२०.	वायुमण्डल का तापक्रम	२३५–२५६
२१.	वायुभार और हवायें	२५७–२७१
२२.	वायुमण्डल की आर्द्रता और वर्षा	२७२–२९१

२३. वायु-विक्षोभ और उनका मौसम पर प्रभाव २९२–३०६
२४. जलवायु के अनुसार पृथ्वी के विभाग ३०७–३१९
२५. शीतोष्ण कटिबन्ध के गरम प्रदेशों में ३२०–३२४
२६. शीतोष्ण कटिबन्ध के शीतल भागों में ३२५–३३०
२७. अधिकतम ठण्डे देशों में ३३१–३३२

खण्ड ४—जलमण्डल

२८. जलमण्डल ३३३–३४५
२९. समुद्र-जल में गतियाँ (१) लहरें और धारायें ३४६–३५५
३०. समुद्र-जल में गतियाँ (२) ज्वार-भाटा ३५६–३६३
३१. प्रवाल द्वीप ३६४–३६७
अनुक्रमणिका ३६९–३७४

भूगोल के भौतिक आधार

खण्ड १

पृथ्वी परिचय

पहला अध्याय

पृथ्वी की उत्पत्ति, आकार और आधार

१. **ब्रह्माण्ड** (Universe)—हमारी पृथ्वी सौरमण्डल या सूर्य के परिवार का एक सदस्य ग्रह है। अनन्त ब्रह्माण्ड में सौरमण्डल जैसे अनगिनत नक्षत्र-मण्डल घूम रहे हैं। असख्य नक्षत्र हमारे सूर्य से कई गुना बड़े हैं। इन नक्षत्रों की तुलना में हमारी पृथ्वी इतनी छोटी है जितना मनुष्य के मुकाबले में धूल का एक कण। ज्येष्ठा नक्षत्र इतना बड़ा है कि उसमें ७,०,०,००,००,०,००,००० पृथ्वियाँ समा जायँगी। ये नक्षत्र हमसे इतनी दूर हैं कि हम उनके आकार की कल्पना भी नहीं कर सकते। यदि हम एक वायुयान में बैठ कर ४०० मील प्रति घण्टा की गति से बिना रुके चलें, तो चन्द्रमा तक एक महीने में, सूर्य तक २७ वर्षों में और अपने निकटतम तारे (Star) तक ७३०० वर्षों में पहुँच सकेंगे। कुछ तारे तो इतनी दूर है कि उनका प्रकाश भी पृथ्वी तक लाखों वर्षों में पहुँच पाता है। प्रकाश की गति प्रति सैकिण्ड १,८६००० मील है। इसलिए ज्योतिषी नक्षत्रों की दूरी प्रकाश वर्षों (Light years) में नापते है। सूर्य पृथ्वी से सवा नौ करोड़ मील दूर है। उसके प्रकाश को पृथ्वी तक आने में ८$\frac{१}{२}$ मिनट लगते हैं, अतः सूर्य पृथ्वी से ८$\frac{१}{२}$ मिनट की प्रकाश-दूरी पर है। पृथ्वी के निकटतम तारे से प्रकाश को पृथ्वी तक आने में ४$\frac{१}{२}$ वर्ष लगते हैं, अतः वह तारा हमसे ४$\frac{१}{२}$ प्रकाश-वर्ष दूर है।

रात्रि में चमकने वाले प्रकाश-पिण्डों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—

(१) **तारे** (Stars) या स्वयं प्रकाशवान पिण्ड—ये पिण्ड अपने-आप ही प्रकाश निकालते रहते है। हमारा सूर्य भी ऐसा ही एक तारा है।

(२) **ग्रह** (Planets)—इनमें अपना निजी प्रकाश नही होता, किन्तु किसी तारे के प्रकाश को ग्रहण करके प्रतिबिम्बित किया करते है। ये ग्रह किसी न किसी तारे की परिक्रमा भी किया करते है। हमारी पृथ्वी भी एक ग्रह है।

(३) **उपग्रह** (Satellites)—ये भी स्वयं प्रकाशवान नहीं हैं, किन्तु किसी

तारे के प्रकाश को ग्रहण कर उसे प्रतिबिम्बित करते हैं। उपग्रह किसी ग्रह की परिक्रमा करते हैं। चन्द्रमा एक उपग्रह है।

२. **सौरमण्डल** (Solar System)—प्रत्येक तारे के चारों ओर कुछ ग्रह चक्कर काटते हैं। इस तारे और उसकी परिक्रमा करने वाले ग्रहों को मिलाकर एक मण्डल या तारा-परिवार बनता है। ये सभी तारा-मण्डल एक अज्ञात केन्द्र की परिक्रमा किया करते हैं। हमारा सूर्य भी एक तारा है। नौ ग्रह हमारे सूर्य की परिक्रमा करते हैं। इन सभी को सौर-मण्डल या सौर-परिवार कहते हैं। सौर-मण्डल भी अन्य तारा-मण्डलों की तरह ७२० मील प्रति मिनट की गति से किसी केन्द्र के चारों ओर दौड़ रहा है।

३. **सौरमण्डल की उत्पत्ति**—सौरमण्डल की उत्पत्ति अत्यन्त रहस्यपूर्ण घटना है। विद्वानों ने इस पहेली को बुझाने के लिए निरीक्षण, तर्क और कल्पना के आधार पर अनेक प्रकार के सिद्धान्त स्थापित किए, परन्तु अभी तक कोई सिद्धान्त सर्वमान्य नही हो सका है। यह तो सभी मानते हैं कि सौर-परिवार का एक सदस्य होने के कारण पृथ्वी की उत्पत्ति सौरमण्डल के अन्य सदस्यों के साथ हुई होगी। परन्तु उत्पत्ति-सम्बन्धी अन्य बातो मे बडा मतभेद है। कुछ विद्वान सौरमण्डल की उत्पत्ति वायव्य पिण्ड (Gaseous mass) से मानते हैं। दूसरो की राय में सौरमण्डल ठोस उल्का पिण्डो (Meteor) से उत्पन्न हुआ है। सौरमण्डल की उत्पत्ति के बारे में कुछ सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) **लाप्लास का नीहारिका सिद्धान्त** (Nebular Theory of Laplace)—१७८९ ई० में फ्रॉस के एक विद्वान् लाप्लास ने सौरमण्डल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त उपस्थित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार सूर्य आरम्भ में गैस के एक बहुत बड़े पिण्ड के रूप में फैला हुआ था। गैस के धधकते हुए महापिण्ड को नीहारिका (Nebula) कहते हैं। नीहारिका या धधकते हुए वायव्य महापिण्ड (Gaseous mass) के रूप में सूर्य इतना अधिक फैला हुआ था कि सौरमण्डल के सबसे दूर वाले प्लूटो ग्रह के परिक्रमा क्षेत्र से बहुत आगे तक इसका विस्तार था। यह गैसमय महापिण्ड आकाश (Space) में अपनी धुरी पर घूमता हुआ बड़े वेग से चक्कर लगा रहा था। बड़ी तेजी से घूमने के कारण इसके ऊपरी भाग की गर्मी आकाश में फैलने लगी और ऊपरी भाग ठंडा होने लगा। ठंडा होने के कारण ऊपरी भाग घना होने लगा जिससे इसका आयतन (Volume) घटने लगा। दूसरे शब्दों में महापिण्ड सिकुड़ने लगा। सिकुड़ने के साथ इसके नाचने का वेग भी बढ़ता गया। ऊपरी भाग ठंडा होते-होते काफी घना हो गया, परन्तु भीतरी वायव्य पदार्थ (Gaseous contents) गर्मी से धधकता रहा। ऊपरी घना

भाग अब भीतरी भाग के साथ नही दौड सका । अतः एक समय ऐसा आया कि ऊपर की एक गोलाकार पट्टी केन्द्रीय पिण्ड मे अलग हो गई और उसके ऊपर तेजी से नाचती रही । कालान्तर में यह गोलाकार पट्टी ठडी होते-होते एक पिण्ड के रूप मे सिकुड़ गई और केन्द्रीय नीहारिका का चक्कर पूर्ववत् काटती रही । बचे हुए नीहारिका का ऊपरी भाग पहले की तरह सिकुड़ता रहा और ऊपर लिखे हुए तरीके से उस महापिण्ड में से एक-एक करके नौ पिण्ड अलग हो गये । जो पिण्ड नीहारिका से अलग हुए, वे ग्रह कहलाये और अवशेष नीहारिका ग्रहपति सूर्य बन गया । ये पिण्ड आज भी पूर्ववत् सूर्य के चारो ओर नाच रहे है । । सूर्य अभी तक उसी तरह गर्म है, परन्तु उसके ग्रह ऊपर से काफी ठडे हो गये है । फलत. गैसमय भाग घना होते होते पहले द्रव अवस्था (Liquid state) मे बदला और अन्त मे ठोस (Solid) बन गया । हमारी पृथ्वी अभी पूर्णतया ठंडी नही हो पायी है । भीतरी भाग अभी द्रव अवस्था मे है और धीरे-धीरे सिकुड रहा है ।

अपनी उत्पत्ति के समय पृथ्वी वायव्य अवस्था मे थी और इसका आकार सूर्य के बराबर था । इसके ऊपरी भाग मे भी एक कुण्डली (Ring) अलग हो गयी जिसके एकत्र होने पर चन्द्रमा बना । इसी प्रकार अन्य कई ग्रहो मे से उपग्रह बने ।

नीहारिका-सिद्धान्त के पक्ष में प्रभाव---(१) इस सिद्धान्त से पता चलता है कि सौरमण्डल के सभी सदस्य ग्रह एक ही दिशा मे घूमते है और उनके घूमने का तल भी एक ही है । सोरमण्डल के अध्ययन से यह अवस्था ठीक प्रतीत होती है ।

(२) इस सिद्धान्त के अनुसार सभी ग्रह पहले वायव्य अवस्था में थे, उसके बाद द्रव-रूप हुए और अन्त मे ठोस बने । नवीनतम प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी का भीतरी भाग तरल अवस्था में है ।

समीक्षा---(१) लाप्लास के अनुसार वायव्य नीहारिका लाखों वर्षो तक धधकती अवस्था में रही । लार्ड कैल्विन ने आपत्ति उठाई कि आकाश मे फैली हुई गैस की नीहारिका इतने अधिक दिनो तक क्योंकर धधकती रह सकी ।

(२) चक्र के रूप में गैस पदार्थ सिमट कर नक्षत्र कैसे बन गया । गैसो के छोटे-छोटे अणुओं का घूमना इतना तीव्र और इतना अनियमित होगा कि उनका ग्रह रूप में इकट्ठा होना सम्भव नही प्रतीत होता । मौल्टन का कथन है कि गोलाकार पट्टी के सिकुड जाने से ऐसे गोले नही बन सकते जैसे कि ग्रह है ।

(३) नीहारिका के कणों में पारस्परिक लगाव इतना कम होगा कि गोलाकार पट्टियाँ रुक-रुक कर नही बनेगी, किन्तु सभी पट्टियाँ एक साथ ही बनना शुरू हो जायेंगी । इस सिद्धान्त के अनुसार गोलाकार पट्टियाँ काफी रुक-रुक कर बनती रहीं ।

(४) घूमने की गति बढ़ जाने पर गैसों वाले पदार्थ में कोणीय वेग इतना

तेज नही हो सकता कि नीहारिका में से गोलाकार पट्टी अलग हो जाय।

(२) **उल्का पिण्डों की नीहारिका का सिद्धान्त**—हम नित्य-प्रति आकाश में तारों को टूटते हुए देखते है। इन टूटते हुए तारो को उल्का कहते है। टूटे हुए तारों के कुछ टुकड़े हमारी पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से खिचकर पृथ्वी पर गिर जाते हैं। इन टुकडो के अध्ययन से पता चला है कि इनमें वे ही पदार्थ है जो हमारी पृथ्वी की चट्टानो मे मिलते है। अस्तु, लाकयर नामक विद्वान् ने सौरमण्डल के जन्म की कल्पना इन्ही ठोस उल्काओ से की। इस सिद्धान्त के अनुसार सुदूर अतीत में दो महाकाय तारे आपस में टकराये। इस टक्कर से तारे टूट-फूट गये और जोरदार घर्षण के कारण भीषण ज्वाला उत्पन्न हुई। ज्वाला की अति तीक्ष्ण गर्मी से बहुत से टुकड़े पिघल कर द्रव बन गए और कुछ गैस बनकर बादल की तरह छा गये। परन्तु ये सब आकर्षण-शक्ति के प्रभाव के कारण अलग नही हो पाये। इस प्रकार एक बहुत बड़े महापिण्ड का निर्माण हुआ। टक्कर के कारण महापिण्ड घूमने भी लगा और धीरे-धीरे कुण्डलाकार नीहारिका (Spiral Nebula) के रूप मे बदल गया। ऐसी कुण्डलाकार नीहारिकाये आज भी आकाश-मण्डल मे दिखाई पडती है। कुछ काल के बाद हमारी नीहारिका (Nebula) का ऊपरी भाग ठडा होकर केन्द्रीय भाग से अलग हो गया। इसी प्रकार धीरे-धीरे नौ भाग अलग हो गये। ये ही नौ भाग नौ ग्रह है और केन्द्रीय पिण्ड सूर्य बन गया है। इस सिद्धान्त के अनसार अनंत ब्रह्माण्ड के सभी नक्षत्र-मण्डल इसी तरह से बने है।

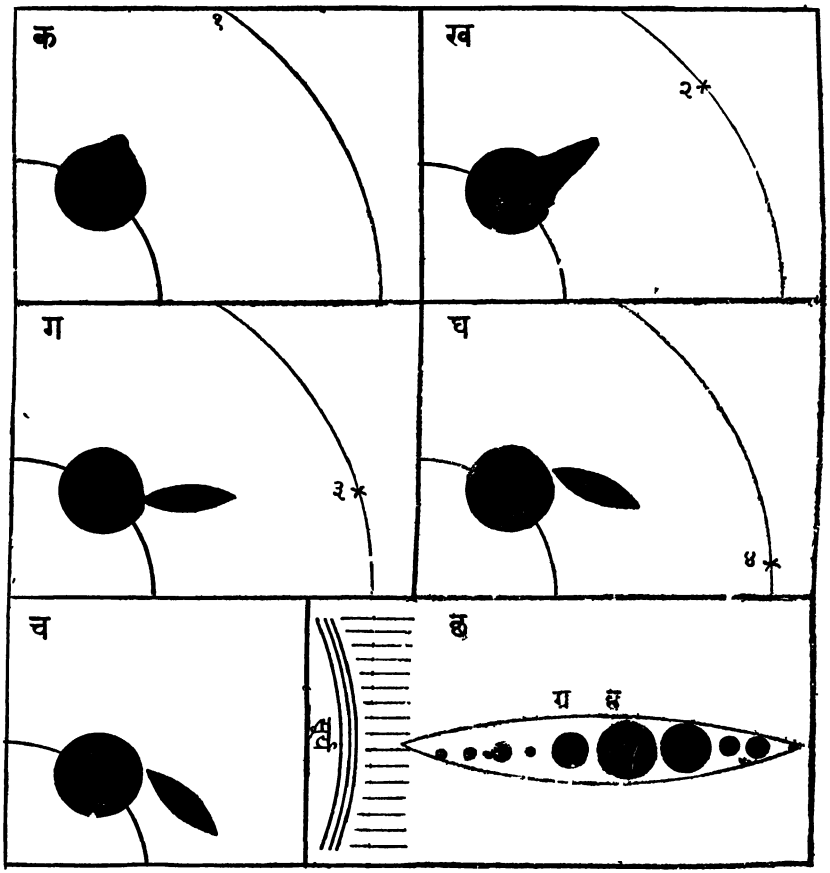
समीक्षा—(१) परस्पर टकराने से तारो का टूट कर बिखर जाना तो समझ में आता है परन्तु उनका फिर एकत्र होकर जम जाना पूर्णतया युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। तीव्र गति से घूमते हुए पिण्डों को एकत्र करने में गुरुत्वाकर्षण शक्ति बिल्कुल असमर्थ होगी।

(२) थोड़े से उल्का मिलकर एक नीहारिका की रचना नहीं कर सकते।

(३) **जेम्स जीन्स का ज्वार वाला सिद्धान्त** (Tidal Hypothesis of James Jeans)—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में सूर्य गैस का एक विशाल गोला था। अतीत काल में सूर्य से भी कई गुना बडा तारा सूर्य के समीप आने लगा। इस तारे के आकर्षण से सूर्य में ज्वार उठा। ज्यों-ज्यों तारा अधिक निकट आता गया, त्यों-त्यों ज्वार की ऊँचाई और आकार बढ़ता गया। धीरे-धीरे तारे की आकर्षण शक्ति सूर्य के आकर्षण से अधिक हो गई। फलतः, लम्बाई के आकार में ज्वार का भाग सूर्य से अलग होकर तारे की ओर खिचा। किन्तु अब तारा अपने मार्ग से जाता हुआ सूर्य से दूर निकल गया और सूर्य से टूटा हुआ ज्वार-भाग पीछे ही रह गया। तारे के अधिक दूर हो जाने पर ज्वार-भाग की आकर्षण-शक्ति क्रियाशील हुई और यह भाग सूर्य की

शक्ति से उसके चारों ओर नाचने लगा। यह भाग धीरे-धीरे ठंडा हुआ और इसमें से छिटक कर कई टुकड़े अलग हो गये। ये टुकड़े ही पृथ्वी आदि ग्रह बने। सूर्य के आकर्षण से इन ग्रहो में भी ज्वार आये और टूट कर उपग्रह बन गये।

[जेफरे (Jefferys) नामक विद्वान् के अनुसार सूर्य के समीप आने वाले विशाल तारे की सूर्य से टक्कर हुई जिससे सूर्य और उस तारे के कुछ अश आकाश में छिटक गये। इन्हीं से ग्रहों का निर्माण हुआ।]



चित्र १. सौरमण्डल की उत्पत्ति

आजकल ज्वार वाला सिद्धान्त ही अधिक माना जाता है। कई प्रमाणों से इसकी पुष्टि होती है। कुछ प्रमाण निम्नलिखित हैं—

(१) सूर्य में उत्पन्न ज्वार का आकार सिगार की तरह मध्य में मोटा और

दोनों सिरों पर पतला होना चाहिए । सौरमण्डल के ग्रहों की व्यवस्था सिगार के आकार के समान ही है । सूर्य के समीप बुध ग्रह छोटा है । इसके बाद ग्रहों का आकार बडा होता जाता है और बीच में बृहस्पति ग्रह सबसे बडा है । इसके बाद ग्रह फिर छोटे होने लगते हैं और अन्तिम ग्रह प्लूटो सबसे छोटा है । इस तरह सभी ग्रह यह प्रमाणित करते हैं कि उनका जन्म ज्वार से हुआ है ।

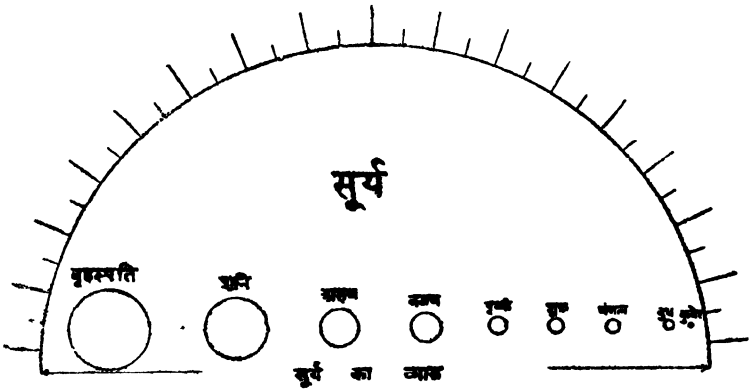
(२) उपग्रहों की व्यवस्था भी इसी मत की पुष्टि करती है । जिस ग्रह के कई उपग्रह हैं उनमें बीच वाला उपग्रह सबसे बडा है । इससे स्पष्ट है कि ग्रहों और उपग्रहों की उत्पत्ति एक ही तरह हुई ।

(३) इस मत के अनुसार बडे ग्रह अधिक काल तक गैस रूप में रहे, अतः उनके उपग्रह अधिक सख्या में बने परन्तु उनका आकार छोटा रहा । बडे ग्रहों के आस-पास वाले ग्रहों के उपग्रह कम संख्या में बने परन्तु आकार में बड़े बने । सिरे वाले ग्रह (सूर्य के सबसे पास और सबसे दूर वाले ग्रह) आकार में छोटे होने के कारण जल्दी ठडे हो गये । अत. उनके उपग्रह नहीं बने ।

४. सौरमण्डल के सदस्य—सौरमण्डल का आदि जनक सूर्य है । समस्त ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं । ग्रहों की परिक्रमा के मार्ग अण्डाकार (Elliptical) हैं । सूर्य से ग्रहों का क्रम निम्न है—बुध (Mercury), शुक्र (Venus), पृथ्वी (Earth), मंगल (Mars), अवान्तर (Asteroids), बृहस्पति (Jupiter), शनि (Saturn), अरुण (Uranus), वरुण (Neptune) और कुबेर (Pluto) । इन ग्रहों के उपग्रहों की सख्या इस प्रकार है । पृथ्वी के एक, मगल के दो, बृहस्पति और शनि के नौ-नौ, अरुण के चार, और वरुण के एक ।

ग्रह का नाम	सूर्य से औसत दूरी (मीलों में)	औसत व्यास (मीलों में)	परिक्रमा का समय (वर्षों में)	उपग्रहों की संख्या
बुध (Mercury)	३,६०,००,०००	३,०३०	०.२२	०
शुक्र (Venus)	६,७२,००,०००	७ ७००	०.६२	०
पृथ्वी (Earth)	९,२९,००,०००	७,९१८	१.००	१
मगल (Mars)	१४,१५,००,०००	४,२३०	१ ८८	२
बृहस्पति (Jupiter)	४८,३२,००,०००	८६,५००	११ ८६	९
शनि (Saturn)	८८,५९,००,०००	७३,०००	२९.४६	९
अरुण (Uranus)	१,७८,२२,००,०००	३१,९००	८४.०२	४
वरुण (Neptune)	२,७९,१६,००,०००	३४,८००	१६४.७८	१
कुबेर (Pluto)	३,७०,००,००,०००	३,६०५	२५०.००	अज्ञात

५. सूर्य—सौरमण्डल के प्रकाश और गर्मी का मूल स्रोत सूर्य ही है। यदि सूर्य न हो तो हमारे वायु-मण्डल की सम्पूर्ण भाप दो दिन में ठंडी होकर पानी या बर्फ के रूप में बदल जायगी और फिर इतनी ठंड पड़ेगी कि (अधिक-से-अधिक) तीन दिन के बाद चराचर जगत में कोई जीवित न बचेगा। सूर्य का आकार भी अत्यन्त विशाल है। इसका व्यास ८,६०,००० मील के लगभग है। यह व्यास हमारी पृथ्वी के व्यास से १०९ गुना बडा है। सूर्य में से तेरह लाख पृथ्वियाँ बन सकती हैं। विशाल आकार के कारण सूर्य की आकर्षण शक्ति भी अद्‌भुत है। पृथ्वी पर डेढ़ मन भारी आदमी सूर्य पर ४२ मन का हो जायगा अर्थात् सूर्य की आकर्षण शक्ति पृथ्वी की शक्ति से



चित्र २. सौरमण्डल के सदस्य अपने-अपने आकार के अनुसार

२८ गुना अधिक है। इन महान आकर्षण के कारण ही समस्त ग्रह अपने-अपने परिक्रमा-मार्ग या कक्ष (Orbits) में टिके हुए हैं। ऐसी महान शक्ति के अभाव में सौरमण्डल न जाने कब का नष्ट हो गया होता।

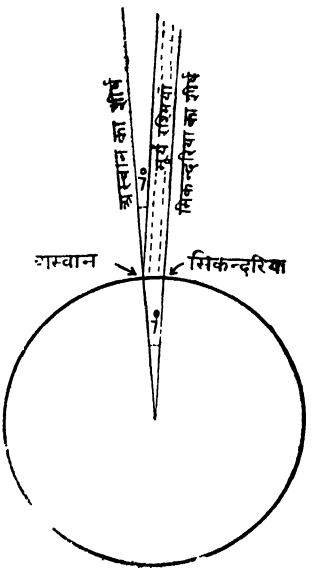
सूर्य का तापक्रम भी कल्पनातीत है। सूर्य के धरातल पर ही तापक्रम लगभग १०,००० फा० है। सूर्य के केन्द्र में न जाने कितनी प्रचण्ड गर्मी होगी। सूर्य के धरातल पर प्रति वर्ग इंच से ५४ अश्वबल (H. P.) की शक्ति निकलती रहती है। अधिक दूरी के कारण इस महान शक्ति का दो अरबवाँ भाग ही हमारी पृथ्वी को प्राप्त होता है। सूर्य पृथ्वी से लगभग ९ करोड़ ३० लाख मील दूर है। यदि हम ६० मील प्रति घण्टा की चाल से दिन रात सूर्य की ओर चलते रहें तो १७६ वर्षों में वहाँ पहुँच सकेंगे।

पहले लोगों का यह विचार था कि सूर्य अपनी कीली पर नहीं घूमता। परन्तु सूर्य के धब्बों और उस पर उठने वाली लपटों के अध्ययन से पता चला है कि सूर्य अपनी कीली पर २७½ दिन में घूम जाता है। सूर्य के धब्बे पूर्व से पश्चिम की ओर

चलते हैं और बीच के धब्बे अधिक तेज चलते हैं। बहुत से लोगों ने सूर्य के धब्बों का सम्बन्ध पृथ्वी की घटनाओं से जोड़ने का प्रयत्न किया है। अमरीका के प्रो० मिचैल का मत है कि यह सम्बन्ध केवल कल्पना की उड़ान है।

६. पृथ्वी का आकार—एक समय था जब लोग पृथ्वी को चपटी समझते थे। परन्तु अब से हजारों वर्ष पहले ही लोग जान गये थे कि पृथ्वी गोल है। बारहवीं शताब्दी में भारत के प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य ने यह सिद्ध किया कि पृथ्वी गोल है और उसमें आकर्षण शक्ति है। आज तो यात्रा के अनेकों साधन सुलभ हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों ने न जाने कितनी बार सम्पूर्ण पृथ्वी तल को नाप डाला है।

पृथ्वी के आकार का पता सबसे पहले इराटस्थनीज नामक यूनानी विद्वान ने अब से २२०० वर्ष पहले ही लगा लिया था। यह विद्वान मिस्र देश में रहता था। एक दिन वह अस्वान शहर में था। दोपहर के समय उसने देखा कि सूर्य ठीक सिर पर है। अकस्मात ही उसे याद आई कि उसने एक वर्ष पहले ठीक इसी दिन सिकन्दरिया में सूर्य को दोपहर के समय ७ अंश झुका हुआ देखा था। उसने अस्वान और सिकन्दरिया के बीच की दूरी मालूम की तथा गणित की सहायता से पृथ्वी कि परिधि निकाल डाली। अस्वान से सिकन्दरिया ४८० मील दूर है। पृथ्वी गोल है, इसलिए उसके केन्द्र पर बने समस्त कोणों का योग ३६०° होना चाहिए। ७ अंश का अन्तर ४८० मील का पड़ता है।



चित्र ३.
पृथ्वी की परिधि नापना

अतः ३६० अंशों पर $\frac{४८० \times ३६०}{७}$ मील अर्थात् लगभग २५,००० मील का अन्तर होगा।

अतु, हमारी पृथ्वी एक विशाल गोला है। इसका व्यास ७९०० मील है। यदि हम अपनी तुलना आधा मील व्यास वाली एक विशालकाय गेंद पर रेंगने वाली मक्खी से करें, तो हमें पृथ्वी की विशालता का कुछ अनुमान हो सकता है। विद्वानों ने सारी पृथ्वी की अनेकों परिक्रमायें लगा कर यह सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी पूर्णतया गोल नहीं है। इसका आकार नारंगी से मिलता-जुलता है। यह ध्रुवों के पास कुछ चपटी है। भूमध्यरेखा के पास इसका व्यास ७९२६·६ मील है और ध्रुवीय व्यास ७८९९.९ मील है। अर्थात् दोनों व्यासों में २६·७ मील का अन्तर है। इस अन्तर का कारण

पृथ्वी की दैनिक गति है । अपनी कीली पर नाचते रहने के कारण भूमध्यरेखा के पास वाला भाग कुछ अधिक वडा हो गया है और ध्रुवों के आस-पास का भाग कुछ नीचे ठस गया है । फलतः, भूमध्यरेखा के पास पृथ्वी की परिधि २४९०२ मील है और ध्रुवीय परिधि २४८६० मील है । दोनों परिधियों में ४२ मील का अन्तर है । यदि हम एक वाल्टी मे पानी भर लें और उसमें हाथ डालकर पानी को घुमायें तो पृथ्वी के दोनों भागों का अन्तर साफ तौर से समझ में आ जावेगा ।

पृथ्वी से सम्पूर्ण धरातल का क्षेत्रफल १९,७०,०० ००० वर्ग मील है । धरातल का ७१ प्रतिशत भाग जलमग्न है और शेष २९ प्रतिशत स्थल भाग है । सम्पूर्ण धरातल पर लगभग ४०० मील मोटा एक वायव्य परत (Gaseous layer) चढ़ा हुआ है जिसे हम वायुमण्डल कहते है ।

पृथ्वी के इस विशाल पिण्ड का उसके केन्द्र पर कितना दबाव पडता होगा इसकी कल्पना भी हम नही कर सकते । केन्द्र के प्रत्येक वर्ग फुट स्थान पर लगभग ८ करोड़ मन बोझ लदा हुआ है । इस भार से केन्द्र कितना घनीभूत हो गया होगा इसका अनुमान लगाना भी अत्यन्त कठिन है ।

७. पृथ्वी का आधार—प्राचीन काल में ही पृथ्वी के आधार के बारे में बहुत-सी कल्पनाएँ की गयी थी । प्राचीन काल के लोगों की धारणा थी कि कोई न कोई विशाल जीव हमारी पृथ्वी को उठाये हुए है । अलग-अलग देशों के लोगों ने अपने वातावरण के अनुसार पृथ्वी के उठाने के लिए अलग-अलग जानवर ढूंढ निकाले । कहीं भैसा तो कही सूअर, कही कछुआ तो कही केकडा पृथ्वी के आधार मान लिये गये । हमारे भारत में भिन्न-भिन्न कालों मे भिन्न-भिन्न मत प्रचलित रहे । कुछ लोगों के मत से बाराह भगवान ने पृथ्वी को रसातल से निकालकर जल के ऊपर रख दिया था । दूसरे लोगों के मत से ब्रह्मा जी ने तप करके इस सृष्टि की रचना की और फिर शेषनाग को यह भार सौपा कि वह अपने फन पर पृथ्वी को उठाये रहे । कुछ लोगों के अनुसार दस दिशाओं में दस हाथी एक विशाल कछुये की पीठ पर खड़े होकर अपनी पीठ पर पृथ्वी के छोरो को उठाये हुए है । ये सभी कल्पनायें बड़ी मनोरंजक हैं ।

आधुनिक विज्ञान ने पृथ्वी के आधार की समस्या को सुलझा दिया है । हम नित्य प्रति देखते है कि हम पृथ्वी से बँधे हुए है । कोई अदृश्य शक्ति प्रत्येक वस्तु को पृथ्वी की ओर खीच रही है । न्यूटन नामक वैज्ञानिक ने इस शक्ति का नाम गुरुत्वाकर्षण शक्ति रक्खा । न्यूटन के मत से विश्व के प्रत्येक कण में आकर्षण शक्ति है । अनन्त ब्रह्माण्ड का प्रत्येक पदार्थ अन्य सभी पदार्थो को अपनी ओर खींच रहा है । **परस्पर एक दूसरे को खींचने की यह शक्ति वस्तुओं के भार और**

उनके बीच की दूरी पर निर्भर है । पदार्थ जितना अधिक भारी होगा, उसकी आकर्षण शक्ति भी उतनी ही अधिक होगी । दो पदार्थों के बीच की दूरी जितनी अधिक होगी, आकर्षण शक्ति भी उतनी ही कम होती जायगी ।

हमारी पृथ्वी बहुत विशाल पदार्थ-पिण्ड है । अतः इसकी आकर्षण शक्ति भी अधिक है । पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से ही जलमण्डल और वायुमण्डल पृथ्वी पर टिके हुए हैं । यदि पृथ्वी का आकर्षण एक क्षण के लिए भी बन्द हो जाये, तो पृथ्वी का समस्त जल और वायु न जाने किस दिशा में विलीन हो जाये । पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण कभी-कभी छोटे-मोटे ग्रह पृथ्वी की ओर खिचे चले आते हैं, वायुमण्डल की रगड से इनमे आग लग जाती है और हमें प्रकाश की रेखा-सी खिचती हुई दिखाई पडती है । आप पूछ सकते है कि वायुमण्डल की रगड़ इतनी भयकर क्यों है ? शायद आपको ज्ञात होगा कि पृथ्वी ६०,००० मील प्रति घण्टे की भयकर गति से सूर्य के चारो ओर दौड रही है । पृथ्वी के साथ ही वायुमण्डल भी इसी गति से दौड़ रहा है । इस प्रचण्ड गति के कारण प्रत्येक बाहरी पदार्थ का वायुमण्डल से रगड़ खाना स्वाभाविक है ।

इसी अद्‌भुत आकर्षण शक्ति के कारण सौरमण्डल के सम्पूर्ण ग्रह टिके हुए है । हम सूर्य के विशाल आकार का वर्णन कर चुके है । इस विशाल आकार के कारण सूर्य अपने परिवार के सदस्यों को अपनी ओर खींचता है । इसी आकर्षण शक्ति के प्रभाव से सभी ग्रह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते है । यदि सूर्य की आकर्षण शक्ति कुछ कम हो जाय, तो ग्रहों की उसके चारों ओर चक्कर काटने की गति भी कम हो जायगी ।

इस प्रकार हम देखते है कि सूर्य और उसके सदस्य ग्रहो की आकर्षण शक्ति के कारण ही सौरमण्डल आकाश मे टिका हुआ है । सौरमण्डल ही क्या इस अखिल ब्रह्माण्ड के असख्य नक्षत्रमण्डल अपनी-अपनी आकर्षण शक्ति के कारण ही टिके हुए है । आकर्षण के समाप्त होते ही सारा ब्रह्माण्ड समाप्त हो जायगा । प्रकृति-नटी के खेल मे सूक्ष्म नियम व्याप्त है । इन नियमों के कारण प्रकृति का खेल सुचारू रूप से चलता रहता है । प्रकृति के ये नियम मनुष्य के लिये रहस्यमय है । मनुष्य अनादि काल से इन नियमो को समझने का प्रयत्न करता आया है । इन नियमो का जितना अधिक रहस्य वह जान पाता है, उतना ही प्रकृति का खेल उसकी समझ में आता जाता है । इन्ही नियमों को जानकर मनुष्य ने अभूतपूर्व उन्नति की है ।

पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति से ही मनुष्य का दिशा और भार सम्बन्धी ज्ञान

विकसित हुआ। प्रत्येक पदार्थ का भार आकर्षण-शक्ति ही निश्चित करती है। इसी शक्ति के द्वारा सीस रेखा (Plumb line) ठीक लम्ब रूप में स्थिर हो जाती है।

प्रश्न

1 Trace the evolution of ideas concerning the origin of the earth. Discuss the recent theory in detail.
(*Ban. M Sc. Geology, 1940*)

2. What are the defects of Laplace's hypothesis of the origin of Solar System ? Give an account of 'Tidal Theory' and explain its merits, (*Ban M. Sc. Geol 1936*)

3. Discuss the Principal theories regarding the origin of the earth. (*Ban. M Sc. Geology, 1961*)

4. Describe the Solar System With the help of a diagram show the main members of the Solar System.

दूसरा अध्याय

पृथ्वी के सौर-सम्बन्ध

(Planetary Relations of the Earth)

८. महत्त्व—हमारी पृथ्वी का सूर्य और चन्द्रमा से विशेष सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध हमारे लिए बहुत महत्त्व का है क्योंकि इसी सम्बन्ध के कारण हमारे जीवन पर विशेष प्रभाव डालने वाली बहुत सी घटनाएँ घटित होती हैं। उदाहरण के लिए दिन रात का होना, ऋतुएँ बदलना, ज्वार-भाटा आना तथा ग्रहण आदि अनेक घटनाएँ इन सम्बन्धों के प्रत्यक्ष परिणाम हैं। जल-वायु और उससे पैदा होने वाली विशेषताएँ इन सम्बन्धों से अप्रत्यक्ष फल हैं। अतः प्राकृतिक वातावरण (Natural Environment) को ठीक रूप से समझने के लिए इन सम्बन्धों की जानकारी परमावश्यक है।

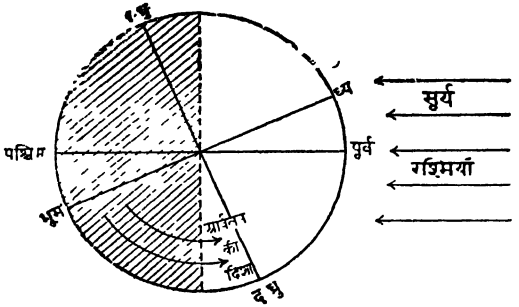
पृथ्वी की गतियाँ (Movements of the Earth)

९. पृथ्वी की दो गतियाँ—सूर्य, चन्द्रमा आदि तारे हमें क्षितिज के एक ओर से उदय होकर दूसरी दिशा में अस्त होते दिखाई देते हैं। आकाश में यह परिवर्तन नित्य नियमित रूप से होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि (१) या तो पृथ्वी स्थिर है और सूर्य आदि उसकी परिक्रमा करते हैं; अथवा (२) सूर्य और तारे स्थिर हैं और हमारी पृथ्वी ही चक्कर लगाती है। प्राचीन काल में लोगों का विश्वास था कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य आदि उसकी परिक्रमा करते हैं। किन्तु धीरे-धीरे निरीक्षण, कल्पना और तर्क के आधार पर कोपरनिकस, गेलिलियो प्रभृति विद्वानों ने यह नतीजा निकाला कि आकाश में जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं वे तभी संभव हो सकते हैं जब पृथ्वी की कम से कम दो भिन्न गतियाँ हों। आज तो उन विद्वानों के अनुमान अकाट्य प्रमाणों द्वारा प्रमाणित हो चुके हैं। अस्तु, पृथ्वी की दो गतियाँ हैं—(१) एक गति के अनुसार पृथ्वी अपनी धुरी पर लट्टू की तरह चक्कर काट रही है। इसे पृथ्वी की दैनिक गति कहा जाता है। (२) दूसरी गति के अनुसार पृथ्वी सूर्य के चारों ओर एक अण्डाकार मार्ग पर, जिसे पृथ्वी की कक्ष (Orbit) कहते हैं, घूमती रहती है। पृथ्वी की इस गति को उसकी वार्षिक गति कहते हैं।

१०. पृथ्वी की दैनिक गति या आवर्तन (Rotation)—हमारी पृथ्वी एक कल्पित धुरी के चारों ओर घूमती रहती है। पृथ्वी किसी धुरी या कीली या अक्ष (Axis) पर टिकी हुई नहीं है। सच तो यह है कि पृथ्वी अपनी जिस काल्पनिक रेखा के चारों ओर घूमती है उसी को धुरी कहा जाता है। धुरी के दोनों सिरों को ध्रुव

(Poles) कहते हैं। अपनी धुरी के चारों ओर निरन्तर घूमते रहने के कारण पृथ्वी ध्रुवो के समीप कुछ चपटी हो गई है और भूमध्यरेखा के पास कुछ ऊँची उठ गई है। इसलिए धुरी पृथ्वी का सबसे छोटा व्यास है।

पृथ्वी को अपनी कल्पित धुरी के चारों ओर पूरा एक चक्कर लगाने में जितना समय लगता है उसको एक दिन कहा जाता है। दिन को २४ भागों में बाँटते हैं और प्रत्येक भाग को एक घण्टा कहते हैं। गोलाई के कारण पृथ्वी का आधा भाग सूर्य के सामने रहता है। और शेष आधा भाग सूर्य की विपरीत दिशा में रहता है। जो भाग सूर्य के सामने रहता है उसमें दिन होता है और जो भाग सूर्य से ओझल रहता है उसमें रात रहती है। दिन रात विभाजित करने वाली रेखा को **प्रकाश-चक्र** (Circle of Illumination) कहते हैं। प्रत्येक स्थान दिन में दो बार प्रकाश-चक्र के पास पहुँचता है। इनमें प्रथम अवस्था को **प्रभात** और दूसरी दशा को **संध्या** कहते हैं।



चित्र ४

चित्र में बिन्दुदार रेखा प्रकाश-चक्र है। तीर द्वारा आवर्तन की दिशा बताई गई है। उ. ध्रु. और द. ध्रु. के बीच की रेखा पृथ्वी की धुरी है।

पृथ्वी के सभी भाग समान गति से नहीं घूमते। ध्रुवों के पास तो पृथ्वी की चाल बहुत धीमी होती है, किन्तु भूमध्यरेखा की ओर उसकी चाल बढ़ती जाती है। भूमध्यरेखा पर पृथ्वी की चाल सबसे अधिक है क्योंकि यहाँ पृथ्वी को २४ घण्टों में २५,००० मील का चक्कर काटना पड़ता है। पृथ्वी की दैनिक गति **पश्चिम से पूर्व** की ओर होती है।

११. दैनिक गति का प्रभाव—(१) पृथ्वी की दैनिक गति से दिन-रात होते हैं। पृथ्वी के गोले का आधा भाग सूर्य के सामने रहता है जिससे वहाँ प्रकाश रहता है। शेष आधे भाग में अँधेरा रहता है। प्रकाश वाले भाग में दिन और अँधेरे वाले भाग में रात होती है।

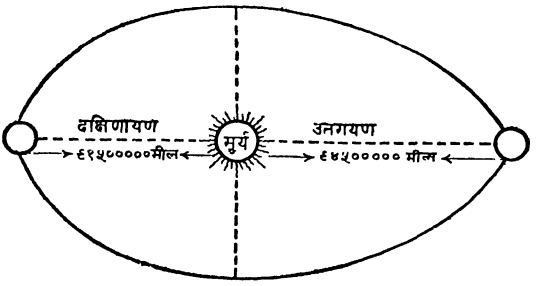
(२) इसी गति के कारण हमारे समय का विभाग होता है। जब एक स्थान पर सूर्य दिखाई देता है तो वहाँ प्रात.काल, सूर्य ठीक सिर पर आ जाने पर मध्याह्न काल और सूर्यास्त होने पर सायकाल होते है।

(३) इसी गति से हमे दिशाओ का ज्ञान होता है। पृथ्वी के पश्चिम से पूर्व की ओर घूमने के कारण हमें सूर्य पूर्व में निकलता हुआ प्रतीत होता है। क्षितिज में एक दिशा (सूर्योदय का स्थान अर्थात् पूर्व दिशा) निश्चित हो जाने पर क्षितिज को चार भागों में बाँट दिया गया और इस प्रकार चार मुख्य दिशाएँ ज्ञात हुई। चन्द्रमा और अन्य तारो के उदय और अस्त होने की दिशाएँ भी पहली दिशाओं के आधार पर निश्चित की जाती है।

(४) इसी गति से देशान्तरों का ज्ञान हुआ। पृथ्वी एक गोला है। गोले में ३६० अंश होते है। पृथ्वी २४ घण्टे मे ३६० अश घूमती है अर्थात् चार मिनट में एक अश। यदि भूमध्यरेखा को ३६० भागो में बाँट दें और प्रत्येक भाग को दोनों ध्रुवों से मिला दे, तो ३६० ऐसी रेखाएँ बन जायेंगी जिन पर प्रति ४ मिनट बाद सूर्योदय होता जायगा। इन्ही रेखाओ को देशान्तर रेखाएँ कहते है।

(५) पृथ्वी के एक विशेष दिशा मे घूमने के कारण हवाओ और धाराओ आदि के चलने की दिशा मे परिवर्तन हो जाता है। इसका वर्णन हवाओ के साथ किया जायगा।

१२. **पृथ्वी की वार्षिक गति** (Revolution)—अपनी धुरी पर घूमने के अतिरिक्त पृथ्वी की दूसरी गति भी है। पृथ्वी एक अण्डाकार मार्ग पर सूर्य के चारों ओर चक्कर काटती है। पृथ्वी की इस गति को उसकी वार्षिक गति कहते है। पृथ्वी जिस मार्ग से सूर्य के चारो ओर घूमती है उसे पृथ्वी की **कक्ष** या **परिभ्रमण-मार्ग** कहते है। पृथ्वी इस मार्ग से इधर-उधर नही भटक सकती। यह मार्ग गोल नही है किन्तु **अण्डाकार** (Elliptical) है। अण्डाकार आकृति (Ellipse) के दो केन्द्र हुआ करते है। पृथ्वी की कक्ष के भी दो केन्द्र है। सूर्य इनमे से एक केन्द्र पर स्थित है। इसका परिणाम यह होता है कि एक समय पृथ्वी सूर्य से अधिक दूर चली जाती है। इस स्थिति को **उत्तरायण** या सूर्य से अधिक दूर होना (Aphelion) कहते है। इस समय सूर्य और पृथ्वी के बीच की दूरी ९ करोड़ ४५ लाख मील होती है। उत्तरायण में सूर्य १८७ दिन रहता है। इस समय उत्तरी



चित्र ५. उत्तरायण और दक्षिणायन

गोलार्द्ध में गर्मी की ऋतु होती है। दूसरे समय पृथ्वी सूर्य के कुछ निकट पहुँच जाती है। इस स्थिति को **दक्षिणायन** या सूर्य की समीपता (Perihelion) कहते है। इस समय दोनो के बीच की दूरी ९ करोड १५ लाख मील होती है। इस में दशा सूर्य १७८ दिन रहता है। इस समय उत्तरी गोलार्द्ध में जाडा तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में गर्मी होती है। आम तौर पर गणना करने के लिए सूर्य और पृथ्वी के बीच की औसत दूरी ९ करोड़ ३० लाख मील ही प्रयोग की जाती है।

पृथ्वी और सूर्य के बीच की दूरी में घटा-बडी होते रहने से पृथ्वी की परिभ्रमण-गति (सूर्य के चारो ओर दौडने की चाल) भी घटती-बढती रहती है। जब पृथ्वी सूर्य से अधिक दूर रहती है, तो हमें सूर्य की चाल धीमी मालूम होती है।

पृथ्वी अनन्त आकाश (Space) में अपनी कक्ष पर बडी तेजी मे घूम रही है। इसकी औसत चाल ६०,००० मील प्रति घण्टा है। इस प्रचण्ड चाल के कारण पृथ्वी में सूर्य मे विपरीत दिशा मे भागने की शक्ति उत्पन्न होती है। यदि हम किसी धागे के एक सिरे पर पत्थर का टुकडा बाँधकर और धागे के दूसरे सिरे को पकड कर घुमावें, तो हमें इस प्रकार की शक्ति का स्पष्ट अनुभव होगा। इस शक्ति का नाम केन्द्रोन्मुखी शक्ति (Centrifugal force) है। सूर्य की आकर्षण-शक्ति पृथ्वी को अपनी ओर खीचती है, किन्तु केन्द्रोन्मुखी शक्ति उसे विपरीत दिशा मे ले जाती है। इन दोनो के सतुलन के कारण ही पृथ्वी अपनी कक्ष मे ही घूमती है और इधर-उधर भटक नही पाती।

सूर्य का एक पूरा चक्कर लगाने में पृथ्वी को जितना समय लगता है उसे वर्ष कहते है। सूर्य की एक परिक्रमा करने में पृथ्वी अपनी धुरी पर लगभग ३६५$\frac{१}{४}$ बार घूम जाती है। इसीलिए एक वर्ष में ३६५ दिन होते है और प्रति चौथे वर्ष साल मे ३६६ दिन होते है। इसे लौद की साल (Leap year) कहते है।

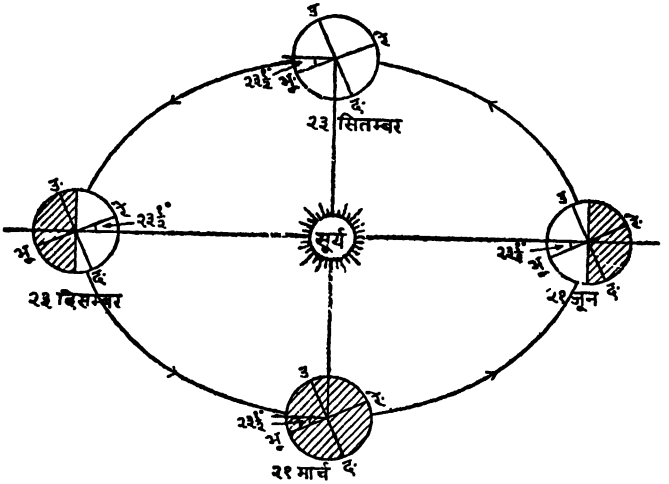
पृथ्वी की कक्ष के तल (Plane) को क्रान्तिमण्डल या कक्ष-तल (Plane of Orbit) कहते है। पृथ्वी की धुरी अपने कक्ष-तल पर सीधी स्थित नही है किन्तु उसके साथ ६६$\frac{१}{२}$ **अंश का कोण** बनाती है। सूर्य के चारो ओर घूमते समय पृथ्वी की धुरी सदैव एक ही तरफ को झुकी रहती है अर्थात् धुरी के झुकाव की दिशा कभी नही बदलती। दूसरे शब्दों में धुरी का झुकाव हमेशा इस प्रकार रहता है कि कक्ष-मार्ग में किसी भी स्थान पर धुरी की स्थिति अन्य सभी स्थितियों के समानान्तर होती है। धुरी का इस प्रकार झुका रहना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी के कारण दिन-रात छोटे बड़े होते है और ऋतुएँ बदलती है।

१३. पृथ्वी की वार्षिक गति का प्रभाव—(१) दिन-रात छोटे-बडे होना—यदि पृथ्वी की धुरी अपने कक्ष-तल (Plane of Orbit) पर समकोण बनाती तो

पृथ्वी की प्रत्येक अक्षांश का आधा भाग प्रकाश में और आधा अंधकार में रहता। फलतः, सर्वत्र दिन-रात बराबर होते। किन्तु धुरी के झुकाव के कारण ऐसा नहीं होता। २१ जून को सूर्य कर्क रेखा पर ठीक सिर के ऊपर होता है। इस दिन भूमध्यरेखा से उत्तरी ध्रुव की ओर प्रत्येक अक्षाश पर प्रकाश का भाग बढ़ता जाता है यहाँ तक कि उत्तरी ध्रुव-वृत्त से उत्तरी ध्रुव तक की अक्षांश रेखाओं पर २४ घण्टे प्रकाश रहता है। इसके विपरीत दक्षिणी ध्रुव की ओर अँधेरे का भाग बड़ा होता जाता है। अन्त में दक्षिणी ध्रुव-वृत्त पर चौबीसों घण्टे अँधेरा रहता है। इस अवस्था को **ग्रीष्म सम्पात** (Summer Solstice) कहते हैं।

२३ दिसम्बर की अवस्था २१ जून से ठीक उलटी होती है। दक्षिणी ध्रुव वृत्त के दक्षिण में सभी अक्षाशों पर चौबीसो घण्टो तक प्रकाश रहता है तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दिन बडे और राते छोटी होती हैं। इस अवस्था को **शरद-सम्पात** (Winter Solstice) कहते हैं।

(२) वार्षिक गति का मुख्य परिणाम ऋतुओं का बदलना है—दिये हुए चित्र को ध्यान से देखो। इसमें पृथ्वी की चार स्थितियाँ दिखायी गयी हैं। २१ जून को सूर्य कर्क रेखा पर ठीक सिर पर है। अतः किरणें लम्बवत् पड़ रही है और उत्तरी



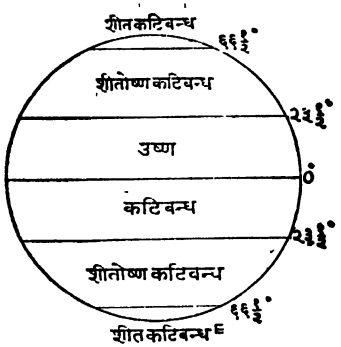
चित्र ६. पृथ्वी की वार्षिक गति और ऋतुएँ बदलना

गोलार्द्ध में गर्मी की ऋतु है। २३ दिसम्बर को दक्षिणी गोलार्द्ध सूर्य के सामने है। अब सूर्य की किरणें दक्षिणी ध्रुव से २३½ अश आगे तक पहुँच रही हैं, किन्तु उत्तरी ध्रुव तक पहुँच भी नहीं पाती। सूर्य की किरणें इस समय उत्तरी ध्रुव से २३½° दूर

ही रह जाती हैं। अतः दक्षिणी गोलार्द्ध में गर्मी और उत्तरी गोलार्द्ध में जाड़े की ऋतु होती है।

२१ मार्च और २१ सितम्बर को पृथ्वी का कोई भाग सूर्य की ओर झुका हुआ नहीं होता है। सूर्य इस समय भूमध्यरेखा पर सीधा चमकता है और किरणें दोनों ध्रुवों तक पहुँच जाती हैं। इस समय प्रत्येक अक्षांश का आधा भाग प्रकाश में है जिससे समस्त भूमण्डल पर दिन-रात बराबर होते हैं। इस अवस्था को **समाहर्निश** (Equinox) कहते हैं। २१ मार्च को **बसन्त समाहर्निश** और २३ सितम्बर को **शरद समाहर्निश** होती है।

(३) वार्षिक गति से अक्षांश और कटिबन्ध बने—धुरी के झुकाव के कारण हमें भूमध्यरेखा तथा चार मुख्य अक्षांश रेखायें प्राप्त होती हैं। २१ मार्च और २३ सितम्बर को सूर्य जहाँ सीधा सिर पर होता है वहाँ भूमध्यरेखा होती है। २१ जून को जहाँ सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं वहाँ कर्क-रेखा ($२३\frac{१}{२}°$) उत्तर तथा उत्तरी ध्रुव को पार कर जहाँ तक किरणें पहुँचें उसको उत्तरी ध्रुव-वृत्त ($६६\frac{१}{२}°$) कहते हैं। इसी प्रकार २२ दिसम्बर को मकर-रेखा और दक्षिणी ध्रुव-वृत्त मिले। अब कर्क और मकर अयन-रेखाओं के बीच में उष्ण कटिबन्ध; अयन रेखाओं (Tropics) और ध्रुव-वृत्तों (Arctic and Antarctic Circles) के बीच शीतोष्ण कटिबन्ध; तथा ध्रुव-वृत्तों और ध्रुवों के बीच शीत कटिबन्ध होता है।



चित्र ७. कटिबन्ध

अक्षांश रेखाएँ (Latitudes)

१४. अक्षांश क्या है—पृथ्वी के किसी स्थान की स्थिति जानने के लिए हमें भूमध्यरेखा से उसकी दूरी जाननी चाहिए। यह दूरी अक्षांश रेखाओं द्वारा नापी जाती है। हम जानते हैं कि पृथ्वी एक गोला है और एक गोले में ३६० अंश होते हैं। भूमध्यरेखा से उत्तरी ध्रुव तक चौथाई वृत्त हुआ अर्थात् ९० अंश हुए। इसी तरह भूमध्यरेखा से दक्षिणी ध्रुव तक भी ९० अंश हुए। यही कारण है कि उत्तरी ध्रुव का अक्षांश ९०° उत्तर और दक्षिणी ध्रुव का ९०° दक्षिण होता है। यदि भूमध्यरेखा और उत्तरी ध्रुव के ठीक बीच में एक रेखा भूमध्यरेखा के समानान्तर खींच दी जाए, तो वह ४५° उत्तरी अक्षांश रेखा होगी। इसी प्रकार भूमध्यरेखा के उत्तर और दक्षिण ९०-९० रेखाएँ खिंच सकती हैं इन रेखाओं को अक्षांश रेखायें कहते हैं। क्योंकि पृथ्वी की परिधि २५००० मील है, अतः चौथाई परिधि लगभग ६२५० मील हुई अर्थात्

९० अक्षांशों में ६२५० मील हुए और १ अक्षांश में ६९ मील हुए।

१५. सूर्य की ऊँचाई और अक्षांश—हम पढ़ चुके हैं कि २१ मार्च और २३ सितम्बर को सूर्य भूमध्यरेखा पर सीधा चमकता है। इन दोनों दिन दोपहर के समय सूर्य भूमध्यरेखा पर ठीक सिर पर रहता है। भूमध्यरेखा से हम जितने अंश उत्तर या दक्षिण को जावेंगे, सूर्य ठीक सिर के ऊपर (शीर्ष) से उतने ही अंश नीचे झुका हुआ दिखाई देगा। यदि कोई मनुष्य २१ मार्च या २३ सितम्बर को दोपहर के समय सूर्य को ठीक सिर पर नहीं देखता, किन्तु १०° नीचे को झुका हुआ देखता है, तो वह १०° अक्षांश पर खड़ा है। क्षितिज से सूर्य की ऊँचाई सैक्सटेन्ट (Sextent) यन्त्र द्वारा नापी जाती है। ९०° में से इस ऊँचाई को घटा देने से सूर्य का झुकाव निकल आता है और यही उस स्थान का अक्षांश होता है।

परन्तु सूर्य सदैव भूमध्यरेखा पर नहीं रहता किन्तु उत्तर या दक्षिण की ओर जाता रहता है। २१ जून को सूर्य कर्क-रेखा (२३½° उत्तर) पर ठीक सिर पर चमकता है। अतः २१ जून को उत्तरी गोलार्द्ध के स्थानो पर सूर्य २१ मार्च की अपेक्षा २३½ अंश अधिक ऊँचा होगा और दक्षिणी गोलार्द्ध के स्थानों पर २३½ अंश नीचा रह जायगा। उदाहरण के लिए यदि तुम उत्तरी गोलार्द्ध के किसी स्थान पर सूर्य को क्षितिज से ५३½° ऊँचा देखते हो, तो ५३½ में से २३½ घटाने पर ३०° रहे जो २१ मार्च को सूर्य की ऊँचाई होती। इस ऊँचाई को ९०° में से घटाने पर सूर्य का शीर्ष से झुकाव या उस स्थान का अक्षांश मालूम होता है। इस तरह घटाने पर ज्ञात हुआ कि तुम (९०—३०) अर्थात् ६० उत्तरी अक्षांश पर खड़े हो। इसी दिन दक्षिणी गोलार्द्ध में खड़े होकर यदि तुम सूर्य की ऊँचाई २१½° नापते हो, तो इसमें २३½° जोड़ने पर ४५° हुए। यह ऊँचाई २१ मार्च को होती। अब ९०° में से घटाने पर पता चला कि शीर्ष से सूर्य का झुकाव ४५° है और यही उस स्थान का अक्षांश (४५° द.) निकला। २३ दिसम्बर को सूर्य मकर-रेखा पर सीधा चमकता है। अतः दक्षिणी गोलार्द्ध में सूर्य २१ मार्च की अपेक्षा २३½ अंश ऊँचा चमकेगा और उत्तरी गोलार्द्ध में २३½ अंश नीचा। इस दिन दक्षिणी गोलार्द्ध अक्षांश जानने के लिए सूर्य की ऊँचाई में से २३½ घटाकर उसे ९० में से घटाओ और उत्तरी गोलार्द्ध के लिए सूर्य की ऊँचाई में २३½ जोड़कर ९० में से घटाओ।

साल के अन्य दिनों में सूर्य किस अक्षांश पर ठीक सिर पर है यह जानना जरूरी है। कुछ जंत्रियों में यह लिखा रहता है कि सूर्य अमुक दिन किस अक्षांश पर है। इन जंत्रियों में भिटेकर की जंत्री (Whitaker Almanac) प्रसिद्ध है। इस अक्षांश को जानकर निम्न फारमूले का प्रयोग करो—

९०—(सूर्य की ऊँचाई ±सूर्य वाला अक्षांश)

यहाँ पर हमें याद रखना चाहिए कि जिस गोलार्द्ध में हम खड़े है उसी में सूर्य सीधा चमक रहा हो, तो सूर्य की ऊँचाई में से सूर्य वाला अक्षांश घटेगा। परन्तु यदि सूर्य विपरीत गोलार्द्ध में है तो ऊँचाई में सूर्य वाला अक्षांश जुडेगा।

देशान्तर रेखाएँ (Longitudes)

१६. देशान्तर रेखायें क्या हैं—किसी स्थान की स्थिति जानने के लिए अक्षांश ही पर्याप्त नही है। मान लीजिए कोई स्थान १५° उत्तरी अक्षांश पर है। उसे ढूँढ़ने के लिए १५° अक्षाश वृत्त के सहारे-सहारे ग्लोब का पूरा चक्कर काटना पड़ेगा। अतः स्थिति को जानने के लिए उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक रेखायें होनी चाहिएँ। एक गोले में ३६० अश होते है। अस्तु, भूमध्यरेखा के ३६० भाग करके प्रत्येक भाग को उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव से मिला दिया जाय, तो ३६० रेखायें बन जायेंगी। इन रेखाओं को देशान्तर रेखायें कहते है। एक देशान्तर रेखा पर जितने स्थान होते हैं उन सभी पर एक साथ ही मध्याह्न (दोपहर) होता है। अतः देशान्तर रेखाओं को मध्याह्न रेखायें (Meridians) भी कहते है। लन्दन के पास ग्रीनविच (Greenwich) होती हुई जो देशान्तर है उसे प्रधान देशान्तर कहते हैं। इस देशान्तर के पूर्व में १८० अंश तक पूर्वी देशान्तर और पश्चिम में पश्चिमी देशान्तर कहे जाते हैं। १८०° पूर्वी और पश्चिमी देशान्तर रेखा एक ही है।

जिस प्रकार दो अक्षांश रेखाओं के बीच की दूरी सर्वत्र बराबर होती है उस तरह दो देशान्तर रेखाओं के बीच की दूरी सब जगह बरावर नहीं होती। भूमध्यरेखा की लम्बाई २५,००० मील है इसलिए भूमध्यरेखा पर देशान्तर के एक अंश में २५०००÷३६०=६९ मील होते है। किन्तु भूमध्यरेखा से ध्रुवों तक अक्षांशों की लम्बाई घटती जाती है, अतः देशान्तर के एक अंश में मीलो की सख्या भी घटती जाती है। उदाहरण के लिए ६०° अक्षांश की परिधि १२,५०० मील ही है। अतः यहाँ देशान्तर के एक अंश में १२५००÷३६०=३४$\frac{1}{2}$ मील ही होंगे। तुम स्वयं किसी अक्षांश की परिधि जानकर वहाँ पर देशान्तर के एक अंश मे मील निकाल सकते हो।

१७. देशान्तर और समय—हमारी पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूम रही है अतः प्रत्येक देशान्तर बारी-बारी से सूर्य के सामने पड़ता है। प्रत्येक देशान्तर पर एक साथ मध्याह्न होने के कारण देशान्तर रेखाओं को मध्याह्न रेखायें भी कहते है। ३६० देशान्तर रेखाओं पर २४ घंटे का अन्तर है, इसलिए दो स्थानों में १५ अंश देशान्तर का अन्तर होने पर दोनों के समय में एक घण्टे का अन्तर होगा और १ अंश के अन्तर पर ४ मिनट का अन्तर पड़ेगा।

क्योंकि पृथ्वी पश्चिम में पूर्व की ओर घूम रही है, अतः जो स्थान पूर्व की ओर

९० अक्षांशों में ६२५० मील हुए और १ अक्षांश में ६९ मील हुए।

१५. सूर्य की ऊँचाई और अक्षांश—हम पढ़ चुके हैं कि २१ मार्च और २३ सितम्बर को सूर्य भूमध्यरेखा पर सीधा चमकता है। इन दोनों दिन दोपहर के समय सूर्य भूमध्यरेखा पर ठीक सिर पर रहता है। भूमध्यरेखा से हम जितने अंश उत्तर या दक्षिण को जावेंगे, सूर्य ठीक सिर के ऊपर (शीर्ष) से उतने ही अंश नीचे झुका हुआ दिखाई देगा। यदि कोई मनुष्य २१ मार्च या २३ सितम्बर को दोपहर के समय सूर्य को ठीक सिर पर नहीं देखता, किन्तु १०° नीचे को झुका हुआ देखता है, तो वह १०° अक्षांश पर खड़ा है। क्षितिज से सूर्य की ऊँचाई सैक्सटेन्ट (Sextent) यन्त्र द्वारा नापी जाती है। ९०° में से इस ऊँचाई को घटा देने से सूर्य का झुकाव निकल आता है और यही उस स्थान का अक्षांश होता है।

परन्तु सूर्य सदैव भूमध्यरेखा पर नहीं रहता किन्तु उत्तर या दक्षिण की ओर जाता रहता है। २१ जून को सूर्य कर्क-रेखा (२३½° उत्तर) पर ठीक सिर पर चमकता है। अतः २१ जून को उत्तरी गोलार्द्ध के स्थानों पर सूर्य २१ मार्च की अपेक्षा २३½ अंश अधिक ऊँचा होगा और दक्षिणी गोलार्द्ध के स्थानों पर २३½ अंश नीचा रह जायगा। उदाहरण के लिए यदि तुम उत्तरी गोलार्द्ध के किसी स्थान पर सूर्य को क्षितिज से ५३½° ऊँचा देखते हो, तो ५३½ में से २३½ घटाने पर ३०° रहे जो २१ मार्च को सूर्य की ऊँचाई होती। इस ऊँचाई को ९०° में से घटाने पर सूर्य का शीर्ष से झुकाव या उस स्थान का अक्षांश मालूम होता है। इस तरह घटाने पर ज्ञात हुआ कि तुम (९०—३०) अर्थात् ६० उत्तरी अक्षांश पर खड़े हो। इसी दिन दक्षिणी गोलार्द्ध में खड़े होकर यदि तुम सूर्य की ऊँचाई २१½° नापते हो, तो इसमें २३½° जोड़ने पर ४५° हुए। यह ऊँचाई २१ मार्च को होती। अब ९०° में से घटाने पर पता चला कि शीर्ष से सूर्य का झुकाव ४५° है और यही उस स्थान का अक्षांश (४५° द.) निकला। २३ दिसम्बर को सूर्य मकर-रेखा पर सीधा चमकता है। अतः दक्षिणी गोलार्द्ध में सूर्य २१ मार्च की अपेक्षा २३½ अंश ऊँचा चमकेगा और उत्तरी गोलार्द्ध में २३½ अंश नीचा। इस दिन दक्षिणी गोलार्द्ध अक्षांश जानने के लिए सूर्य की ऊँचाई में से २३½ घटाकर उसे ९० में से घटाओ और उत्तरी गोलार्द्ध के लिए सूर्य की ऊँचाई में २३½ जोड़कर ९० में से घटाओ।

साल के अन्य दिनों में सूर्य किस अक्षांश पर ठीक सिर पर है यह जानना जरूरी है। कुछ जंत्रियों में यह लिखा रहता है कि सूर्य अमुक दिन किस अक्षांश पर है। इन जंत्रियों में भिटेकर की जंत्री (Whitaker Almanac) प्रसिद्ध है। इस अक्षांश को जानकर निम्न फारमूले का प्रयोग करो—

९०—(सूर्य की ऊँचाई ±सूर्य वाला अक्षांश)

यहाँ पर हमें याद रखना चाहिए कि जिस गोलार्द्ध में हम खडे है उसी में सूर्य सीधा चमक रहा हो, तो सूर्य की ऊँचाई में से सूर्य वाला अक्षांश घटेगा। परन्तु यदि सूर्य विपरीत गोलार्द्ध में है तो ऊँचाई में सूर्य वाला अक्षाश जुडेगा।

देशान्तर रेखाएँ (Longitudes)

१६. देशान्तर रेखायें क्या हैं—किसी स्थान की स्थिति जानने के लिए अक्षाश ही पर्याप्त नही है। मान लीजिए कोई स्थान १५° उत्तरी अक्षांश पर है। उसे ढूँढने के लिए १५° अक्षांश वृत्त के सहारे-सहारे ग्लोब का पूरा चक्कर काटना पड़ेगा। अतः स्थिति को जानने के लिए उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक रेखायें होनी चाहिएँ। एक गोले मे ३६० अश होते है। अस्तु, भूमध्यरेखा के ३६० भाग करके प्रत्येक भाग को उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव से मिला दिया जाय, तो ३६० रेखायें बन जायँगी। इन रेखाओं को देशान्तर रेखायें कहते है। एक देशान्तर रेखा पर जितने स्थान होते हैं उन सभी पर एक साथ ही मध्याह्न (दोपहर) होता है। अतः देशान्तर रेखाओं को मध्याह्न रेखायें (Meridians) भी कहते है। लन्दन के पास ग्रीनविच (Greenwich) होती हुई जो देशान्तर है उसे प्रधान देशान्तर कहते है। इस देशान्तर के पूर्व में १८० अंश तक पूर्वी देशान्तर और पश्चिम में पश्चिमी देशान्तर कहे जाते है। १८०° पूर्वी और पश्चिमी देशान्तर रेखा एक ही है।

जिस प्रकार दो अक्षांश रेखाओं के बीच की दूरी सर्वत्र बराबर होती है उस तरह दो देशान्तर रेखाओं के बीच की दूरी सब जगह बराबर नहीं होती। भूमध्यरेखा की लम्बाई २५,००० मील है इसलिए भूमध्यरेखा पर देशान्तर के एक अंश में २५०००÷३६०=६९ मील होते हैं। किन्तु भूमध्यरेखा से ध्रुवों तक अक्षांशों की लम्बाई घटती जाती है, अतः देशान्तर के एक अंश में मीलो की सख्या भी घटती जाती है। उदाहरण के लिए ६०° अक्षांश की परिधि १२,५०० मील ही है। अतः यहाँ देशान्तर के एक अंश में १२५००÷३६०=३४$\frac{१}{२}$ मील ही होगे। तुम स्वयं किसी अक्षांश की परिधि जानकर वहाँ पर देशान्तर के एक अंश में मील निकाल सकते हो।

१७. देशान्तर और समय—हमारी पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूम रही है अतः प्रत्येक देशान्तर बारी-बारी से सूर्य के सामने पड़ता है। प्रत्येक देशान्तर पर एक साथ मध्याह्न होने के कारण देशान्तर रेखाओं को मध्याह्न रेखायें भी कहते है। ३६० देशान्तर रेखाओं पर २४ घंटे का अन्तर है, इसलिए दो स्थानों में १५ अंश देशान्तर का अन्तर होने पर दोनों के समय में एक घण्टे का अन्तर होगा और १ अंश के अन्तर पर ४ मिनट का अन्तर पड़ेगा।

क्योंकि पृथ्वी पश्चिम में पूर्व की ओर घूम रही है, अतः जो स्थान पूर्व की ओर

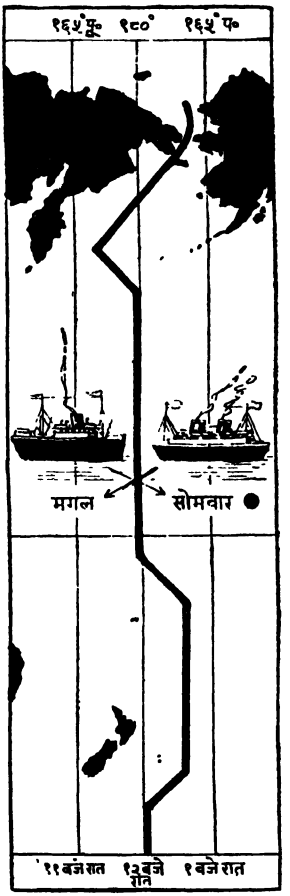
है वहाँ सूर्य पहले निकलेगा। मद्रास ८०° पू० देशान्तर पर है। मान लीजिए वहाँ इस समय सुबह के ६ बजे हैं और अरब सागर में हमारे एक जहाज के कप्तान की घड़ी में अभी ५ ही बजे हैं अर्थात् वहाँ पर अभी सूर्य निकलने में १ घण्टा बाकी है। अतः हमने जान लिया कि कप्तान मद्रास से १५° पश्चिम की ओर है अर्थात् कप्तान का देशान्तर ६५° पू० है। इसी प्रकार मान लीजिए जिस समय मद्रास में दोपहर के १२ बजे हैं उसी समय एक कप्तान सूचित करता है कि उसके जहाज पर अभी सूर्य अस्त हुआ है और घड़ी में शाम के ६ बजे हैं। निश्चित है कि वह जहाज मद्रास से ६ × १५ = ९० अंश पूर्व में है अर्थात् उसका देशान्तर ८० + ९० = १७०° पूर्व है।

१८. **देशान्तर और प्रामाणिक समय** (Longitudes and Standard Time)—प्रत्येक स्थान पर अपने देशान्तर के अनुसार जो समय होता है उसे वहाँ का स्थानीय समय (Local Time) कहते हैं। धूप घड़ी इस को ठीक-ठीक बताती है। परन्तु यदि कोई मनुष्य पूर्व या पश्चिम की ओर यात्रा करे तो उसे प्रत्येक देशान्तर के बाद अपनी घडी को ४ मिनट आगे या पीछे करना पड़ेगा जैसा कि बताया जा चुका है, ६०° अक्षांश पर देशान्तर के एक अंश में ३४½ मील ही होते हैं। वहाँ पर ४५० मील चलने के बाद घड़ी में पौन घण्टे का अन्तर पड जायगा। यदि प्रत्येक स्थान पर स्थानीय समय ही लिया जाय, तो रेल, तार आदि कार्यों में बाधा उपस्थित हो। इसलिए प्रत्येक देश में एक प्रमाणित देशान्तर मान ली जाती है और उसका स्थानीय समय ही देश भर का प्रामाणिक समय (Standard Time) माना जाता है। ग्रीनविच का स्थानीय समय सारे ब्रिटेन में प्रामाणिक समय माना जाता है। भारत में ८२½ पू० दे० का समय ही प्रामाणिक समय माना जाता है।

१९. **समय-कटिबन्ध या काल-क्षेत्र** (Time Zones)—कोई-कोई देश इतने बड़े हैं कि उनमें एक प्रामाणिक समय पर्याप्त नहीं होता। कनाडा और सयुक्त राष्ट्र जैसे देशों में कुछ स्थानों के स्थानीय समय में ४-५ घण्टे का अन्तर पड़ जाता है। समुद्री जहाजों को भी प्रत्येक स्थान का स्थानीय समय रखने में बड़ी कठिनाई होती है। इन असुविधाओं के कारण समस्त भूमण्डल को २४ काल-क्षेत्रों (Time Zones) में बाँट दिया गया है। प्रत्येक क्षेत्र में एक ही प्रामाणिक समय (Standard Time) रहता है। इन कालक्षेत्रों में एक-एक घण्टे का अन्तर रहता है। क्योंकि गोले में ३६० अंश होते हैं, अतः प्रत्येक काल-क्षेत्र में १५ देशान्तर होते हैं। कनाडा के लोगों ने अपने देश को ५ क्षेत्रों में बाँटा है, और उनमें ६०°, ७५°, ९०°, १०५° और १२०° प० देशान्तर रेखाओं का समय ही प्रामाणिक समय माना जाता है। यूरोप के निवासियों ने अपने महाद्वीप को ३ क्षेत्रों में बाँटा है, और प्रत्येक क्षेत्र में ग्रीनविच के समय से

१-१ घण्टे का अन्तर कर दिया है।

२०. **अन्तर्राष्ट्रीय तिथि-रेखा** (International Date Line)—प्रत्येक नया दिन पूर्व दिशा में किसी-न-किसी स्थान से प्रारंभ होता है। परन्तु यह पूर्व कहाँ पर है इसका कोई ठिकाना नहीं। हम चाहे जिस स्थान से पृथ्वी पर दिन का प्रारंभ मान सकते है। अस्तु, हमें एक ऐसी रेखा माननी पडेगी जहाँ से नया दिन प्रारम्भ होता हो। लोगों ने यह रेखा १८०° देशान्तर पर होती हुई मान ली है।



चित्र ८.
अन्तर्राष्ट्रीय तिथि-रेखा

मान लो ग्रीनविच (०° देशान्तर) पर मंगलवार ११ दिसम्बर को दोपहर के ठीक १२ बजे है तो १६५° पूर्वी देशान्तर पर मंगलवार ११ दिसम्बर रात के ११ बजे होंगे और १६५° पश्चिमी देशान्तर पर सोमवार १० दिसम्बर को रात का १ बजा होगा। यदि हम १८०° देशान्तर का समय ज्ञात करें, १६५° पू० दे० के हिसाब से मगलवार ११ दिसम्बर की रात के १२ बजे होंगे और १६५° प० दे० के हिसाब से १० दिसम्बर सोमवार की रात के १२ बजे होंगे। इस गड़बड़ी से समुद्र में चलने वाले जहाजों को बड़ी कठिनाई होती है। १६०° प० दे० से १७०° दे० की ओर आने वाला जहाज अगले दिन को मंगल गिनेगा, जबकि वहाँ पर बुध का दिन होगा। इसी प्रकार १६५° पू० दे० से १८०° दे० की ओर चलने वाला जहाज अगले दिन को बुध समझेगा जब कि वहाँ मगल का दिन होगा।

इस गडबडी को दूर करने के लिए संयुक्त राष्ट्र के प्रो० डेविडसन ने विभिन्न देशों से लिखा-पढ़ी की। फिर सब की सम्मति से १८०° देशान्तर पर गुजरती हुई एक रेखा ऐसी मान ली जिसके दोनों ओर दो अलग अलग दिन रहते हैं। इस रेखा को अन्तर्राष्ट्रीय तिथि-रेखा कहते हैं। पूर्व से पश्चिम को जाता हुआ जहाज इस रेखा को पार करने पर एक दिन छोड़ देता है। उदाहरण के लिए, यदि

एक जहाज ४ जनवरी शुक्रवार को इस रेखा को पार करता है, तो वह ५ जनवरी शनिवार छोड़ देगा और अगला दिन ६ जनवरी रविवार होगा। इस जहाज की लाग बुक में ४ जनवरी शुक्रवार के बाद ६ जनवरी रविवार मिलेगा अर्थात् यह सप्ताह केवल ६ दिन का ही होगा। इसके विपरीत जब कोई जहाज पश्चिम से पूर्व की ओर जाते समय इस रेखा को पार करता है, तो दूसरे दिन भी पहले दिन को फिर गिनता है। जैसे ४ जनवरी शुक्रवार को इस रेखा को पार करने वाला जहाज अगले दिन को भी ४ जनवरी शुक्रवार ही फिर गिनेगा। जहाज की लाग बुक में ४ जनवरी शुक्रवार प्रथम और ४ जनवरी शुक्रवार द्वितीय लिखा जायगा। इस प्रकार यह सप्ताह ८ दिन का होगा।

इस रेखा को पार करते समय रविवार या अन्य छुट्टियों को न तो दोबारा गिना जाता है और न छोड़ा ही जाता है। पूर्व से पश्चिम को जाने वाला जहाज शनिवार को इस रेखा को पार करेगा, तो रविवार को नही छोडेगा बल्कि सोमवार को छोड़ेगा। पश्चिम से पूर्व को जाने वाला जहाज इस रेखा को रविवार को पार कर रहा है तो उसका अगला दिन सोमवार प्रथम होगा। उसके बाद सोमवार द्वितीय आयगा।

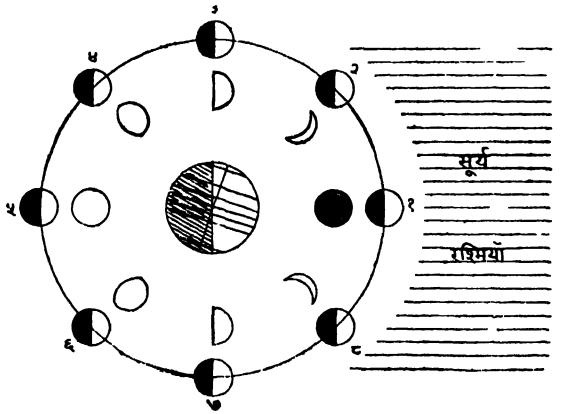
चन्द्रमा (Moon)

२१. परिचय—चन्द्रमा हमारी पृथ्वी का उपग्रह है। इसका व्यास लगभग २,१६० मील है जो हमारी पृथ्वी के व्यास का चौथाई के करीब होता है। पृथ्वी से इसकी औसत दूरी २ लाख ४० हजार मील है। यह एक अण्डाकार मार्ग पर पृथ्वी की परिक्रमा करता है और २७ दिन ७ घण्टे में पूरा एक चक्कर काट लेता है। परन्तु इतने समय में पृथ्वी अपनी कक्षा पर कुछ आगे निकल जाती है। इस बढ़े हुए मार्ग को पार करने में चन्द्रमा को कुछ समय और लगता है। इस प्रकार ठीक उसी स्थान पर पहुँचने में चन्द्रमा को लगभग २९½ दिन लगते हैं। इस समय को चान्द्रमास (चन्द्रमा का महीना) कहते हैं। पृथ्वी की परिक्रमा के साथ-ही-साथ चन्द्रमा अपनी धुरी पर भी घूमता है। अपनी धुरी पर पूरा एक चक्कर लगाने में चन्द्रमा को उतना ही समय लगता है जितना उसे पृथ्वी की पूरी एक परिक्रमा करने में लगता है। इसीलिए पृथ्वी पर से हमेशा चन्द्रमा का केवल एल भाग ही दिखाई पड़ता है।

२२. चन्द्रकलायें (Phases of the Moon)—चन्द्रमा स्वयं प्रकाश उत्पन्न नहीं करता, किन्तु सूर्य की रोशनी को प्रतिबिम्बित करता है। चन्द्रमा का आकार गोल है, इसलिए उसके आधे भाग पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है और आधा भाग अंधकार में रहता है। चन्द्रमा का प्रकाशमय भाग हमेशा पृथ्वी के सामने नहीं पड़ता।

बल्कि प्रकाशमान भाग हमेशा घटते-बढ़ते रूप में दिखाई पड़ता है। चन्द्रमा के इस घटते-बढ़ते रूप को चन्द्रकलाएँ कहते हैं।

अमावस्या के दिन चन्द्रमा की स्थिति पृथ्वी और सूर्य के बीच में होती है। इसलिए चन्द्रमा का सम्पूर्ण प्रकाशमान भाग पृथ्वी की विपरीत दिशा में होता है। ऐसी दशा में पृथ्वी पर से चन्द्रमा बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ता—देखो (१)। दो दिन बाद चन्द्रमा पहली स्थिति से चलकर इतना आगे पहुँच जाता है कि उसके प्रकाशमय भाग का कुछ थोड़ा-सा अंश पृथ्वी पर से हँसिए के आकार-जैसा दीख पड़ता है। इसे द्वितीया का चन्द्रमा कहते हैं—देखो (२)। ज्यों-ज्यों चन्द्रमा अपने परिक्रमा मार्ग (Orbit) में आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसका प्रकाशयुक्त भाग हमें अधिकाधिक दिखाई देने लगता है। एक सप्ताह के बाद हमें चन्द्रमा का आधा प्रकाशमय भाग दिखाई देता है। इसे अष्टमी का चन्द्रमा कहते हैं—देखो (३)। इस दिन पृथ्वी से



चित्र ९ चन्द्रकलाएँ

सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति समकोण पर (At Right Angle) होती है। दूसरे सप्ताह बाद चन्द्रमा फिर पृथ्वी और सूर्य की सीध में पहुँच जाता है। इस दिन सीधी रेखा के एक सिरे पर चन्द्रमा होता है और दूसरे सिरे पर सूर्य। पृथ्वी दोनों के बीच में होती है। इस दिन चन्द्रमा का प्रकाशमय भाग पूर्णतः पृथ्वी के सामने रहता है और हमें पूरा गोल चन्द्रमा नज़र आता है। इस स्थिति को पूर्णिमा कहते हैं—देखो (५)। इसके बाद चन्द्रमा की कलाएँ घटने लगती हैं। तीसरे सप्ताह बाद फर आधा चन्द्रमा दिखाई देता है और चौथे सप्ताह बाद पुनः अमावस्या की स्थिति में पहुँच जाता है जब क वह बिल्कुल नहीं दीखता। यही चक्र निरन्तर चलता रहता है।

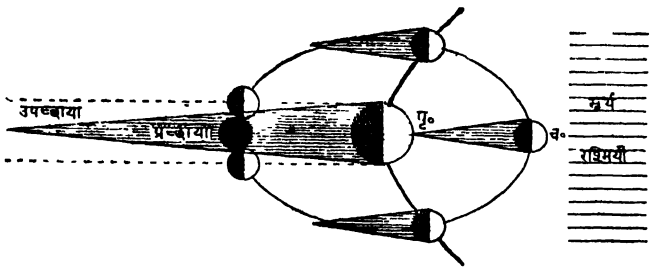
२३. ग्रहण (Eclipse)—किसी साल में एक समय ऐसा आता है जब सूर्य या चन्द्रमा के प्रकाशमय भाग का कोई अंश थोड़ी देर के लिए अंधकार से ढँक जाता है, ऐसी अवस्था को ग्रहण कहते हैं। चन्द्रमा के अधकार से ढकने पर चन्द्रग्रहण और सूर्य के ढकने पर सूर्यग्रहण होना है।

हम जानते हैं कि प्रकाश देने वाली प्रत्येक वस्तु से प्रकाश की किरणें चारों ओर सीधी रेखाओं के रूप में दौड़ती हैं जिससे उसके चारों ओर प्रकाश फैलता रहता है। परन्तु यदि प्रकाश देने वाली वस्तु के सामने कोई ठोस चीज़ रख दी जाय, तो ठोस वस्तु के पीछे अँधेरा हो जाता है जिसे छाया कहते हैं। यदि हम किसी दल्ब या लालटेन के आगे एक तख्ता खड़ा कर दें तो तख्ते के पीछे अँधेरा हो जायगा जिसे तख्ते की छाया कहेंगे। यह छाया एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक-सी काली होगी और कहीं भी कम या अधिक काली नहीं होगी। इस छाया की सीमा भी साफ दिखाई देगी। आप जानते हैं कि लालटेन बहुत छोटी-सी प्रकाश देने वाली चीज़ है। परन्तु जब प्रकाश देने वाली चीज़ का आकार बडा होता है, तो छाया में भी भेद हो जाता है। जब किसी बड़े आकार के प्रकाशोत्पादक पदार्थ के सामने कोई ठोस वस्तु पड़ती है, तो ठोस वस्तु की छाया सब जगह एक-सी काली नहीं होती। इस छाया के बीच में कुछ भाग बिल्कुल काला होता है क्योंकि प्रकाशोत्पादक पदार्थ के किसी भी भाग से वहाँ पर रोशनी नहीं पहुँच पाती। छाया के इस मध्यवर्ती, बिल्कुल काले भाग को प्रच्छाया कहते हैं। प्रच्छाया के दोनों तरफ छाया का वह भाग होता है जहाँ प्रकाशोत्पादक पदार्थ के सम्पूर्ण भाग से तो प्रकाश की किरणें नहीं पहुँचती परन्तु उसके कुछ भाग से रोशनी पहुँच जाती है। इसी वजह से छाया के ये दो भाग प्रच्छाया की तरह बिल्कुल काले नहीं होते किन्तु कुछ धुंधले-से बने रहते हैं। इन भागों को अर्द्धछाया या उपच्छाया कहते हैं।

आप जानते हैं कि पृथ्वी और चन्द्रमा दोनों में से कोई भी प्रकाशोत्पादक पिण्ड नहीं है। दोनों सूर्य के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करते हैं। ठोस पिण्ड होने के कारण दोनों की छाया पडती है। हम पढ़ चुके हैं कि दोनों का आकार बहुत बड़ा है और इनको प्रकाश पहुँचाने वाला सूर्य इनसे करोडों मील दूर है। फलतः इनकी छाया भी लाखों मील लम्बी पडती है। साथ ही प्रकाशोत्पादक सूर्य आकार में इन दोनों से बहुत ज्यादा बड़ा है। अतः इन दोनों की छाया में प्रच्छाया और उपच्छाया दोनों मौजूद रहती हैं।

२४. चन्द्रग्रहण (Lunar Eclipse)—पूर्णिमा के दिन पृथ्वी की स्थिति सूर्य और चन्द्रमा के बीच में होती है जिससे पृथ्वी की छाया चन्द्रमा की तरफ पड़ रही

होती है। यदि इस दिन चन्द्रमा उस छाया में होकर गुजरता है तो उसका कुछ भाग पृथ्वी की छाया में छिप जाता है अर्थात् चन्द्रमा के उस भाग पर सूर्य की राशनी नही पहुँच पाती। चन्द्रमा का यह प्रकाशहीन भाग हमें काला दीख पड़ता है। इसी को चन्द्रग्रहण कहते हैं। कुछ काल बाद चन्द्रमा अपनी कक्षा पर दौडता हुआ पृथ्वी की छाया से बाहर पहुँच जाता है और ग्रहण शान्त हो जाता है। यदि चन्द्रमा का



चित्र १०. सूर्य और चन्द्र-ग्रहण

सम्पूर्ण भाग पृथ्वी की छाया में छिप जाता है, तो खग्रास या पूर्ण चन्द्रग्रहण कहते हैं। परन्तु जब चन्द्रमा का कुछ भाग ही छाया से ढक पाता है तो उसे खण्ड-ग्रहण कहते हैं।

चन्द्रग्रहण केवल पूर्णिमा के दिन ही लग सकता है। परन्तु सभी पूर्णिमाओं को ग्रहण नही लगता। यदि चन्द्रमा की कक्षा और पृथ्वी की कक्षा एक ही समतल (Plane) मे होती, तो प्रत्येक पूर्णिमा को चन्द्रग्रहण और प्रत्येक अमावस्या को सूर्यग्रहण लगता। वास्तव में चन्द्रमा की कक्षा का तल पृथ्वी की कक्षा के तल से ५ अंश का कोण बनाता है। अतः दोनो एक दूसरे को केवल दो स्थानों पर काटते है। यदि पूर्णिमा के दिन इन स्थानो पर चन्द्रमा हो और पृथ्वी बिल्कुल सामने पड़े तो ग्रहण अवश्य लगेगा। परन्तु सदा ऐसा नही हो पाता। प्रायः पृथ्वी की छाया चन्द्रमा की अगल-बगल होकर निकल जाती है और ग्रहण नही पडता।

२५. **सूर्यग्रहण** (Solar Eclipse)—अमावस्या के दिन चन्द्रमा की स्थिति सूर्य और पृथ्वी के बीच में होती है अतः चन्द्रमा की छाया पृथ्वी की ओर पड रही होती है। चन्द्रमा आकार में पृथ्वी से बहुत छोटा है अतः उसकी छाया का विस्तार भी छोटा होता है। यह छाया पृथ्वी के बहुत थोड़े से भाग तक ही पहुँच पाती है। पृथ्वी के जिस भाग में यह छाया पहुँच जाती है वहाँ सूर्य की किरणें नही पहुँच पातीं और उस स्थान पर सूर्यग्रहण दिखाई पड़ता है। सारी पृथ्वी पर एक साथ सूर्यग्रहण कभी नहीं हो सकता। जैसे-जैसे चन्द्रमा अपनी कक्षा पर आगे चलता है, वैसे-ही-वैसे

उसकी छाया भी पृथ्वी-तल पर आगे बढ़ती जाती है। पृथ्वी के जो भाग चन्द्रमा की प्रच्छाया में पड़ते हैं वहाँ पूर्ण ग्रहण होता है जिसे सर्वग्राही सूर्यग्रहण कहते हैं। सर्वग्राही सूर्यग्रहण एक स्थान पर कुछ मिनटों तक ही रहता है। कभी भी ७½ मिनट से अधिक समय तक सर्वग्राही ग्रहण नही लग सकता।

चन्द्रमा की प्रच्छाया के दोनों ओर उपच्छाया रहती है। पृथ्वी-तल के जो भाग इस उपच्छाया में पड़ते है उनमें आंशिक ग्रहण दिखाई पडता है। सूर्य के जिस भाग से किरणें नहीं पहुँच पातीं, उतना भाग कुछ धुंधला पड़ जाता है। ऐसे खण्ड-ग्रहण के समय धूप की तेजी में भी कमी आ जाती है।

ज्योतिष-शास्त्र के विद्वान् गणित द्वारा हिसाब लगाकर यह बता देते है कि चन्द्र या सूर्यग्रहण कब लगेगा और उसका कितना भाग पृथ्वी के कौन से भाग पर ओझल रहेगा। प्राचीन काल में लोगों को ग्रहण का कारण मालूम न था। अतः वे इस सम्बन्ध में अनेक भयसूचक कल्पनाएँ किया करते थे। आज भी हमारे देश के अपढ़ लोगों का विश्वास है कि राहु और केतु दैत्य चन्द्रमा और सूर्य देवता को पकड़ लेते हैं और इसी कारण ग्रहण पड़ा करते हैं।

प्रश्न

1. Account for the variation in the lenght of day and night in the course of a year.

2. Define latitude and longitude and give some simple methods by wich latitude and longitude of a place can be determined.

3. Write short notes on :—
Lunar eclipse, International date line, Time Zones, Standard Time and equinox.

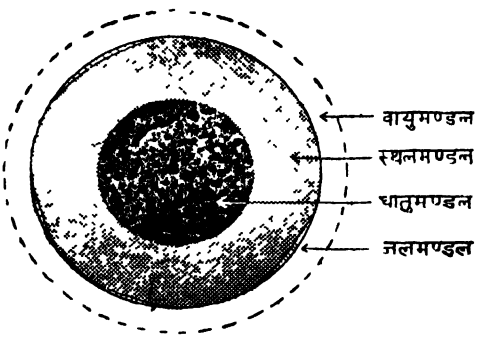
4. What are the two movements of the earth ? What effects do these movements have on the life of people on earth ?

तीसरा अध्याय

भू-गर्भ की झाँकी

(Interior of the Earth)

२६. रहस्योद्घाटन में कठिनाइयाँ—पृथ्वी के भीतर क्या है यह आज भी मनुष्य के लिए रहस्यमय है। इस भेद को जानने के लिए मनुष्य कोई यन्त्र या कोई एक्स-किरण आज तक नही खोज पाया है। भूगर्भ के बारे में मनुष्य का प्रत्यक्ष ज्ञान तो बहुत थोड़ी-सी गहराई तक सीमित है। अधिक-से-अधिक वह ढाई-तीन मील गहरी खान खोद सका है। यद्यपि वह गहराई बहुत ही नगण्य है, फिर भी इन खानों की बदौलत मनुष्य ने न केवल सोना-चाँदी आदि धातुओं के रूप में रत्नगर्भा पृथ्वी की अतुल धनराशि को ढूँढ़ निकाला है बल्कि पृथ्वी के भीतरी भेदों को समझने का एक सूत्र भी पा लिया है। ज्वालामुखी पर्वतों के उद्गार और भूकम्प की कंपन-लहरों जैसी भूगर्भ की हलचलों ने पृथ्वी का भेद खोलने में बड़ी सहायता पहुँचाई है।



चित्र ११. पृथ्वी के विभिन्न परत

२७. रहस्य विवेचन—सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सम्बन्ध में यह नियम निर्धारित किया था कि आकर्षण-शक्ति पदार्थों के द्रव्य की मात्रा के अनुपात में बढ़ती है और उनके बीच की दूरी के अनुपात में कम होती है। इस नियम के आधार पर पृथ्वी को तोला गया और ज्ञात हुआ कि समस्त पृथ्वी-पिण्ड का घनत्व ५·५२ है अर्थात् पृथ्वी का भार अपने बराबर आकार (Volume) वाले जल-पिण्ड के भार से ५·५ गुना है। किन्तु पृथ्वी के धरातल की चट्टानों का घनत्व निकालने पर मालूम हुआ कि उनका घनत्व २·७ ही है। यदि सारी पृथ्वी ऊपरी चट्टानों-जैसे पदार्थों से बनी होती तो उसका भार अब के भार का आधा ही रह जाता। इससे यह निष्कर्ष निकला कि केन्द्र के आस-पास जो पदार्थ हैं वे ऊपरी चट्टानों से बहुत ज्यादा भारी हैं।

(क) प्रथम रहस्य (पदार्थ का भार)—उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट पता चलता है कि ऊपर से जैसे-जैसे केन्द्र की ओर जाते हैं पदार्थों का भार निरन्तर बढ़ता जाता है। इस भार वृद्धि का क्या कारण हो सकता है? भूगर्भ के भीतरी पदार्थों के भारी होने के दो कारणों में से ही कोई कारण हो सकता है—(१) भूगर्भ के पदार्थ धरातल की चट्टानों मे रचना में तो भिन्न नही हैं किन्तु उनके ऊपर भारी दबाव रहता है जिस से अधिक घने हो गए हैं। अथवा (२) भूगर्भ के पदार्थ रचना में ही धरातल की चट्टानों से भिन्न हैं। भूगर्भ के पदार्थ भारी तत्त्वों से बने हैं और ऊपरी चट्टानें हल्के तत्त्वों से बनी हैं।

पहली संभावना के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह समझ लिया कि भूगर्भ के पदार्थ ऊपर से भारी दबाव पडने के कारण अधिक दब गए हैं और भारी हो गए हैं। लाप्लास ने हिसाब लगाकर बताया कि ऊपर के दबाव के कारण भूगर्भ के पदार्थ पानी से पौने ग्यारह गुने भारी होने चाहिएँ। यह तो सच है कि ज्यो-ज्यो हम पृथ्वी के केन्द्र की ओर जाते हैं ऊपर की चट्टानों का भार बढता ही जाता है। हिसाब लगाने पर पता चला है कि केन्द्र के प्रति वर्गफुट स्थान पर ८ करोड मन बोझ लदा है। इतने भारी बोझ से भूगर्भ के पदार्थों के घनत्व पर प्रभाव पडना असंभव नही है। परन्तु दबाव से बढने वाली सघनता की कोई सीमा तो होनी ही चाहिए। बहुत से विद्वान् इस बारे में शंकाशील हैं कि घनत्व पर इतना दबाव पड सकता है कि वह २·७ से १० या ११ हो सके। यद्यपि मनुष्य किसी भी प्रयोगशाला में इतने अधिक दबाव की परिस्थिति उत्पन्न नही कर पाया है और विज्ञान की इतनी अधिक उन्नति हो जाने पर भी यह कार्य बहुत ही कठिन समझा जाता है, फिर भी इतना तो निश्चय है कि घनत्व में इस सीमा तक वृद्धि नितान्त असंभव है।

दूसरी संभावना के आधार पर कछ विद्वानों ने यह धारणा बनाई कि पृथ्वी के ऊपर विभिन्न घनत्व के कई परत हैं। केन्द्रीय पिण्ड सबसे भारी है क्योंकि उसकी रचना भारी तत्त्वों से हुई है। केन्द्रीय पिण्ड के ऊपर बीच वाला परत है जो केन्द्रीय पिण्ड से हल्का है। इसका आपेक्षिक घनत्व २·७ है। भूकम्प की लहरों (Earthquake Waves) के अध्ययन ने इस धारणा की पुष्टि करने में बहुत सहायता पहुँचाई है।

(ख) द्वितीय रहस्य (पदार्थ की अवस्था)—दूसरी समस्या यह है कि पृथ्वी के भीतरी भाग में पदार्थ ठोस (Solid) अवस्था में हैं अथवा द्रव (Liquid) या वायव्य (Gaseous) अवस्था में। हम ज्यों-ज्यों पृथ्वी के केन्द्र की ओर जाते हैं पृथ्वी का तापक्रम भी बढ़ता जाता है। अनुमान है कि लगभग प्रति ५५ फुट की गहराई पर

१° फा० तापक्रम बढ़ जाता है। इस हिसाब से १ मील की गहराई पर १००° फा० और ५० मील की गहराई पर ५०००° फा० की वृद्धि हो जायगी। इतने अधिक तापक्रम में कोई भी खनिज ठोस रूप में नहीं रह सकता। इसी हिसाब के आधार पर और इसके प्रमाण में ज्वालामुखी के उद्गारों से पिघला हुआ लावा निकलता देखकर लाप्लास प्रभृति विद्वानों ने यह अनुमान लगाया कि पृथ्वी का ऊपरी पपड़ा ठोस है किन्तु केन्द्रीय पदार्थ द्रव अवस्था में है। ज्वालामुखी के उद्गारों से निकले पदार्थों का निरीक्षण करके स्वीडन के अरीनिउस नामक वैज्ञानिक ने यह कल्पना की थी कि पृथ्वी धातुओं से बनी है और इसके अत्यन्त गहरे भाग में भारी धातुएं भरी हुई हैं। इसका ऊपरी भाग ठोस है, बीच में द्रव पदार्थ है और सब से नीचे के भाग वायव्य अवस्था में है। इस कथन को स्वीकार करने में दो कठिनाइयाँ सामने आती हैं—

(१) ज्वार आने के समय समस्त पृथ्वी-पिण्ड एक ठोस गोले के समान बना रहता है।

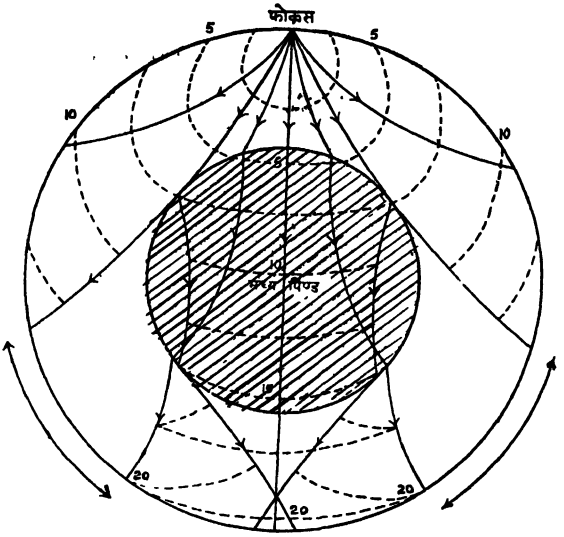
(२) भूकम्प की लहरें पर्याप्त गहराई तक उसी प्रकार चली जाती हैं जिस प्रकार उन्हें एक ठोस पिण्ड में जाना चाहिए।

उपर्युक्त कारणों से पृथ्वी के गर्भ में पदार्थों के द्रव अवस्था में समझने की कल्पना त्याग दी और यह विचार किया गया कि पृथ्वी के भीतर द्रव पदार्थों की कल्पना करते समय उसके ऊपर पड़ने वाले अपरिमित दबाव का ध्यान नहीं रक्खा गया है। दबाव दो प्रकार से अपना प्रभाव डालता है। (१) दबाव बढ़ते जाने के कारण पदार्थ को पिघलाने के लिए अधिक तापक्रम की आवश्यकता पड़ती जाती है। (२) दूसरे पिघलने पर प्रत्येक वस्तु अधिक स्थान घेरती है और अधिक स्थान घेरने की सुविधा न मिलने पर वह वस्तु अपनी ठोस दशा में ही दबी पड़ी रहती है। इस तर्क के आधार पर कुछ लोगों ने पृथ्वी को ठोस बतलाया। परन्तु पृथ्वी की ठोस स्थिति को स्वीकार करने में ज्वालामुखी से निकलने वाला द्रव लावा कुछ कठिनाई उत्पन्न करता है। अतः उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि केन्द्रीय भाग दबाव के कारण ठोस है और ऊपरी भाग ठण्डा होकर ठोस बन गया है, परन्तु बीच वाले भाग में द्रव पदार्थ भरे पड़े हैं जो ज्वालामुखी के उद्गार के समय बाहर निकल आते हैं।

कुछ लोगों ने उपर्युक्त सुझाव को मिथ्या ठहराया। उन्होंने कहा कि तापक्रम के अधिक बढ़ने पर एक अवस्था ऐसी आ सकती है जब दबाव के अधिक-से-अधिक बढ़ जाने पर भी वस्तु का ठोस या द्रव बने रहना असंभव है। अतएव केन्द्रीय भाग में वायव्य पदार्थ भरे पड़े हैं। यह सुझाव भी प्रयोगों के आधार पर सिद्ध नहीं होता।

यदि केन्द्रीय पदार्थ वायव्य अवस्था में होंगे भी, तो उन में धरातल के वायव्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न गुण होंगे। इन गुणों में एक प्रमुख गुण स्थिरता (Rigidity) भी अवश्य होना चाहिए जिसके कारण केन्द्रीय पदार्थ वायव्य होते हुए भी स्थिर (Rigid) बने रहते हैं। यदि ऐसा न होता तो ज्वार-भाटे के समय पृथ्वी पर भी द्रव या वायव्य पदार्थों के समान ही प्रभाव पड़ता।

२८. **भूकम्प-तरंगों का प्रभाव**—भूगर्भ के अन्दर होने वाली किसी अदृश्य घटना के परिणामस्वरूप धरातल का कोई भाग अचानक काँप उठता है। जिस स्थान पर यह घह घटना घटित होती है उस स्थान से भूपृष्ठ (Crust) को कँपाने वाली लहरें चारों ओर को चलती हैं। विद्वानों का कथन है कि भूगर्भ में स्थित चट्टानों को किसी कारण से धक्का लगता है। इस धक्के से चट्टानें ग्लेशियर की तरह आगे को खिसकती हैं जिससे चट्टानों में मोड़ पड़ जाती है। परन्तु यदि चट्टानें आगे को नहीं हट पाती, तो वे टूट जाती है। चट्टानों का इस प्रकार हिलना अत्यन्त सीमित क्षेत्र में



चित्र १२. भूकम्प तरंगों का टेढ़ा मार्ग

ही संभव हो सकता है। परन्तु उनके संघर्ष से कंपन-लहरें (Earthquake waves) चारों ओर फैलती है। ये लहरें तीन प्रकार की हैं। (१) प्रधान या लम्बी (Longitudinal) लहरें, (२) आड़ी (Transverse) लहरें और (३) धरातल पर चलने वाली लहरें (Surface waves)। इन लहरों की चाल और समय सीस्मोग्राफ़ नामक यंत्र से मालूम करते हैं।

कम्पन-लहरों के सम्बन्ध में यह बात याद रखनी चाहिए कि **लहरों के माध्यम का घनत्व जितना अधिक होगा लहरों की चाल भी उतनी ही अधिक बढ़ती चली जायगी।** इन लहरों के अध्ययन से पता चला है कि पृथ्वी के भीतर जाने वाली लहरों की चाल गहराई के साथ बढ़ती जाती है। धरातल से १,८०० मील की गहराई तक यह चाल निरन्तर बढती जाती है परन्तु इससे आगे लहरों की गति में अद्भुत परिवर्तन होने लगता है। १,८०० मील से अधिक गहराई में आड़ी लहरें घुस ही नही पातीं और वही समाप्त हो जाती हैं। आड़ी लहरें द्रव पदार्थ में नही घुस पातीं। अतः यह अनुमान किया गया है कि केन्द्रीय पिण्ड, जिसमें ये लहरें नही जा पाती, द्रव अवस्था में होना चाहिए।

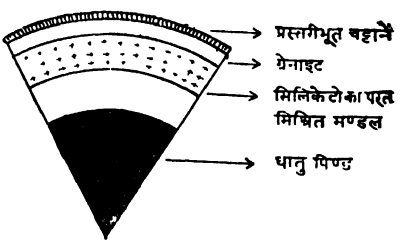
प्रधान लहरें केन्द्रीय पिण्ड में प्रवेश तो कर जाती है परन्तु उनकी चाल एकदम घट जाती है। दूसरी विशेषता यह होती है कि ४,००० मील व्यास वाले केन्द्रीय पिण्ड के भीतर होते हुए सीधे चले जाना इन लहरों के लिए भी असम्भव है। अतः वे मुड़कर पिण्ड के बाहर निकल जाती है।

धरातल पर चलने वाली लहरें उत्पत्ति-स्थान से पहले कंपकेन्द्र (Epicentre) पहुँचती है और फिर धरातल की परिक्रमा किया करती है। देखा गया है कि ये लहरें महाद्वीपों में धीमी चलती है परन्तु समुद्र की तली में चलते समय इनका वेग बढ़ जाता है। इससे यह नतीजा सिकलता है कि महाद्वीपों की अपेक्षा महासागरों की तली भारी पदार्थो से बनी है।

२९. भूकम्प-तरंगों के अध्ययन के आधार पर भू-परतों के बारे में निकाले हुए निष्कर्ष—(१) पृथ्वी के ऊपरी परत में प्रधान तरंगों (P waves) की गति ३½ मील प्रति सैकिण्ड पाई गई है। आड़ी लहरें (S waves) इस परत में २ मील प्रति सैकिण्ड की गति से चलती है। यह रफ़्तार अन्य सब परतों में देखी गई चाल से धीमी है। इससे प्रकट होता है कि इस परत का घनत्व सब से कम (२·७) है अर्थात् यह पृथ्वी का सब से हल्का परत है। इसकी रचना में मुख्यतया ग्रेनाइट (कणाश्म) चट्टानों का बाहुल्य है। ग्रेनाइट के परत में सिलिका और अल्यूमीनियम इन दो तत्त्वों की अधिकता है। इसलिए इसका संक्षिप्त नाम सिआल है जो दोनों तत्त्वों के प्रथम अक्षरों के मिलाने से बना है। इस परत की मोटाई सभी स्थानों पर एक समान नहीं है। इस परत के भाग कई जगह एक दूसरे से मिले हुए नहीं हैं किन्तु एक दूसरे से अलग हैं। भूकम्पविद् विद्वानों (Seismologists) के मत से इस परत की मोटाई केवल २० किलोमीटर के लगभग है।

(२) ग्रेनाइट परत के नीचे बीच का परत है। इस परत में प्रधान लहरों की गति ४ से ४$\frac{2}{5}$ मील प्रति सैकिण्ड आडी लहरों की गति २$\frac{3}{5}$ से २$\frac{3}{5}$ मील प्रति सैकिण्ड है। यह परत ऊपरी ग्रेनाइट वाले परत से भारी है। इसका आपेक्षित घनत्व ३ है अर्थात् यह पानी से तीन गुना भारी है। इसकी रचना में बसाल्ट या ग्रेबो चट्टानों की अधिकता है। इस परत को सिग्राल और सिमा का मिश्रण माना जाता है। सिमा शब्द सिलिका और मैगनेशियम तत्त्वों के प्रथम अक्षरो को मिलाने से बना है। इस परत की मोटाई ३० किलोमीटर समझी जाती है। वह परत पृथ्वी के गोले पर सब स्थानों पर पाया जाता है अर्थात् ग्रेनाइट परत की तरह टूटा या असम्बन्धित नही है।

(३) बसाल्ट परत के नीचे निचला परत है। इस परत में प्रधान लहरों की गति ४$\frac{2}{5}$ मील प्रति सैकिण्ड और आड़ी लहरों की गति २$\frac{3}{5}$ मील प्रति सैकिण्ड नापी गई है। इस परत मे पेरिडोटाइड या अतिपैठिक चट्टानों की अधिकता है। ये चट्टानें पानी से ३·४ गुना भारी है। इन चट्टानों के निर्माण में मुख्य तत्व सिलिका और मैगनेशियम हैं जिनका संक्षिप्त नाम सिमा है।



चित्र १३. पृथ्वी की परत

(४) जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रधान और आड़ी भूकम्प तरंगों की गति १,८०० मील (२,९०० किलोमीटर) तक तो बराबर बढ़ती चली जाती है। किन्तु ४,३०० या (४,३४८) मील व्यास वाले केन्द्रीय पिण्ड में उनकी गति कुण्ठित हो जाती है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि केन्द्रीय भाग में निकिल और लोहा (फेरियम) जैसी कठोर धातुएँ भरी पडी हैं जिनका आपेक्षिक घनत्व लगभग ८ है। इसी कारण प्रधान लहरें भी इसको भेद नही पाती। इसका संक्षिप्त नाम निफे है। पृथ्वी पर गिरे हुए उल्का पिण्डों में भी ऐसी धातुएँ मिली हैं जिससे इस विचार की पुष्टि होती है। यह धातुमय भाग बिल्कुल ठोस नही है। इसकी बनावट कुछ लचीली है। इसीलिए आड़ी लहरें इसमें नही घुम पाती। इस धातु-पिण्ड के ऊपरी भाग में चारो ओर सिमा का पिघला हुआ परत लिपटा है जिसमें धातुएँ भी मिली हुई हैं।

३७ पृथ्वी के भीतर परतों की बनावट (Layers of Earth)—जर्मनी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक ग्राक्ट ने नवीन खोजों के आधार पर पृथ्वी के निम्न परत सुझाये हैं—

परत का नाम	घनत्व	परत की मोटाई
१. स्थलमण्डल या ऊपरी सिआल परत	२·७५-२·९	३७½ मील (महाद्वीपों के नीचे)
२. सिलिकेटों का भीतरी परत (सिमा आंशिक रूप से)	३·१-४·७५	७०० मील
३. मिश्रितमण्डल (जिस में धातुओं और सिलिकेटों का योग है)	४·७५-५	१,०६० मील
४. केन्द्रीयमण्डल (धातुओं का पिण्ड)	११	.....

इन परतों और जेफरे द्वारा सुझाये हुए परतों में साधारण अन्तर है। विशेष अन्तर सिआल परत की मोटाई के सम्बन्ध में है। यदि ग्राक्ट द्वारा सुझाए सिआल परत की मोटाई कम कर दी जाय तो वह जेफरे के ऊपरी परत के अनुकूल हो जाता है। जेफरे के मध्यम परत और निचला परत ग्राक्ट के सिलिकेटों के भीतरी परत के अनुरूप हैं। स्थल-रूपों (Landforms) की बनावट आदि कई पेचीदा प्रश्नों का हल इन परतो द्वारा ठीक-ठीक समझ मे नही आता। इन कठिनाइयों से बचने के लिए हमें प्रो० होम्स द्वारा सुझाये हुए परतों को समझ लेना चाहिए।

ग्राक्ट	जेफरे	होम्स
१. सिआल परत	ऊपरी परत, मध्यम परत, निचला परत	ऊपरी पपड़ी या भूपृष्ठ (Crust)
२ सिमा परत		अधोभाग (Sudstratum) या अधःस्तर

प्रो० होम्स के अनुसार जेफरे के ऊपरी और मध्यम परत दोनो ही ऊपरी पपड़ी अथवा भूपृष्ठ (Crust) में सम्मिलित हैं। जेफरे का निचला परत होम्स की सम्मति में अधोभाग (Sudstratum) है जिसमें भूपृष्ठ की अपेक्षा अधिक गर्मी बनी रहती है जिसके परिणामस्वरूप वह द्रवावस्था में बना रहता है।

३१. भूगर्भ में गर्मी की अवस्था—जब हम गहरी खानों में घुसते हैं तो गहराई के साथ गर्मी भी बढ़ती जाती है। यह गर्मी कहीं अधिक तेजी से बढ़ती है और कहीं कुछ कम। परन्तु औसत से प्रति ५५ फुट की गहराई पर १ अंश फार्नहाइट गर्मी बढ़ जाती है। इसका अर्थ है कि केन्द्र अत्यन्त गरम है और धरातल की ओर गर्मी घटती जाती है। धरातल पर आकर यह गर्मी विकिरण (Radiation) द्वारा नष्ट हो जाती है। यदि हमें धरातल पर से नष्ट होने वाली गर्मी की मात्रा

मालूम हो जाय तो हम यह जान सकेंगे कि भूपृष्ठ कब ठोस होने लगा होगा और कितना ठोस हो चुका होगा। विकिरण द्वारा नष्ट होने वाली गर्मी की मात्रा जानने के लिए हमें तीन बातें जान लेनी चाहिए। (१) केन्द्र से धरातल तक तापक्रम घटने का क्रम, (२) सम्पूर्ण धरातल का क्षेत्रफल तथा (३) चट्टानों की औसत संचालकता (Conductivity)। इस आधार पर गणना करके कैलविन नामक वैज्ञानिक ने भूगर्भ का इतिहास जानने की कोशिश की। किन्तु कुछ चट्टानो की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता पर कैलविन का ध्यान नहीं गया जिससे उनकी सारी मेहनत बेकार गई और उनकी गणना गलत सिद्ध हुई।

वैज्ञानिकों को पता चला है कि बहुत-सी चट्टानों में कुछ तेजोद्गर (Radio-active) या रेडियोधर्मी तत्त्व मौजूद हैं। इन तत्त्वों के अणु अपने आप ही निरन्तर टूटते रहते हैं। इनके टूटने (Disintegration) से पृथ्वी के भीतर गर्मी (तेज) उत्पन्न होती रहती है। टूटने के बाद बचे हुए भाग का परिवर्तन हो जाता है और वे कई प्रकार के खनिजों का रूप धारण करते रहते हैं। उदाहरण के लिये हम दो मुख्य तेजोद्गर तत्त्वों का वर्णन करेंगे। ये प्रमुख तत्त्व यूरेनियम और थोरियम अपनी सम्पूर्ण गर्मी के निकल जाने पर हेलियम और सीसा के रूप में बदल जाते हैं। परन्तु इनका थोड़ा-सा तेज (गर्मी) नष्ट होने पर रेडियम आदि धातुयें बन जाती हैं।

अपने आप निरन्तर टूटते हुए तेज उद्गरित करने वाले या गर्मी निकालने वाले तत्त्वों की खोज ने पृथ्वी के इतिहास की समस्या का रूप ही बदल दिया। तेजोद्गर तत्त्व किसी खनिज में एक निश्चित अनुपात में हुआ करते हैं। इनके टूटते-टूटते अन्त में हेलियम और सीसा बनता है। यदि यह मान लिया जाय कि शुरू-शुरू में हेलियम और सीसा थे ही नहीं परन्तु एक निश्चित गति से धीरे-धीरे एकत्र होते रहे, तो किसी खनिज के यूरेनियम और सीसा का अनुपात देखकर उस खनिज का निर्माणकाल सरलता से जाना जा सकता है। खनिजों के स्फट या रवे (Crystals) भी किसी चट्टान के ठण्डे होने पर ही बन सके होंगे। इस आधार पर चट्टान के बनने का समय बताया जा सकता है। इसी गणना के आधार पर पृथ्वी के ठण्डे होने का प्रारम्भकाल १५० करोड़ वर्ष पूर्व निश्चित किया गया है।

अब सवाल यह है कि पृथ्वी के भीतरी भाग में तेजोद्गर तत्त्वों की मात्रा कितनी है। धरातल की चट्टानों का विश्लेषण करने पर चट्टानों में इन तत्त्वों का जो अनुपात मिला है उसी अनुपात में ये तत्त्व यदि भूगर्भ में भी मौजूद हैं, तो धरातल पर आकर नष्ट होने वाली गर्मी से कई गुनी अधिक गर्मी पृथ्वी के भीतर पैदा होती होगी। चट्टानें ताप (गर्मी) की उत्तम संचालक (Good Conductor) नहीं हैं। इसी

से अधिक पैदा हुई गर्मी फैलकर नष्ट नहीं हो सकेगी बल्कि भीतर ही इकट्ठी होती रहेगी। परिणाम यह होगा कि पृथ्वी निरन्तर अधिकाधिक गरम होती जायगी। पृथ्वी के अधिकाधिक गरम होने की कल्पना बहुत से तथ्यों के आधार पर झूठी सिद्ध हो चुकी है। अतः यह परिणाम निकाला जा सकता है कि अपने आप टूटकर तेज (गर्मी) उद्गरित करने वाले तत्त्व हल्के हैं और इसीलिए ऊपरी परतों में ही अधिक मात्रा में पाये जाते है। ग्रेनाइट, बसाल्ट और लोहमिश्रित चट्टानों के विश्लेषण से भी इसी मत की पुष्टि होती है क्योंकि इन चट्टानों में तेजोद्गर तत्त्वों की उत्तरोत्तर न्यूनता (कमी) पायी गई है। इसी आधार पर पृथ्वी के परतों का सिद्धान्त प्रमाणित होता है। प्रारम्भ में पृथ्वी के पदार्थ द्रवावस्था में थे। पिघली हुई अवस्था में ही लोहा और निकिल जैसी भारी धातुयें नीचे बैठ गई और सिलिकेटों के परत से अलग हो गयीं। सिलिकेटों के परत में से भी दो या दो से अधिक परत अलग हो गये। धातु शोधने की भट्टी में जिस प्रकार मैल सब से ऊपर आ जाता है उसी प्रकार पृथ्वी के हल्के पदार्थ सब से ऊपर आ गये होंगे। इसी क्रिया के कारण तेजोद्गार तत्त्व ऊपरी परत में एकत्र होते गये। इसी आधार पर यदि यह मान लिया जाय कि पृथ्वी के भीतरी भागों में ये तत्त्व इतने कम है कि उनसे जितनी गर्मी निकलती है उससे कुछ अधिक धरातल पर आकर नष्ट हो जाती है तो पृथ्वी के ठण्डे होने की क्रिया धीरे-धीरे सम्पन्न हो सकती है।

गहराई के साथ तेजोद्गर तत्त्वों के कम होते जाने वाली धारणा को आधार बनाकर जैफरे नामक वैज्ञानिक ने पृथ्वी के ठण्डे होने का हिसाब लगाया। उनके मत से प्रारम्भ में पृथ्वी पिघली हुई धातुओं और पत्थरों के एक बहुत बड़े कड़ाहे के समान थी। जिस प्रकार पिघले हुए गरम लोहे में उबाल आते हैं उसी तरह पृथ्वी के पदार्थों में भी उबाल आते थे और ऊपर आकर गर्मी कम होती जाती थी। नीचे के गरम कण हल्के होने के कारण ऊपर उठते थे और ऊपर के ठण्डे कण भारी होने से नीचे जाते थे। इस क्रिया को संवाहन (Convection) कहते हैं। इस प्रकार संवाहन द्वारा पृथ्वी धीरे-धीरे ठण्डी होने लगी। अन्त में तापक्रम द्रवांक (Melting Point) पर पहुँच गया अर्थात् अब तापक्रम में कमी होते ही द्रव पदार्थ ठोस बनने लग जाते। इस अवस्था में पहुँचते समय तक समस्त पृथ्वी-पिण्ड का तापक्रम एक समान रूप से कम होता रहा। परन्तु इसके बाद परिस्थितियों में अन्तर पड़ गया, पृथ्वी के धरातल पर जिस तापक्रम पर द्रवांक होता है उस तापक्रम पर पृथ्वी के भीतर द्रवांक नहीं हो सकता। भीतरी भाग के पदार्थों पर ऊपर का भारी बोझ लदा रहता है। इस बोझ के कारण भीतर के द्रव पदार्थ साधारण से कुछ भिन्न तापक्रम

पर ही ठोस रूप मे बदल सकते है । अस्तु, ठोस बनने की क्रिया धरातल से कुछ नीचे से ही प्रारम्भ हो सकी होगी । ठोस बनने की क्रिया के शुरू होने पर ठण्डे का तरीका भी बदल गया । संवाहन-क्रिया समाप्त हुई । अब तो गर्मी भू-पदार्थो के एक कण से दूसरे कण में होती हुई धरातल पर पहुँचकर शून्य में विलीन होने लगी । इस प्रकार ताप के चलने को संचालन (Conduction) कहते हैं । ऊपरी परत के ठण्डे होने की क्रिया उसी प्रकार हुई होगी जैसे कढ़ाई के गरम दूध में पहले मलाई पड़ जाती है और धीरे-धीरे मोटी होती जाती है ।

जैफर ने गणित द्वारा हिसाब लगाकर बताया है कि धरातल से लगभग ४०० मील नीचे के भू-पदार्थो में द्रव वस्तुओं की-सी एक विशेषता मौजूद है । हम जानते हैं कि ठोस पदार्थों में कठोरता (Strength) और स्थिरता (Rigidity) ये दो गुण मौजूद होते हैं । धरातल से ४०० मील की गहराई पर के पदार्थो में ठोस वस्तुओं जैसी स्थिरता (Rigidity) तो मौजूद है परन्तु उनमें कठोरता (Strength) नहीं है । इसके विपरीत उनमें द्रव वस्तुओं जैसा लचीलापन है और बहुत ज्यादा ज़ोर का दबाव पड़ने पर द्रवों की तरह बहने लगते है । स्थिरता होने के कारण इस भाग पर ज्वार-भाटे का प्रभाव नही पड़ता और भूकम्प की लहरें इस लचीले भाग में होकर उसी प्रकार जाती है जिस प्रकार वे ठोस पदार्थ में होकर जाती हैं । ऊपर के ठोस परत और इस लचीले भाग में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नही खींची जा सकती । अनुमान है कि दोनो में बहुत धीरे-धीरे ही अन्तर पड़ सकेगा ।

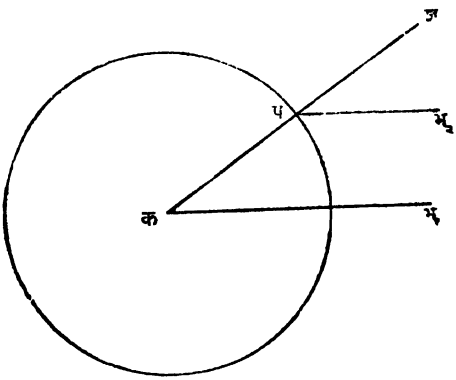
बहुत से विद्वान् जैफरे के उपर्युक्त मत से पूर्णतया सहमत नहीं है । इन विद्वानों का कथन है कि जैफरे द्वारा माना हुआ तेजोद्गर तत्त्वों का गहराई के साथ अधिकाधिक न्यून होते जाना सर्वथा सत्य नहीं है । प्रो० होम्स का मत है कि तेजोद्गर तत्त्वों का धरातल के समीप एकत्र होते जाना असंभव-सी घटना है । यह केवल कुछ लोगों की कपोल कल्पना है । प्रयोगशालाओं में पृथ्वी के भीतरी भाग जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करके बहुत से प्रयोग किये गये हैं । इन प्रयोगों से निकले हुए परिणामों के आधार पर कहा गया है कि ऊपरी पपड़ी (Crust) या भूपृष्ठ में मौजूद तेजोद्गर तत्त्वों से इतनी गर्मी उत्पन्न होती रहती है जितनी की धरातल से शून्य में विलीन होती है । यदि भूपृष्ठ की बसाल्ट चट्टानों में पाये जाने वाले तेजोद्गर तत्त्वों का ७००वाँ भाग भी अधोभाग (Sudstratum) की चट्टानों में मौजूद हो, तो इतने थोड़े तत्त्वों से ही इतनी गर्मी उत्पन्न होती रहेगी कि अधोभाग के पदार्थ हमेशा द्रवावस्था में बने रहें और इस भाग में संवाहन (Convection) क्रिया द्वारा गर्मी ऊपर की ओर चलकर भूपृष्ठ (Crust) के निचले तले तक पहुँचती रहे । यदि प्रो०

होम्स के उपर्युक्त मत को स्वीकार कर लिया जाय तो महाद्वीपों के खिसकने और पर्वतों के निर्माण के लिए उचित शक्ति की समस्या हल हो जाय क्योंकि इनके लिए उपर्युक्त शक्ति अधोभाग की संवाहन तरंगों (Convection Currents) द्वारा प्राप्त हो सकती है।

समतुलन का सिद्धान्त (Theory of Isostacy)

३२ समस्या का महत्त्व—पृथ्वी का इतिहास पढ़ने से पता चलता है कि पृथ्वी के धरातल का रूप हमेशा बदलता रहा है। इन परिवर्तनों में कई प्रकार की शक्तियों और घटनाओं का हाथ है। इन घटनाओं में अदृश्य भूगर्भ की गुप्त घटनायें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महाद्वीपों और महासागरों के नीचे घटित होने वाली इन गुप्त घटनाओं को आइसोस्टेसी द्वारा समझाया जाता है। 'आइसोस्टेसी' शब्द को सबसे पहले डटन नामक एक अमेरिकन वैज्ञानिक ने १८८९ में प्रयोग किया था। उसके अनुसार धरातल के असमतल भागों—अर्थात् ऊँचे पर्वतों, पठारों, मैदानों और समुद्रों के नीचे पृथ्वी का भार बराबर है। उनकी सम्मति में इसका कारण यह था कि पर्वतों के नीचे का पदार्थ समुद्र के नीचे के पदार्थ की अपेक्षा हल्का है। इस प्रकार डटन महोदय ने ही सबसे पहले क्षतिपूर्ति के विचार (Concept of compensation) का सूत्रपात किया। यदि ऐसा न होता तो निरन्तर परिभ्रमणशील पृथ्वी पर गगनचुम्बी पर्वतों के पडौस में समुद्र की गहरी खाई का होना बिलकुल असंभव हो जाता। धरातल की ऊँचाई-निचाई नापने वाले विद्वानों ने इस सिद्धान्त को प्रमाणित करने में पर्याप्त सहायता पहुँचाई।

३३. अक्षांश की नाप—सीस-रेखा (Plumb Line) प्रत्येक स्थान के आकर्षण की दिशा बताती है। इसलिए सीस-रेखा की मदद से चाहे जिस स्थान का अक्षांश नाप सकते हैं। सीस-रेखा की दिशा और भूमध्यरेखिक तल (Equatorial Plane) के बीच में जो कोण बनेगा, वही उस स्थान का अक्षांश होगा। उदाहरण के लिए दिए हुए चित्र में 'प' स्थान का शीर्ष श की ओर है। अतः सीस-रेखा की दिशा श प की तरह



चित्र १४.

होगी। मान लीजिए प भ$_2$ भूमध्यरेखा का तल बताती है (क्योंकि यह रेखा क भ, के समानान्तर है)। अतः श प भ$_2$ कोण ही प स्थान का अक्षांश होगा।

परन्तु हमें एक बात का ध्यान जरूरी रखना है। यदि पृथ्वी बिल्कुल गोल होती और उस पर सब जगह एक समान गहराई का सागर होता, तो सीस-रेखा सब जगह समुद्र की तली पर लम्बरूप होती। परन्तु यह वास्तविकता नही है। न तो पृथ्वी बिल्कुल गोल है और न उस पर एक समान गहराई वाला सागर है। इसके अतिरिक्त पर्वत, पठार या द्वीप जैसे ऊँचे उठे हुए भाग भी अपने आकर्षण द्वारा सीस-रेखा को प्रभावित करते हैं जिससे सीस-रेखा सागरतली पर लम्बरूप नही रह पाती। इस प्रकार के विकर्षण का अनुभव सिन्धु-गंगा के मैदान में हुआ।

१८५५ ई० में धर्माध्यक्ष प्रेट ने भारत के उत्तरी मैदान का भूमापक सर्वेक्षण (Geodetic Survey) शुरू किया। हिमालय पर्वत से लगभग ६० मील दक्षिण की ओर कल्याण गाँव की अक्षांश नापते समय प्रेट ने देखा कि सीस-रेखा धरती की तरफ सीधी लम्बवत् नहीं लटकती, किन्तु कुछ उत्तर की ओर झुक रही थी। प्रेट ने सोचा कि हिमालय की भारी चट्टानों ने सीस-रेखा को अपनी ओर खींच लिया होगा। पर्वतीय चट्टानों का घनत्व २·७५ मानकर जब प्रेट महोदय ने हिसाब लगाया तो उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि सीस-रेखा का झुकाव उसकी गणना से काफी कम रहा। इसका कोई कारण उनकी समझ में नहीं आया। इसके दो ही कारण संभव हो सकते थे—

(१) पर्वतीय चट्टानों का घनत्व इतना अधिक न हो जितना अनुमान किया गया था और पर्वत हल्के पदार्थों से बने हों।

(२) पहाड़ों और ऊँचे भूमि-भागों के नीचे अधिक गहराई पर हल्के पदार्थ हों तथा निचले भागों के नीचे के पदार्थ भारी हों।

प्रथम संभावना को आधार मानकर कई लोगों ने पर्वतों को पानी के बुलबुले की तरह खोखले बताना शुरू किया। बाद में तथ्यों के आधार पर यह धारणा झूठी निकली।

३४. एअरी की व्याख्या—अस्तु, दूसरी संभावना को आधार मानकर सर जार्ज एअरी ने सुझाया कि जिस तरह हिम-शिला (Icederg) का अधिक भाग जल में डूबा रहता है और कुछ भाग जल से ऊपर रहता है उसी तरह ऊँचे पर्वत भी घने परन्तु लचीले लावा में स्थित हैं। इस व्यवस्था के बिना ऊँचे पर्वत किस प्रकार धरातल पर टिके रह सकेंगे ? ऊँचे भागों का टिका रहना तभी संभव है जब उनका अधिक भाग द्रव पदार्थ में डूबा रहे। इसका यह अर्थ हुआ कि ऊँचे भूभागों के नीचे

काफी गहराई तक हल्के पदार्थ ही रहते हैं। इसी आधार पर एअरी ने सुझाया कि सीस-रेखा का हिमालय की ओर खिंचाव हिसाब से कम इसलिए रहा कि इन ऊँचे पर्वतीय प्रदेशों ने अपने नीचे के हल्के पदार्थों द्वारा अधिक घनत्व वाले द्रव पदार्थ को हटा दिया है जिससे आकर्षण-शक्ति में कुछ कमी आ गयी है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि पर्वतीय प्रदेश अधिक घनत्व वाले अधोभाग (Substratum) में बह रहे हैं। एअरी महोदय की इस व्याख्या से समतुलन या आइसोस्टेसी के सिद्धान्त का सूत्रपात हुआ।

३५. **पृथ्वी का समतुलन**—आर्कमिडीज के प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार तैरने वाली वस्तु अपने नीचे से अपने भार के बराबर द्रव को हटा देती है। यही नियम पृथ्वी के लिए भी सत्य है। हल्के महाद्वीप भारी अधोभाग (Sudstratum) पर तैर रहे हैं प्रत्येक महाद्वीप अपने भार के बराबर नीचे से द्रव बसाल्ट को हटा देता है। इसीलिए महाद्वीपों की प्रकट ऊँचाई से काफी नीचे तक हल्के तत्त्व भरे हुए हैं। इसके प्रतिकूल महासागरों की तली भारी बसाल्ट के ऊपरी हिस्से पर स्थित है। इस प्रकार महासागरों की तली में भारी पदार्थ अधिक ऊँचाई तक आ जाने से महाद्वीपों और महासागरों का समतुलन हो रहा है।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि महाद्वीपों और महासागरों का तुलनात्मक भार समान है। परन्तु इस बात को ठीक रूप से समझने के लिए दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर मिलना आवश्यक है। प्रथम तो पृथ्वी के भीतर पदार्थों के घनत्व में अन्तर कहाँ और कैसे होता है? दूसरे इस अन्तर का प्रभाव स्थानीय होता है या प्रादेशिक? अर्थात् इस अन्तर का प्रभाव प्रत्येक स्थान पर अलग-अलग पड़ता है अथवा सम्पूर्ण महाद्वीप पर होता है और स्थान-स्थान पर अलग-अलग नहीं होता? इन प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल सका था। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में हेफोर्ड नामक वैज्ञानिक ने संयुक्त राज्य अमेरिका के समुद्रतट और आकार की खोज की। इस दिशा में इनका और बोवी महोदय का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

३६. **आकर्षण-शक्ति की नाप**—पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति पर अक्षांश, देशान्तर, समुद्रतल से ऊँचाई और स्थानीय तलरूप का प्रभाव पड़ता है अर्थात् इनके अनुसार पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति घट या बढ़ जाती है।

(१) **अक्षांश**—गुरुत्वाकर्षण शक्ति-सम्बन्धी सभी गणनाओं में समस्त पृथ्वी पिण्ड को उसके केन्द्र बिन्दु पर केन्द्रित माना जाता है। परन्तु पृथ्वी पूर्ण गोल नही है। भूमध्यरेखा पर कुछ फैल गई है और ध्रुवों के पास चपटी हो गई है। दूसरे शब्दों में भूमध्यरेखा की अपेक्षा ध्रुवों पर आकर्षण शक्ति का प्रभाव अधिक होता

है। अतएव भूमध्यरेखा से ध्रुवों की तरफ इसका प्रभाव बढ़ता जाता है।

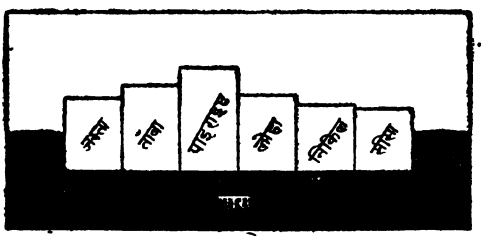
(२) **देशान्तर**—जिस प्रकार अक्षांश का गुरुत्वाकर्षण शक्ति पर प्रभाव होता है उसी तरह देशान्तर भी इस शक्ति पर प्रभाव डालती है। पृथ्वी की रचना किसी भी देशान्तर पर समान नही है। पृथ्वी के केन्द्र से देशान्तर देशान्तर में भी अन्तर पड़ जाता है। यह अन्तर भूमध्यरेखा पर विशेष रूप से प्रगट है। अतः गुरुत्वाकर्षण शक्ति का प्रभाव भी भिन्न-भिन्न होता है।

(३) **ऊँचाई**—विभिन्न ऊँचाइयों की पृथ्वी के केन्द्र बिन्दु से दूरी अलग अलग होगी। अतः गुरुत्वाकर्षण पर प्रभाव पडेगा।

(४) **तलरूप** (Topography)—पर्वत सीस-रेखा को अपनी तरफ खींच लेते हैं और इस प्रकार गुरुत्वाकर्षण शक्ति को प्रभावित करते है।

उपर्युक्त सभी बातों का हिसाब लगाकर और इनका ध्यान रखकर भी जब किसी स्थान की आकर्षण-दिशा की गणना की जाती थी तो उस गणना और असली आकर्षण की दिशा में कुछ अन्तर हमेशा रह जाता था। इस अन्तर का असली कारण न मालूम होने के कारण लोगो ने इस अन्तर का नाम 'आकर्षण की असंगति' रख दिया। इस असंगति का कारण ढूँढ़ने के प्रयत्न होने लगे।

क्षतिपूर्ति का तल—हेफोर्ड और बोवी ने भी आकर्षण की असंगति को समझाने के लिये एक सुझाव उपस्थित किया। इसके लिए उन्होंने एक गणना की। उन्होने अपनी गणना के लिए एअरी का माना हुआ सिद्धान्त स्वीकार नही किया। एअरी ने माना था कि तैरने वाली वस्तु अपने भार के बराबर द्रव पदार्थ हटा देती है। परन्तु यह नियम तैरने (Floating) के सम्बन्ध में आधारभूत नियम नहीं है। आधारभूत नियम है कि समान क्षेत्रफल वाले भागों के नीचे का भार भी एक समान ही होता है। इसी नियम को आधार बनाकर हेफोर्ड और बोवी ने गणना की और इस नतीजे पर पहुँचे कि भूपृष्ठ में भीतर विभिन्न घनत्व के भाग मौजूद है। उन्होंने बताया कि पृथ्वी के गोले पर धरातल से कुछ गहराई पर एक ऐसा तल (Level) मिलता है जिसके नीचे सारी पृथ्वी का घनत्व एक-समान है। इस तल का नाम उन्होंने क्षतिपूर्ति का तल (Compensation Level) रक्खा। इस क्षतिपूर्ति के तल के ऊपर



चित्र १५. पारे में धातु-स्तम्भ

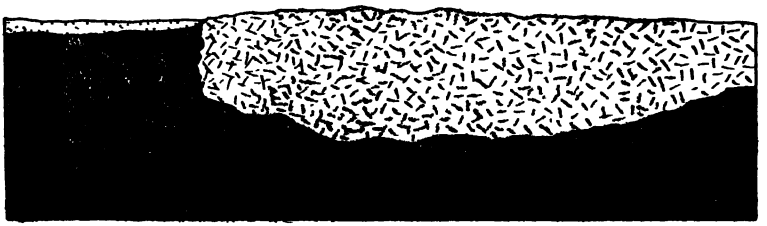
के पदार्थों के घनत्व में अन्तर पड़ जाता है। इस अन्तर को समझाने के लिए उन्होंने बताया कि यदि इस तल के ऊपर एक समान प्रच्छेद (Cross Section) वाले स्तम्भ खड़े कर दिये जायें तो उनका घनत्व उनकी ऊँचाई के विलोम के अनुपात में होगा। उदाहरण के लिए दिये हुए चित्र नं० १५ में अलग-अलग घनत्व वाले धातुओं के टुकड़े पारे पर इस प्रकार खड़े हैं कि सभी पारे पर बराबर-बराबर दबाव डाल रहे हैं। (यहाँ पारा ही क्षतिपूर्ति का तल बताता है) इन धातुओ के टुकड़ों का घनत्व इनकी ऊँचाई के विलोम के अनुपात में है। इस उदाहरण से आप समझ गये होंगे कि हेफोर्ड और बोवी के मत से पर्वत, पठार मैदान और समुद्रों के नीचे क्षतिपूर्ति के तल तक अलग अलग घनत्व के पदार्थ भरे है। इस प्रकार अलग-अलग घनत्व के क्षेत्र स्थान-स्थान पर अलग-अलग हुए।

इस प्रकार हमने देखा कि उपर्युक्त क्षतिपूर्ति के तल वाले सिद्धान्त के अनुसार समतुलन स्थानीय होता है। इस प्रकार क्षतिपूर्ति के तल वाले सिद्धान्त से भी समस्या पूर्णरूप से हल नही हुई क्योंकि इस प्रादेशिक समतुलन के किसी कारण भंग हो जाने पर फिर यह समतुलन किस प्रकार पुनः स्थापित होता है यह नई समस्या उत्पन्न हो गई।

३७. समतुलन स्थापित होने का ढँग—प्रश्न यह उठा कि इन क्षेत्रों के समतुलन भंग हो जाने पर फिर सन्तुलन किस प्रकार स्थापित होगा? जैसे-जैसे किसी ऊँचे प्रदेश को चट्टानें घिसघिसाकर छीलन के रूप में निचले भागों में जमा होती रहती है वैसे-ही-वैसे जमा की हुई छीलन के नीचे की धरती का बोझ बढ़ता जाता है। धीरे-धीरे करोड़ों मन बोझ जमा हो जाता है। इस कारण जब सन्तुलन बिगड़ने लगता है तो ऊँचे भाग घिसकर हल्के हो जाने के कारण ऊँचे उठ जाते है और निचले भाग नीचे धँसते जाते है। इस क्रिया को पूरा करने के लिए यह कल्पना की गयी कि निचले भागों पर ऊपरी बोझ का अधिक दबाव पड़ने से उनके नीचे का द्रव मैग्मा ऊँचे भागों की ओर बहने लगता है और फिर सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

३८. समतुलन स्थानीय नहीं किन्तु प्रादेशिक—ऊपर बताए हुए अलग-अलग घनत्व के क्षेत्र महाद्वीपों में अलग-अलग स्थानों पर किसी प्रकार भी संभव नहीं हैं। पृथ्वी पर स्थान-स्थान पर घनत्व की भिन्नता बताना बे-सिर-पैर की-सी बात है। यह सिद्धान्त भूतत्व के दृष्टिकोण की उपेक्षा करता है। इससे एक ओर तो क्षैतिज गतियों (दाईं या बाईं तरफ होने वाली गतियों) की पूर्ण उपेक्षा होती है। दूसरी तरफ ऊपर नीचे की तरफ होने वाली गतियों को बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया है। इससे प्रगट होती है कि इस सिद्धान्त के समर्थक पृथ्वी की संरचना से पूर्णतया अभिज्ञ

नहीं है। वास्तव में पृथ्वी पर विभिन्न घनत्व के परत ही चढ़े हुए हैं। जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। समतुलन के सिद्धान्त मे इस तथ्य का भी समावेश होना चाहिए। अस्तु, हेफोर्ड महोदय ने क्षतिपूर्ति के तल (Compensation Level) के ऊपर के भूपृष्ठ की बनावट के सम्बन्ध मे दूसरा सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त के अनुसार क्षतिपूर्ति के तल के ऊपर १० मील की मोटाई का एक परत है। इस



चित्र १६. समतुलन

परत में अलग-अलग घनत्व के पदार्थ समतुलन स्थापित करते हैं। इस परत के ऊपर २५ मील की मोटाई और सबसे ऊपर २७ मील मोटा परत है। यदि हेफोर्ड के सबसे ऊपरी परत की मोटाई २७ मील से कम मान ली जाय, तो हेफोर्ड का नया सिद्धान्त निरीक्षणों के आधार पर सत्य प्रमाणित होता है। १९३५ ई० में जौली नामक विद्वान ने यह प्रदर्शित किया कि घनत्व का यह नया हिसाब कई अंशों में एअरी द्वारा बताये हुए सिद्धान्त के सम कक्ष ही है। १० मील मोटे परत में हल्के पदार्थों का होना वास्तव में बहने वाली वस्तु का भारी द्रव को हटाकर समतुलन करने के समान ही है जैसा कि चित्र द्वारा प्रकट होता है। हेफोर्ड ने क्षतिपूर्ति के तल को धरातल से ६० या ७० मील की गहराई पर बताया है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उसकी गहराई ४० मील है। सम्भव है कि विभिन्न स्थानों पर इसकी गहराई ३७½ से ६२½ मील के बीच में हो।

पृथ्वी पर समतुलन इतना सत्य है कि सभी इसे स्वीकार करते हैं। बहुत से विद्वानों के मत से समतुलन एक सिद्धान्त ही नहीं किन्तु एक तथ्य है। बैरल और जौली प्रभृति विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से समतुलन को एक तथ्य स्वीकार किया है। जौली का कथन है कि संभव है लोग समतुलन के सिद्धान्त से आंशिक रूप से मतभेद रखते हैं किन्तु इसको पूर्णरूप से कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि यह एक तथ्य है।

सारांश

पृथ्वी के गर्भ में क्या-क्या भरा पड़ा है और उसकी कैसी दशा है? इस सम्बन्ध में जानकारी हासिल करते समय तीन मुख्य समस्यायें सामने आती हैं—

(१) पृथ्वी केन्द्रीय भाग की ओर अधिकाधिक भारी होती जाती है। इस भारीपन के बढ़ते जाने का क्या कारण है ?

(२) पृथ्वी का केन्द्रीय पिण्ड ठोस है या द्रव है अथवा वायव्य अवस्था में है ?

(३) भूगर्भ के अन्दर कौनसी ऐसी विशेष प्रक्रिया है जिसके कारण पृथ्वी के धरातल पर ऊँचे पर्वत और गहरे समुद्र पास-पास स्थित हैं ?

उपर्युक्त तीनों समस्याओं के निम्न उत्तर खोजे गए हैं जिनकी सत्यता के बारे में काफी प्रमाण भी मिल चुके हैं—

(१) पृथ्वी ऊपरी दबाव से ही भीतर की ओर भारी नही होती गयी है, बल्कि पृथ्वी के भीतर विभिन्न घनत्व के कुछ परत हैं। ये परत पृथ्वी पर इसी प्रकार चढ़े हुए हैं जिस प्रकार प्याज पर कई छिलकों के परत होते हैं। इन परतों के क्रम निम्नलिखित हैं—

(क) **केन्द्रीय धातुपिण्ड**—पृथ्वी के बीचोंबीच लगभग ४,३०० मील का गोला (घनत्व ११)।

(ख) **मिश्रित पिण्ड**—धातुपिण्ड के ऊपर १,००० मील मोटा परत। इस परत में धातुयें और सिलीकेट मिली हुई हैं (घनत्व ५)।

(ग) **बसाल्ट परत**—मिश्रित पिण्ड के ऊपर ७०० मील मोटा परत। (घनत्व ३½)।

(घ) **ग्रेनाइट-परत**—बसाल्ट परत के ऊपर तैरता हुआ सबसे ऊपरी परत। यह परत महासागरों पर फैला हुआ नहीं है। (घनत्व २½)।

(२) जैसा कि हमें मालूम है पृथ्वी के भीतर की ओर गर्मी की मात्रा बढ़ती जाती है। अतः गर्मी की अधिकता के कारण पृथ्वी का केन्द्रीय भाग पूर्णतया ठोस नहीं है किन्तु कुछ लचीला है। ठोस पदार्थों में स्थिरता (Rigidity) और कठोरता दो गुण हुआ करते हैं। पृथ्वी के केन्द्रीय भाग में ठोस पदार्थों जैसा एक ही गुण है। अर्थात् वह स्थिर (Rigid) तो है परन्तु इसमें कठोरता नहीं है और इसी कारण यह भाग अत्यधिक दबाव पड़ने पर बहने लगता है।

(३) पृथ्वी के ऊपरी भाग में ग्रेनाइट का परत है जो बसाल्ट के परत का कुछ अंश हटाकर महाद्वीपों के रूप में स्थित है। समुद्रों की तली में प्रायः ग्रेनाइट का परत नहीं है। बल्कि वहाँ पर ग्रेनाइट के परत द्वारा हटाया हुआ बसाल्ट आकर जम गया है। इस प्रकार ऊँचे महाद्वीपीय भागों और गहरे समुद्रों का सन्तुलन हो रहा है।

प्रश्न

1. What do you know about the structure of the earth ? How do Seismographic records provide the most powerful available means exploring the earth's interior ?

2. Examine critically the salient aspects of the theory of Isostacy and discuss how far it explains the problems of physical Geography.

(*I.A.S. Exam. 1953*)

3. Discuss the theory of Isostacy.

(*Ban. M.A. 1949; Ban M.Sc. Geol. 1944, 47, 49, 50, 51, 52: Lucknow M.Sc. Goel. 1950, 51, 52; Agra B.A. 47, 53, 54*)

4. Write short notes on (a) Gravity Anonaly (b) Isostacy.

(*Agra M.A. 1950*)

5. Write an essay on the physical state of the earth's interior.

(*Ban. M.A. & M.Sc. Geol. 1949*)

चौथा अध्याय

धरातल की प्रधान रूपरेखा

(Main Features of Earth Surface)

३९. समस्या का रूप—पृथ्वी का सबसे ऊपरी पृष्ठ अर्थात् भूपटल (Crust) दो प्रधान रूपों में विभक्त है। इसके ७१ फ़ी सदी भाग पर बहुत विशाल गड्ढे हैं। इन गड्ढों में पानी भरा है और महासागर कहलाते हैं। शेष २९ प्रतिशत भाग जल से बाहर है और महाद्वीप नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृति की कौनसी योजना के परिणाम-स्वरूप धरातल पर इन प्रधान रूपों का निर्माण हुआ यह अभी तक अज्ञात है। पृथ्वी के इन प्रधान रूपों के निर्माण का विषय अत्यन्त विवादास्पद है।

प्राचीन भूतत्त्ववेत्ताओं (Geologists) ने भू-पटल पर अधिकांश स्थानों के ऊपर परतदार चट्टानें (सागरगर्भ में निर्मित होने वाली Sedimentary Rocks) बिछी देखी और समुद्रो के स्थान पर पर्वतों को खड़ा देखा। पर्वत घिसघिसाकर नष्ट हो गए थे और उनके ऊपर समुद्र ने आक्रमण करके उन्हें जलमग्न कर दिया था। इन आधारों के अनुसार प्राचीन विद्वानों ने यह धारणा की कि जल और स्थल का वितरण (Distribution of Land and Sea) अस्थायी है। स्थल पर बिछी हुई परतदार चट्टानों (Sedimentary Rocks) के अध्ययन से पता चला कि उनका जन्म उथले सागरों में हुआ होगा। महासागरों की गहराई नापने का कोई साधन उन दिनों तक मालूम न हो पाया था। फलतः प्राचीनकाल में समुद्र की गहराई भी अधिक नही मानी जाती थी।

४०. क्या जल और स्थल का वितरण स्थायी है ?—यह सभी विद्वान् मानते हैं कि स्थल के निचले भागों पर अनेकों बार समुद्र का आक्रमण हुआ है और फिर वे ही भाग कई बार समुद्र-तल से ऊँचे उठे हैं। परन्तु विवाद का विषय सागरों की अगाध तली के स्थायित्व के सम्बन्ध में है अर्थात् प्रश्न यह है कि क्या महासागरों की अगाध तली (Deep Beds) भी समुद्र से ऊँची उठकर स्थल का भाग बन चुकी है ? दूसरे शब्दों में समस्या यह है कि जल और स्थल का वर्तमान वितरण (Distribution) प्रकृति की किसी विशेष व्यवस्था के कारण स्थायी है अथवा यह वितरण अस्थायी है और इसमें परिवर्तन हो सकता है।

महासागरों की गहरी तली के स्थायी होने के निम्न प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) महासागरों की गहरी तली पर लाल मिट्टी (Red Clay) और सूक्ष्म

मिट्टी (Ooze) बिछी मिली है। इन मिट्टियों से बनी हुई चट्टानों में ऐसी विशेषता होगी जिससे उन्हें साफ तौर से पहचाना जा सकेगा। ऐसी चट्टानें महाद्वीपों में कहीं भी नहीं मिलीं। भू-खण्ड की परतदार चट्टानों में ऐसी चट्टानों का न मिलना यह संकेत करता है कि सागरों की गहरी तली कभी भी स्थल का भाग नहीं बनी।

(२) परतदार चट्टानों के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि उनका निर्माण उथले समुद्रों में हुआ है। इसलिए जब तक हम यह क्लिष्ट कल्पला न कर लें कि समुद्रों में पानी की मात्रा प्रायः घटती-बढ़ती रहती है तब तक हमें यह मानना ही पड़ेगा कि महासागरों की गहरी तली अति प्राचीन काल से यथावत् ही रही है और उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

दूसरी बात यह है कि यदि हम मान भी लें कि गहरे समुद्र उथले होते रहे हैं, तो हमें गहरे सागरों के जल को रखने के लिए कहीं-न-कहीं दूसरे स्थान पर गहरे गर्त (गड्ढे) होने की कल्पना करनी पड़ेगी। हम समतुलन के सिद्धान्त पर विचार करते समय यह देख चुके है कि गहरे गड्ढों के नीचे के पदार्थ भारी होते हैं। यदि स्थल के भाग गहरे गर्त बनेंगे, तो उनमें महान् रसायनिक तथा भौतिक परिवर्तन करके अपने आप ही अधिक भारी पदार्थ बन जाने की योग्यता मान लेनी पड़ेगी। किन्तु ऐसा परिवर्तन करने वाली कोई व्यवस्था (Mechanism) अभी तक ज्ञात नही हो सकी है।

(३) सामुद्रिक क्षेत्रों में स्थित ज्वालामुखी पर्वतों से उद्‌गार के समय प्रायः बसाल्ट (पैठिक) लावा ही अत्यधिक मात्रा में निकलता है। पैठिक लावा भारी बसाल्ट चट्टानों से बनता है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति के निरीक्षणों और भूकम्प की लहरों से भी यही प्रमाणित होता है कि महाद्वीपीय चट्टानें महासागरों की गहरी तली से हल्की हैं। ऐसी अवस्था मे यदि सागर की गहरी तली महाद्वीप का भाग बनेगी, तो उसमें भी भारी रसायनिक और भौतिक परिवर्तन आवश्यक होंगे।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर भूतत्त्ववेत्ताओं को यह विश्वास हो गया कि महासागरों की तली का निर्माण पृथ्वी की प्रारम्भिक अवस्था में ही स्थायी रूप से हो चुका था। किन्तु कुछ प्रमाण ऐसे मिले जिनकी उपेक्षा नही की जा सकती थी। जीव-विज्ञान-वेत्ताओं ने महासागरों द्वारा सहस्रों मील दूर किए हुए महाद्वीपों के पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं में आश्चर्यजनक समता देखी। उदाहरण के लिए अटलाण्टिक महासागर के दोनों किनारों पर विभिन्न काल के जीव-जन्तुओं में काफी समता मिली। आश्चर्य तो यह है कि स्काटलैण्ड के उत्तर-पश्चिमी पर्वतों पर पुरानी चट्टानों के जीव-अवशेष या परतों के क्रम उसी युग की वेल्स (Wales) की चट्टानों के जीव-अवशेषों

या परतों से कोई मेल नही खाते, परन्तु समुद्र पार संयुक्त राज्य के पूर्वी भाग की चट्टानों से उनका बहुत साम्य है। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया का थैली वाला 'मारसूपियल' नामक विशेष जन्तु चिली देश में जीवित अवस्था में पाया गया तथा दक्षिणी अमेरिका के अन्य भागों में उसके फ़ौसिल्स (अवशेष) मिले। आश्चर्य तो यह है कि उत्तरी गोलार्द्ध में इस जन्तु का कोई भी चिन्ह न मिला। इन प्रमाणों से प्रभावित होकर विद्वानों ने अपनी कल्पना की उड़ान के आधार पर महाद्वीपों में आपसी सम्बन्ध बनाए रखने के लिए गहरे महासागरों के आर-पार 'स्थल-पुलो' (Land Bridges) की रचना कर डाली और इस प्रकार एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक पहुँचने का मार्ग सरल कर दिया। धीरे-धीरे विद्वानो ने यह अनुभव किया कि यह कल्पना अत्यन्त भ्रामक और नितान्त असंभव है। इस प्रकार के 'स्थल-पुल' पृथ्वी के समतुलन को नष्ट करके भारी समुद्र-तली पर किस प्रकार स्थिर रह सकते है ? अथवा, इन स्थल-पुलो के नीचे सागर-तली के भारी पदार्थ किस प्रकार हल्के बन सके ? इन स्थल-पुलों के लिए विशेष अवस्था की कल्पना करना पड़ेगी। यह अवश्य है कि स्थल-पुलों की कल्पना पृथ्वी के प्रधान रूपों की स्थायित्व का समर्थन करती है।

४१. महाद्वीपों और सागरों की उत्पत्ति—यदि महाद्वीपों और महासागरों की तली में बहुत थोड़े हेरफेरों के अतिरिक्त कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नही हुआ है, तो फिर उनकी उत्पत्ति का क्या कारण हो सकता है ? महाद्वीपों और महासागरो की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। उनमें से प्रमुख कल्पनाएँ संक्षेप में नीचे लिखी जा रही है—

कैल्विन का मत—अपने निर्माण के समय पृथ्वी वायव्य अवस्था में थी। उस समय महाद्वीप ऐसे आकर्षण के केन्द्र थे जहाँ पर आद्य पदार्थ विशेष रूप से एकत्र हो गए थे। वायव्य अवस्था समाप्त होने पर आद्य पदार्थो का जमाव महाद्वीपो का कारण बना।

सौलेस का मत—पृथ्वी की प्रारंभिक अवस्था में वायुमण्डल का दबाव कहीं पर अधिक था और कही पर कम। जहाँ पर दबाव की अधिकता थी वहाँ पर गड्ढे बने और जल भरने पर महासागर बन गए। जिन स्थानों पर दबाव कम था वे ऊँचे उठे रह गए और महाद्वीप बने। इस प्रकार इनके निर्माण का कारण वायुमण्डल के दबाव की विभिन्नता है।

लोथियन ग्रीन का मत—यदि हमारी पृथ्वी की उत्पत्ति सूर्य से हुई है ; तो पृथ्वी का ठोस धरातल भी वायव्य अवस्था से पहले द्रवावस्था में और फिर द्रव से ठोस रूप में बना होगा। पृथ्वी का भीतरी भाग अभी तक गरम है और धीरे-धीरे

ठण्डा हो रहा है । पृथ्वी की इस उत्पत्ति को आधार मानकर लोथियन ग्रीन ने १८७५ ई० में महाद्वीपों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक परिकल्पना प्रस्तुत की जिसे चतुष्फलक का सिद्धान्त (Tetrahedral Theory) कहा जाता है । ग्रेगरी नामक विद्वान् ने इस सिद्धान्त का रूप सजाकर लोगों के सामने रक्खा ।

४२. चतुष्फलक का सिद्धान्त (Tetrahedral Theory)—पृथ्वी के मानचित्र का अध्ययन करने से पता चलता है कि प्रायः सभी स्थल और जलखण्ड त्रिभुजाकार हैं । इन त्रिभुजों की दो विशेषताएँ है । पहली विशेषता तो यह है कि सभी स्थलखण्डों के त्रिभुजों का आधार उत्तर की ओर है और शीर्ष दक्षिण की ओर । परन्तु जलखण्डो के त्रिभुज स्थलखण्डो के बिल्कुल विपरीत है अर्थात् उनका आधार दक्षिण की ओर और शीर्ष उत्तर में है । दूसरी विशेषता यह है कि स्थलखण्डों की स्थिति भी जलखण्डों के ठीक विपरीत है । पृथ्वी के केन्द्र से यदि एक सीधी रेखा पृथ्वी के दोनों ओर खींची जाय, और यदि उसका एक सिरा स्थल को छूता हो, तो दूसरा सिरा जल को छुएगा । इस प्रकार अफ्रीका और यूरोप प्रशान्त महासागर के विपरीत है, उत्तरी अमेरिका हिन्द महासागर के प्रतिध्रुव (Antipode) स्थित है, एशिया और आस्ट्रेलिया अटलाण्टिक महासागर के विपरीत है तथा एण्टार्कटिका महाद्वीप आर्कटिक महासागर के प्रतिध्रुव (Antipode) स्थित है । महाद्वीपों और महासागरों की इस प्रकार त्रिभुजाकार स्थिति महत्त्वपूर्ण होनी चाहिए । इस स्थिति का कारण यह है कि पृथ्वी का भीतरी भाग धीरे धीरे ठण्डा होकर सिकुड़ता जाता है अर्थात् उसका आयतन घटता है । परन्तु ऊपरी धरातल पहले ही से ठोस और कड़ा हो गया है । अतः वह सिकुड नही सकता । ऐसी अवस्था में पृथ्वी को ऐसी आकृति में आना पड़ रहा है जिसका धरातल बड़ा होने पर भी आयतन (Volume) कम हो । विद्वानों के मत से ऐसी आकृति चार फलक (Faces) वाली चतुष्फलक (Tetrahedron) ही हो सकती है । यदि गोले और चतुष्फलक का क्षेत्रफल बराबर हो, तो गोले के आयतन से चतुष्फलक का आयतन कम होगा । विद्वानों के मत से पृथ्वी अभी पूर्ण चतुष्फलक के आकार में नही पहुँच पायी है । परन्तु ज्यों-ज्यों ठण्डी होती जा रही है, चतुष्फलक की आकृति पूर्णता को प्राप्त होती जा रही है । चतुष्फलक वह ठोस आकृति है जो चार सम-त्रिबाहु त्रिभुजों के मिलाने से बनती है । यदि सम-त्रिबाहु त्रिभुज को आधार मानकर उसकी तीनों भुजाओं पर तीन सम-त्रिबाहु त्रिभुज खड़े करें और इन तीनों के शीर्षो को मिलाकर एक आकृति में बदल दें, तो यह आकृति चतुष्फलक बन जायगी । यदि इस चतुष्फलक को उलटकर शीर्ष पर खड़ा कर दिया जाय, तो पृथ्वी की आकृति बहुत कुछ इससे मिलती-जुलती होगी । इसके ऊपरी

तल पर आर्कटिक सागर और शेष तलों पर बाकी तीनों महासागरों की स्थिति होगी इसके उभरे हुए सिरों पर उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, यूरोप और अफ्रीका तथा एशिया और आस्ट्रेलिया होगे। शीर्ष पर एण्टार्कटिका महाद्वीप होगा।

यद्यपि यह सिद्धान्त बहुत दिनों तक मान्य रहा, परन्तु आजकल इसका अस्वीकृत किया जाता है। इसके विरोध में सबसे बड़ा तर्क यह है कि नाचते हुए पृथ्वी-पिण्ड पर चतुष्फलक की आकृति द्वारा सन्तुलन स्थापित किया ही नहीं जा सकता।

जीन्स का मत—पृथ्वी-पिण्ड निरन्तर नाचते रहने के कारण नासपाती की आकृति के समान बन गया और तभी उसमें जमाव भी शुरू हुआ। ऐसी अवस्था में जमकर ठोस बनने का अर्थ यह हुआ कि उसमें निम्नलिखित अवयव अवश्य होगे—(१) नासपाती के उभरे हुए भाग के पास महाद्वीपीय खड, (२) नासपाती की ग्रीवा या झुकाव के समीप महासागर की स्थिति, (३) स्थल गोलार्द्ध के प्रतिध्रुव या ठीक विपरीत कोई छोटा-सा स्थलखण्ड।

इसके मत के अनुसार पृथ्वी के ठण्डे होते समय दोनो गोलार्द्धो में पारस्परिक खचाव पैदा होगा जिससे भूमध्यरेखा के समीप कुछ उभार पैदा हो जायगा।

४३ भूपृष्ठ की संरचना और बनावट (Structure of Earth Crust)—पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अधिकाश विद्वान् ज्वार वाले सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इसीलिए पृथ्वी की प्रारम्भिक दशा की उपमा लोहे गलाने की भट्ठी में पिघले हुए लोहे से दी जाती है। जिस प्रकार कढ़ाई में भारी पदार्थ नीचे बैठ जाते है और हल्का मैल ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी पर विभिन्न घनत्व के परत बनते गए। 'भूगर्भ की झाँकी' मे इन परतो का वर्णन हो चुका है। भूपृष्ठ की संरचना के सम्बन्ध मे अधिकाश विद्वानो की राय है कि इसमें विभिन्न घनत्व के दो परत हैं। विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि समुद्रों की अगाध तली महाद्वीपों से घनत्व में अधिक है। परन्तु प्रमुख समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रहती है कि महासागरों और महाद्वीपों का वर्तमान वितरण किस प्रकार सम्भव हो सका। घनत्व के विभिन्न परतो के आधार पर सिआल का हल्का महाद्वीपीय परत भी उसी प्रकार जमना चाहिए जिस प्रकार कढ़ाई में पिघले हुए लोहे का मैल कढ़ाई के सम्पूर्ण तल पर जम जाता है। अभी तक किसी भी ऐसी प्रक्रिया का पता नहीं चल पाया है जिससे हल्के पदार्थो के अलग-अलग स्थानों पर जमकर ठोस बनने की बात गले उतर सके। अत. ऐसी संभावना ही सत्य हो सकती है कि प्रारम्भ में सिआल सम्पूर्ण पृथ्वी पर ही फैला हुआ हो परन्तु बाद में

किसी कारण से टूटकर छिन्न-भिन्न हो गया हो । इस सम्बन्ध में विद्वानों ने विभिन्न सुझाव उपस्थित किये हैं।

४४. सिआल का छिन्न-भिन्न होना—इस सम्बन्ध में सबसे सरल कल्पना चन्द्रमा के जन्म की है। जेम्स जीन्स नामक सुप्रसिद्ध गणितज्ञ ने यह सिद्ध किया था कि घूमने वाला पिण्ड धीरे-धीरे नासपाती की आकृति के समान नुकीला हो जायगा। इसका नुकीला भाग नाचने की तेज़ी में शेष भाग का साथ न दे सकने के कारण टूटकर अलग हो जायगा । फिशर महोदय ने सुझाया कि चन्द्रमा के अलग हो जाने से स्थलमण्डल में जो गड्ढा बन गया उसमें जल भर जाने से ही प्रशान्त महासागर बना है। जेफरे के मतानुसार चन्द्रमा पृथ्वी से उस समय अलग हुआ होगा जब कि पृथ्वी का ऊपरी परत कुछ ठोस बन चुका होगा। इस सम्बन्ध में मज़ेदार बात यह है कि यदि जलमण्डल के ऊपर से ४० मील मोटा परत निकाल लिया जाय, तो उससे चन्द्रमा के बराबर एक गोला बन सकता है। कुछ लोगों की आपत्ति है कि सिआल का परत कहीं भी ४० मील मोटा नहीं है। परन्तु जब हम देखते हैं कि चन्द्रमा का घनत्व ३·५ है जो सिआल से काफ़ी अधिक है, तो यह स्पष्ट समझ में आता है कि चन्द्रमा के अलग होते समय सिआल के साथ भारी और अर्द्ध-द्रव धातुओं का भी सम्मिश्रण रहा होगा।

अपनी समस्या का ऐसा सरल समाधान खोजकर हम बहुत ही प्रसन्न होते, परन्तु प्रयोगशालाओं में द्रव सिलिकेटों पर किये गये प्रयोग उपर्युक्त मत के विरुद्ध प्रमाण देते हैं। इन प्रयोगों से प्रतीत होता है कि सिलिकेटों के परत में से सिमा और सिआल परत उनके ठोस होने के प्रारम्भ मे अलग हो जायेंगे, परन्तु उस अवस्था में सिआल इतना कड़ा हो चुका होगा कि उसमें से चन्द्रमा का अलग होना सम्भव नहीं हो सकता।

जौली की सम्मति है कि प्रारम्भ-काल में जब पृथ्वी द्रवावस्था में थी और संवाहन किया (Convection) द्वारा ठण्डी हो रही थी उसी समय उस पर जो हल्का भाग ठण्डा होकर जमता था उसे संवाहन की धारायें एक स्थान से तोड़कर अन्य स्थान पर एकत्र करती जाती थीं। इस प्रकार धीरे-धीरे सिआल का परत मोटा होता गया और आज के महाद्वीप बन गये। इस व्यवस्था को स्वीकार करने में बहुत सी कठिनाइयाँ हैं। सबसे अधिक कठिनाई यह है कि रवे (स्फट) हमेशा द्रव पदार्थों को धीरे-धीरे ठण्डा करने से ही बनते हैं। सिमा के भीतर सिआल के खण्ड मौजूद होने के प्रमाण मिले हैं। अतः समस्या यह है कि ग्रेनाइट आदि रवेदार चट्टानें पिघले हुए सीमा के भीतर किस प्रकार धीरे-धीरे ठण्डी होकर रवों के रूप में जम सकीं।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि प्रारम्भ-काल में सिआल का परत समस्त पृथ्वी-पिण्ड को आच्छादित किये था। किन्तु उषःकल्प (Pre-cambrian) में, जिसकी अवधि पौने दो अरब वर्ष अर्थात् शेष तीनों कल्पों की सम्मिलित अवधि से तिगुनी समझी जाती है, पृथ्वी पर कई बार पर्वत-निर्माणकारी हलचलें हुईं। प्रत्येक हलचल के समय सिआल के परत में ऊँची-नीची मोड़ें पड़ गयी और कुछ भाग टूटकर अधःस्तर में गिरकर विलीन हो गए। इस प्रकार सिआल भाग के टूटने और मोड़ पड जाने से वर्तमान महाद्वीपों का निर्माण हुआ है। इस सिद्धान्त के समर्थन में कहा जाता है कि यदि इन सभी सिकुड़नों को सीधा करके फैला दिया जाय तो सिआल का परत महासागरों के खाली भागों को ढँक लेगा। इस सिद्धान्त की सचाई की जाँच अभी वैज्ञानिकों को करनी बाकी है। सिआल के छिन्न-भिन्न होने का जो कुछ भी कारण हो, परन्तु उसके वितरण के सम्बन्ध में अधिकांश विद्वानों की सम्मति थी कि महाद्वीपों और महासागरों की आकृति व स्थिति स्थायी है। उनकी आकृति में बहुत थोड़ा परिवर्तन हुआ है। कुछ निर्बल क्षेत्र समय-समय पर बनते रहे हैं और उनमें परिवर्तन होते रहे हैं, परन्तु महासागरों की अगाध तली और महाद्वीपों की वास्तविक आकृति और स्थिति ज्यों-की-त्यों रहती आई है। इस सम्बन्ध में स्वैस का मत काफी महत्त्वपूर्ण है।



चित्र १७. सिआल को छिन्न-भिन्न करने वाली हलचलें

स्वैस का मत—इसके अनुसार भूपटल दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है—

१. कठोर अवरोधी भाग (Resistant Parts).

२ नरम भाग (Non-Resistant Parts).

१. कठोर भागों में चार खण्ड मुख्य हैं : कनाडा का वर्मदेश (Laurencian Shield), बाल्टिक वर्मदेश (Baltic Shield), अंगारालैण्ड और गोंडवानालैण्ड। इन कठोर भागों पर मोड़ों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः ये प्रारम्भ से ही यथावत बने रहे हैं।

२. नरम भाग अपेक्षाकृत निर्बल प्रदेश हैं। इन पर मोड़ का प्रभाव पड़ता रहा है जिससे मोड़ के ऊंचे उठे हुए भाग महाद्वीपो के भाग बन गये। परन्तु मोड़ के नीचे धंसने वाले भाग सागर बनते रहे।

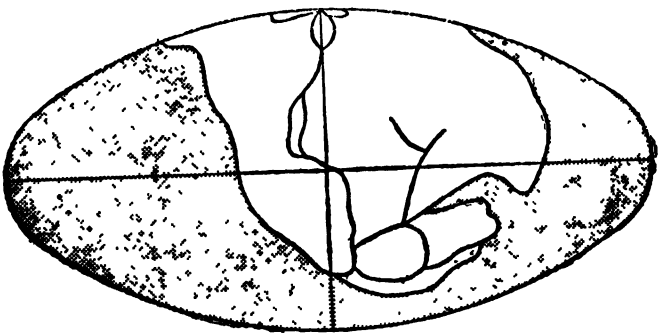
महाद्वीपों की उत्पति सम्बन्धी कुछ नवीन सिद्धान्त

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कुछ विद्वानों ने महाद्वीपों की स्थायी स्थिति को असत्य बताया तथा महाद्वीपों के प्रवाह के सिद्धान्त प्रस्तुत किये। इन सिद्धान्तों में वैगनर का महाद्वीपों के दायें-बायें खिसकने का सिद्धान्त और जौली का महाद्वीपों के ऊपर-नीचे हटने का तापीय चक्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। हम समतुलन के सिद्धान्त पर विचार करते समय सिमा के भीतर सिआल के स्तम्भों का वर्णन कर चुके हैं। वैगनर का मत है कि सिआल के महाद्वीपीय स्तम्भ सिमा पर स्थित नही हैं, किन्तु उसमें उसी प्रकार प्रवाहित होते हैं जिस प्रकार लकड़ी का लट्ठा जल में बहता रहता है।

४५ वैगनर का महाद्वीपीय प्रवाह वाला सिद्धान्त (Continental Drift)—एल्फ्रैड वैगनर नामक एक जर्मन वैज्ञानिक जलवायु सम्बन्धी गुत्थियों को सुलझाने में उलझ रहा था। अनेकों स्थानों पर फौसिल (अवशेष) आदि ऐसे चिन्ह मिले थे जिनसे यह प्रमाणित होता था कि सभी भागों की जलवायु में विशेष परिवर्तन हुए हैं। मरुस्थलों में किसी समय हरे-भरे मैदान थे, ध्रुवीय प्रदेशों में काफी गर्मी पड़ती थी और भूमध्यरेखिक भागों में काफी ठण्ड रह चुकी थी। उदाहरण के लिए मध्य यूरोप के धरातल पर ऐसे चिन्ह मिले थे जिनसे यह सिद्ध होता था कि यह भाग किसी समय हिमाधरण (Ice Sheet) से आवृत था। इन सबका क्या कारण हो सकता था? विभिन्न स्थानों पर जलवायु के बदलने के दो ही कारण हो सकते है—(१) या तो महाद्वीप एक स्थान से दूसरे स्थान पर हट जाते है, अथवा (२) जलवायु ही बदला करती है। जलवायु के परिवर्तन के सम्बन्ध में विद्वानों ने कई सुझाव रक्खे, परन्तु कोई भी सुझाव संतोषप्रद नही निकला। १९१२ ई० में वैगनर ने महाद्वीपों के इधर-उधर खिसकने की बात सुझाई। पर्वत-निर्माण के समय दो पड़ौसी देशों के समीप आने की बात कई विद्वानों ने सुझाई थी। परन्तु उस पर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया था। १९२२ ई० में वैगनर ने इस विचार को सिद्धान्त का रूप दे दिया। इस प्रकार वैगनर ने प्रथम संभावना के आधार पर अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

संसार के मानचित्र का अध्ययन करते समय वैगनर ने देखा कि दक्षिणी अमेरिका का पूर्व की ओर निकला हुआ ब्राजील वाला भाग गिनी की खाड़ी में पूर्णतया सटाया जा सकता है। इसी आधार पर अटलाण्टिक महासागर के दोनों तटों

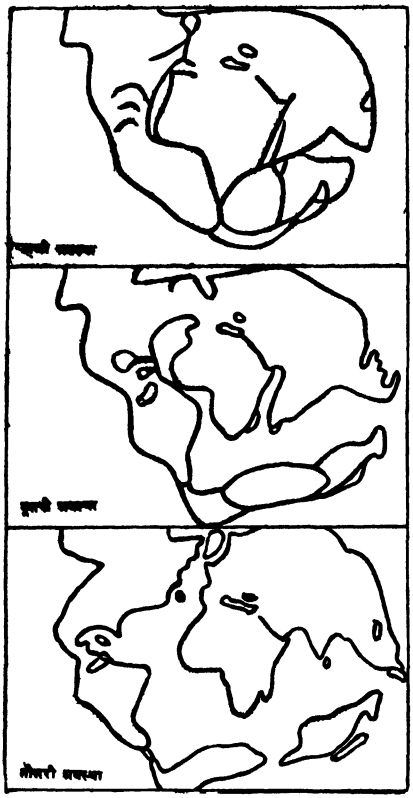
का अध्ययन करने के पश्चात् वह इस परिणाम पर पहुँचा कि कुछ अपवादों को छोडकर दोनों किनारों को सम्बन्ध किया जा सकता है। धीरे-धीरे सभी महाद्वीपों का परस्पर सम्बन्ध जोड़कर उसने घोषित किया कि धरातलीय इतिहास के प्रारम्भकाल में समस्त महाद्वीप एक साथ जुडे हुए थे। उसने इस संयुक्त भूमहाद्वीप का नाम 'पेंजिया' रक्खा। इस पेंजिया महाद्वीप के निचले भाग यदाकदा जलमग्न हो जाते थे और उथला समुद्र बन जाता था। किन्तु पृथ्वी के शेष भाग पर एक ही भूमहासागर फैला हुआ था। पेजिया महाद्वीप सिमा मे उसी प्रकार तैरता था जिस प्रकार समुद्र में हिमशिलायें तैरा करती है। गिरि-प्रांगार युग में इस महाद्वीप की स्थिति ऐसी थी



चित्र १८. पेंजीया महाद्वीप

कि दक्षिणी ध्रुव अफ्रीका के दक्षिण तट के आस-पास ही कही स्थित था। उस काल के हिमावरण के चिन्ह गोंडवाना महाद्वीप के सभी भागों में पाये जाते है। संभवतः इसी युग में इस महाद्वीप के उतरी और दक्षिणी दो खण्ड हो गये। मध्यकल्प के अन्त में इसके पूर्वी और पश्चिमी भाग भी अलग हो गये। टूट जाने से इन महाद्वीपों के कटे हुए सिरे आगे को निकल गये। इन निकले हुए सिरो पर गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का खिचाव अन्य भागों से अधिक पड़ा। खिचाव की इस भिन्नता के कारण उत्तरी महाद्वीप उत्तर की ओर तथा पश्चिमी महाद्वीप पश्चिम की ओर खिसकने लगे। अमेरिका के पश्चिम की ओर खिसकने से अटलाण्टिक चौड़ा होता गया। इस प्रकार महाद्वीपीय प्रवाह का सिद्धान्त यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि महाद्वीपों की स्थिति स्थायी नहीं है। इसी कारण महाद्वीपों के कुछ भागों पर भूमध्यरेखिक जलवायु रहने से कोयले की परतें बनी होंगी। यह सिद्धान्त पर्वत-निर्माण की क्रिया-विधि (Mechanism) समझाने का भी प्रयत्न करता है। इसके अनुसार अफ्रीका और यूरोप के सिरों के समीप आने से आल्पस पर्वतमालायें निर्मित हुईं तथा अमेरिका और प्रशान्त महासागर की

तली के परस्पर टकराने से राकी और एण्डीज पर्वतों का निर्माण हुआ। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में निम्न प्रमाण दिए जाते हैं—



चित्र १९.
पेंजिया का अलग होना

(१) ग्रीनलैण्ड और अमेरिका के बीच की दूरी १८२३, १८७० और १९१७ ई० में नापी गई। इन नापों से सिद्ध होता है कि ग्रीनलैण्ड प्रतिवर्ष २० मील नज़दीक आता जा रहा है।

(२) स्कैण्डिनेविया में कुछ विचित्र स्वभाव के जीव-जन्तु हैं। जब इनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है, तो ये पश्चिम की ओर चलते हैं और लम्बी यात्रायें करके पश्चिमी तट पर पहुँच जाते हैं। यहाँ आकर वे समुद्र में कूदकर जान दे देते हैं। इन जन्तुओं की यात्रा का यह अर्थ लगाया जाता है कि किसी समय यहाँ पर भूमिखण्ड था, जिससे उनके पूर्वज परिचित थे। अब वह स्थलखण्ड वहाँ नहीं है, परन्तु ये जन्तु उसे पाने के प्रयत्न में समुद्र में कूदकर जान दे देते हैं।

(३) अटलाण्टिक महासागर के दोनों तटों पर मिलने वाले फौसिल्स और चट्टानों के क्रम की आश्चर्यजनक समता का वर्णन पहले किया जा चुका है।

(४) गिरि-प्रांगार युग के हिमावरण के चिन्ह दक्षिणी अमेरिका, दक्षिणी अफ्रीका, दक्षिणी भारत और आस्ट्रेलिया में समान रूप से पाए जाते हैं।

इस सिद्धान्त के विरोध में निम्न तर्क उपस्थित किए जाते हैं—

(१) महाद्वीपों के हटाने योग्य किसी ऐसी शक्ति का पता नहीं चल पाया है, जो इस महान् कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हो। वैगनर द्वारा सुझाई गई ज्वार की शक्ति से दस अरब गुनी शक्ति ही महाद्वीपों को खिसका सकेगी। यदि ऐसी शक्ति

उत्पन्न हो जाय, तो वह पृथ्वी के आवर्तन (Rotation) को एक वर्ष में समाप्त कर देगी।

(२) दूसरी आपत्ति यह है कि एक ओर तो सिमा को इतना द्रव बताया जाता है कि उसमें सिआल के खण्ड तैरते रहते हैं और दूसरी ओर उसको इतना कठोर चित्रित किया जाता है कि उसकी टक्कर से सिआल के खण्ड मुड़कर पर्वत रूप में बन जाते हैं। इस आपत्ति के उत्तर में महाद्वीपीय-प्रवाह के समर्थकों ने सुझाया कि सिमा द्रव जरूर है, पर उसमें दृढ़ता (Rigidity) सिआल से अधिक है। उदाहरण के लिए यदि हम मोम की छड़ को राल में डालें, तो छड़ भीतर अवश्य प्रवेश कर जायगी, परन्तु उसमें टेढ़ पड जायगी। वैगनर के मत में थोड़ा संशोधन करके इस सिद्धान्त के समर्थकों ने बताया है कि पर्वत-निर्माण के समय नरम परतदार चट्टानों में मोड़ पड़ते हैं न कि सिआल में।

(३) कुछ विद्वानों ने महाद्वीपों के परस्पर सम्बद्ध होने की तथा महाद्वीपों के हटने के काल और दिशा के सम्बन्ध में शंकायें उपस्थित की हैं। ये शंकायें बाल की खाल खींचने के समान ही हैं। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि महाद्वीपीय प्रवाह एक सिद्धान्त मात्र है कोई सुप्रमाणित तथ्य नहीं है। इस सिद्धान्त में पर्याप्त संशोधन और सुधार की आवश्यकता है।

४६. जौली का तापीय चक्र (Thermal cycles)—वैगनर के समान जौली भी यह जानते हैं कि महाद्वीपीय भाग सिमा के ऊपर बहते हुए सिआल खण्ड हैं। गर्मी बढ़ जाने से सिमा के घनत्व में परिवर्तन हो जाना ही उसके मत से महाद्वीपों के खिसकने का कारण है। जौली के तापीय चक्र के अनुसार महाद्वीपों की हलचल ऊपर या नीचे की ओर होती है।

यह पहले कहा जा चुका है कि पृथ्वी की भीतरी चट्टानों में ऐसे पदार्थ मौजूद हैं जो स्वयं ही तेज (गर्मी) को निकालते रहते हैं। इन पदार्थों को तेजोद्गर (Radio-Active) पदार्थ कहते हैं। इनका वियोजन अर्थात् एक तत्व से दूसरे तत्व में बदलने की क्रिया (Disintegration) होती रहती है। इस क्रिया के कारण ही चट्टानों से भारी मात्रा में गर्मी (तेज) निकलती रहती है। सभी प्रकार की चट्टानों में तेजोद्गर द्रव्य पाए गए हैं चाहे उनकी मात्रा कितनी ही कम या अधिक क्यों न हो। ग्रेनाइट आदि अम्ल चट्टानों में तेजोद्गर तत्त्वों की मात्रा सबसे अधिक होती है और बसाल्ट आदि पैठिक चट्टानों में इनकी मात्रा कम होती है। ये तत्त्व स्वयमेव टूटकर तेज अर्थात् गर्मी निकालते रहते हैं। उद्गरित गर्मी से चट्टानों का तापक्रम बढ़ता रहता है। महाद्वीपों की चट्टानों में तेज के निकलने से जो ताप में वृद्धि होती है,

वह संचालन-क्रिया द्वारा धरातल तक पहुँचकर नष्ट होती रहती है। परन्तु चट्टानें ताप की उत्तम संचालक नही हैं। अतः बसाल्ट चट्टानों में तेजोद्गरण द्वारा उत्पन्न गर्मी बाहर नही निकल पाती और वहीं एकत्र होती रहती है। जौली के मत से तापीय चक्र के प्रारम्भ में सिमा का परत ठोस अवस्था में होता है। बसाल्ट (सिमा) के परत में तेजोद्गरण द्वारा उत्पन्न गर्मी इतनी अधिक होती है कि सबकी सब संचालन (Conduction) द्वारा नष्ट नही होती। चट्टानो की संचालकता को देखते हुए जितनी गर्मी महाद्वीपों के भीतरी भाग से धरातल तक आकर शून्य में विलीन हो सकती है उतनी स्वयं महाद्वीपों में ही उत्पन्न होती रहती है। अतः बसाल्ट की गर्मी रुकी रहती है और एकत्र होने लगती है। तीन या चार करोड़ वर्षो मे इतनी गर्मी एकत्र हो जाती है कि बसाल्ट का परत पिघलने लगता है। पिघलने की क्रिया परत के निचले भाग से प्रारम्भ होती है और धीरे-धीरे ऊपर की ओर का भाग पिघलता आता है। जौली का कथन है कि सम्पूर्ण बसाल्ट परत पिघल जाता है, परन्तु महासागरों की तली नहीं पिघलती। इसका कोई समुचित कारण नही बताया गया है। जब बसाल्ट पूर्णतया पिघल जाता है, तो भूपृष्ठ अस्थिर हो जाता है। पानी के अतिरिक्त सभी वस्तुये पिघलने पर अधिक स्थान घेरती हैं। अस्तु, बसाल्ट का परत भी पिघलकर फैल जाता है अर्थात् उसका आयतन बढ़ जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप बसाल्ट परंत के ऊपर स्थित महाद्वीप और महासागर भी ऊँचे उठ जाते हैं जिससे धरातल पर तनाव (Tension) उत्पन्न होता है। जिस प्रकार समुद्र के भारी पानी से नदी के हल्के पानी में पहुँचने पर जहाज का पैदा (तला) कुछ अधिक डूब जाता है, उसी प्रकार बसाल्ट परत के पिघलने पर यद्यपि सम्पूर्ण भूपटल कुछ ऊँचा उठ जाता है तथापि महासागरों की अपेक्षा महाद्वीप बसाल्ट में अधिक धँस जाते हैं। और इस प्रकार महाद्वीपों के निचले तटों पर उथले समुद्र फैल जाते हैं। प्रो० जौली के अनुसार ज्योंही बसाल्ट परत पूर्णतया पिघल जाता है, उसमें भी अन्य द्रवों के समान ज्वार उत्पन्न होता है। सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षण से समस्त ठोस पिण्ड पश्चिम की ओर खिच जाता है, जिससे महाद्वीपों के नीचे का अत्युष्ण बसाल्ट परत महासागरों की ठण्डी तली से सम्बन्धित हो जाते हैं। इस प्रकार ताप की बढ़ी हुई मात्रा शीघ्रता के साथ महासागरों में होकर विलीन हो जाती है। ताप की बढ़ी हुई मात्रा घट जाने पर बसाल्ट फिर ठण्डा होकर कठोर बनता है। फलस्वरूप उसका आयतन घटता है, जिससे महाद्वीपों के तट महासागरों की तली से टकराते हैं और मोड़दार पर्वतों का जन्म होता है।

प्रायः इस सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है, किन्तु इसके सम्बन्ध में दो विशेष कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। पहली कठिनाई तो यह है कि अधःस्तर के

बसाल्ट परत के पिघलने पर समुद्र की तली, जो बसाल्ट की बनी मानी जाती है, क्यों नही पिघलती ? दूसरी कठिनाई प्रो० होम्स ने सुझाई है। होम्स के अनुसार ताप की बढ़ी हुई मात्रा को निकालने के लिए जौली ने जो क्रियाविधि (Mechanism) बतलायी है वह न केवल अपर्याप्त है, बल्कि असम्भव भी है।

कुछ समय पूर्व प्रो० होम्स ने जौली के तापीय चक्र वाले सिद्धान्त में यह संशोधन प्रस्तुत किया था कि तेजोद्गरण से उत्पन्न गर्मी अधःस्तर के निचले परत में, जहाँ पेरिडोटाइट चट्टानें पायी जाती हैं, एकत्र होती हैं। जिसके कारण पेरिडोटाइट तापीय चक्र द्वारा धरातल पर एक महान् हलचल होती है। ऐसी दो महान् हलचलों के बीच में छः या सात बसाल्ट तापीय चक्र हो चुकते हैं। होम्स के मत से कैम्ब्रियन काल से अब तक बीस बसाल्ट तापीय चक्र हो चुके हैं। ये तापीय चक्र पृथ्वी की आग्नेय प्रणाली तथा अन्य हलचलों को उत्पन्न करते हैं। खिंचाव (Tension) से उत्पन्न दरारों में होकर बसाल्ट चट्टानो का पिघला हुआ द्रव लावा फूट पड़ता है और धरातल पर लावा की बाढ़ आ जाती है। इस प्रकार पेरिडोटाइट तापीय चक्र से पृथ्वी की महान् घटनायें तथा बसाल्ट चक्र से साधारण घटनायें घटित हुआ करती हैं।

प्रो० होम्स ने अब जौली के उपर्युक्त सिद्धान्त और अपने सशोधन को स्वयं ही भ्रान्त एवं असम्भव माना है तथा श्री ए० जे० बुल के सुझावों के आधार पर अपना संवाहन-परिवाह सिद्धान्त (Convection Current Theory) प्रतिष्ठित किया है।

४७. होम्स का संवाहन-परिवाह सिद्धान्त (Convection Current Theory)—पृथ्वी पूर्णतया संवाहन क्रिया द्वारा ठण्डी होती रही है जिससे अधःस्तर में सिमा के गरम कणों की धारा ऊपर की ओर जाती रही है और ठण्डे कणों की धारा नीचे आती रही है। तेजोद्गर तत्त्वों के टूटने से पेरिडोटाइट परत में हमेशा इतनी गरमी उत्पन्न होती रही है कि इसमें कभी भी रवे बनने लायक अवस्था उत्पन्न नहीं हुई और अभी तक यह कांच-जैसी दशा में है। यह परत भूकम्प की लहरों पर ठोसवत् व्यवहार करता है और इसमें दृढ़ता (Rigidity) भी काफी है। परन्तु जब कभी भूपृष्ठ पर भार में अन्तर पड़ता है, तो तुरन्त हलचल उत्पन्न होती है और भार में सन्तुलन स्थापित हो जाया करता है। इन हलचलों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधःस्तर में कड़ापन नहीं है और दीर्घकाल तक अत्यधिक दबाव के प्रभाव से इसमें परिवर्तन होना संभव है। पेरिडोटाइट परत में चिपचिपाहट भी बहुत ज्यादा है, परन्तु संवाहन की धारायें इस चिपचिपाहट से रुक नहीं पातीं। अस्तु, भूमध्यरेखा के

आस-पास ही पेरिडोटाइट परत के नीचे से ऊपर की ओर गरम धारायें चलती है। ऊपरी पपड़ी के समीप पहुँचकर यह धारा दो भागों में विभक्त हो जाती है। यहीं से इसकी प्रवाह-दिशा बदल जाती है। एक धारा भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर जाती है और दूसरी दक्षिण की ओर जाती है। बसाल्ट में महाद्वीपों के धँसे हुए भाग इन धाराओं के चलने में बाधा उपस्थित करते हैं जिससे ये धारायें स्थल के भागों को भी ठेलकर आगे को धकेलती हैं, और इसीलिये महाद्वीप खिसकते हैं।

इन ग्रहीय धाराओं (Planetary currents) का प्रभाव समस्त भूपृष्ठ पर पड़ता है। परन्तु पेरिडोटाइट परत के ऊपर दूसरा बसाल्ट परत है। इस बसाल्ट परत में (महाद्वीपों के निचले परत में) स्थानीय धारायें भी उत्पन्न होती हैं। इन स्थान-स्थान पर उत्पन्न होने वाली संवाहन धाराओं का प्रभाव ग्रहीय धाराओं से अधिक शक्तिशाली होता है।

महाद्वीपीय खण्ड अधःस्तर पर उसी प्रकार स्थित है जिस प्रकार समुद्र जल में हिम-शिलायें बहती रहती हैं। महाद्वीपीय खण्डों में तेजोद्गर तत्त्वों की अधिकता है। जिससे इन खण्डों से गर्मी निकलकर अपने नीचे अधःस्तर को अधिक गरम बना देती है। किन्तु अधःस्तर के जिस भाग में महाद्वीपीय खण्ड बहुत नीचे तक नहीं धँस रहा है उस भाग में गर्मी की मात्रा कम होगी। फलतः जिस स्थान पर महाद्वीपीय परत सबसे अधिक मोटा है उसी स्थान के नीचे अधःस्तर में संवाहन-धारा उत्पन्न होकर इधर-उधर जायगी। इस धारा के प्रभाव से महाद्वीपीय खण्ड भी इधर-उधर हटने लगेगा। इस प्रकार हटने से महाद्वीपों के निकले हुए सिरे महासागरों की तली से टकरायेंगे और भिचाव द्वारा पर्वत-निर्माण होगा।

यह सिद्धान्त अभी तक अपूर्ण है। इसे पूर्ण बनाने के प्रयत्न जारी हैं। इसके द्वारा सभी भौगर्भिक एवं आग्नेय प्रणालियों का समुचित समाधान करने में पर्याप्त समय लगेगा। अधःस्तर में संवाहन-तरंगों का होना कोई क्लिष्ट कल्पना नहीं है। बल्कि इस प्रकार की संवाहन-धाराओं के परिवाह द्वारा महाद्वीपों का खिसकना, एवं तज्जन्य पर्वत-निर्माणकारी तथा लावा उद्गरित करने वाली घटनाओं का होना सर्वथा बुद्धिसंगत ही प्रतीत होता है।

प्रश्न

1. What is the evidence for and against the conception of 'Permanency of continents and ocean basins' ? What theroies best explain the present configuration of the earth's surface.

Ban. M.Sc. Geol. 1939, 1958; Lucknow M.Sc. Geol. 1948, 1952; Allahabad M.A. Goel. 1947)

2. Give an acconnt of the origin of continents and oceans.

(*Ban. M.Sc. Geol. 1936; Ban. M.A., M.Sc. Geol. 1943, Agra M.A. Geol. 1951*)

3. Write an essay on the theory of continental drift detailing its merits and demerits.

(*Ban, M.Sc. Geol. 1945, Ban. M.A., M.Sc. Geol. 1950, Lucknow M.Sc. Geol. 1948, Allahabad M.A. Geol. 1952, Agra M.A. Geol. '47*)

4. Discuss the main evidences in Support of the theory of continental Drift and draw a sketch map showing Wegner's Pangæa.
(*Ban. M.Sc. Geol. 1951, 1953*)

पाँचवाँ अध्याय

पृथ्वी के धरातल का इतिहास

४८. इतिहास का आधार—पृथ्वी के धरातल का विकास बहुत धीरे-धीरे और करोड़ों वर्षों में हुआ है। धरातल के निर्माण में प्रारम्भकाल से अब तक अनेकों परिवर्तन हुए है। इस लम्बे इतिहास में न जाने कितनी बार तट-रेखा कहीं-की-कही पहुँची है। अधिकांश स्थलीय भाग पर सागर-गर्भ में उत्पन्न हुई प्रस्तरीभूत चट्टानें बिछी पड़ी हैं। धरातल के अति दीर्घ जीवन की लम्बी कहानी प्रकृति ने इन्हीं चट्टानों में अंकित कर रक्खी है। ये चट्टानें एक प्रकार से पृथ्वी के इतिहास के पृष्ठ है। इन चट्टानों की परतें जैसे-जैसे जमती जाती थी, उस समय के तत्कालीन पौधे या मरे हुए जीव समुद्र की तलछट में दबते जाते थे। इनमें से बहुत से नरम भाग गल-सड़कर लापता हो गए। परन्तु जानवरों की अस्थियाँ, और उनके कडे खोल तथा पौधों की कड़ी छालें, कड़ी लकड़ी, पत्तियों के पजर और बीज आदि कही-कही पथरा गए और कहीं चट्टानों में जल्दी दब जाने से सुरक्षित बने रहे। कम-से-कम इन सब के चिन्ह तो चट्टानों में बने ही रहे। इन्हीं चिन्हों को फासिल्स या जीव-अवशेष कहा जाता है। जब मनुष्य ने इन पत्थरों को काटा, तो उसे ये शिलालेख मिले। इन शिलालेखों ने तत्कालीन भौगोलिक परिस्थिति का रहस्योद्घाटन करने में अपरिमित सहायता पहुँचाई है। तेजोद्गरण-पद्धति से भी इस इतिहास को लिखने का प्रयत्न हुआ है।

४९. पृथ्वी की आयु—पृथ्वी की डायरी के इन पृष्ठों और शिलालेखों को पढ़कर तथा अन्य तथ्यों के आधार पर पृथ्वी की आयु निर्धारित की गई है। पृथ्वी की आयु निर्धारित करने की कुछ मुख्य विधियाँ निम्नलिखित हैं—

१. समुद्र में खारापन पर आधारित आयु—नदियाँ नित्यप्रति समुद्र में सोडियम और कैलशियम आदि नमक डालती रहती हैं जिससे समुद्र का खारापन धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। इसी आधार पर किसी समुद्र में खारापन की मात्रा निश्चित करके पृथ्वी की आयु निकाली जाती है। इसकी विधि यह है—पहले किसी समुद्र में जल की मात्रा या आयतन (Volume) निकाला जाता है और उसके जल का औसत खारापन भी ज्ञात किया जाता है। इन दोनों आंकड़ों की सहायता से समस्त सागर में नमक की मात्रा ज्ञात की जाती है। फिर यह भी ज्ञात किया जाता है कि एक वर्ष में कितना खारापन बढ़ता है। इस एक बर्ष की खारापन की मात्रा का

कुल नमक की मात्रा में भाग देने से पृथ्वी की आयु ज्ञात होती है। इस विधि द्वारा पृथ्वी की आयु लगभग १२ करोड़ वर्ष ठहरती है।

आपत्तियाँ—(१) इस विधि में यह मान लिया जाता है कि प्रारम्भ में समुद्र मीठे थे। परन्तु कैम्ब्रियन युग के घोंघे और अन्य जीवों के फॉसिल्स (अवशेष) का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनका जीवन नमक पर ही आश्रित था।

(२) यह कल्पना कि प्रत्येक वर्ष नमक की एक निश्चित मात्रा ही समुद्र में मिलती रही है, ठीक नहीं प्रतीत होती। नदी का कटाव कभी अधिक होता है तो कभी कम। इस प्रकार नमक की मात्रा सदैव घटती बढती रही है।

(३) बहुत से नमक लावा की सवाहन क्रिया (Convection) द्वारा भूगर्भ से धरातल पर आ गए हैं जिसका कोई हिसाब इस गणना में नहीं किया गया है।

(२) **चट्टानों की संचालकता पर आधारित आयु**—प्रारम्भ में पृथ्वी आग का पिण्ड थी। धीरे-धीरे यह ठडी होने लगी। इसका भूपटल ठंडा हो गया है परन्तु भीतरी भाग अभी गरम है। यदि पृथ्वी के ठंडा होने की गति मालूम कर ली जाय तो इससे पृथ्वी की आयु ज्ञात हो सकती है। लार्ड कैल्विन ने इस विधि द्वारा पृथ्वी की ४ करोड़ वर्ष निश्चित की है।

(१) इस विधि द्वारा चट्टानों की संचालकता (Conductivity) पर ही ध्यान दिया गया और पृथ्वी के भीतर ही तेजोद्गर (Radio-Active) पदार्थों का ध्यान नहीं रखा गया। तेजोद्गर पदार्थ वियोजित होकर स्वयमेव गर्मी निकालते रहते हैं।

(२) सूर्य से प्राप्त गरमी की मात्रा भी सदैव एक-सी नहीं होती बल्कि घटती बढ़ती रहती है।

३. तेजोद्गरण पर आधारित आयु—पृथ्वी की आयु ज्ञात करने का यह नवीनतम तरीका है। इसका कुछ वर्णन भूगर्भ की झाँकी में किया जा चुका है।

भूपटल की चट्टानों में कुछ तेजोद्गर (Radio-active) पदार्थ मौजूद हैं। इन पदार्थों में विशेषता यह है कि उसके अणुओं का वियोजन होता है। वियोजन के फलस्वरूप एक तत्त्व बदलकर दूसरा तत्त्व बन जाता है। वियोजन की इस क्रिया में ताप की भारी मात्रा उस पदार्थ से निकलती रहती है। इसीलिए इस पदार्थ को ताप या तेज को निकालने (उद्गरण) वाला पदार्थ कहते हैं। तेजोद्गरण की यह क्रिया एक से दूसरे तत्त्व में बदल जाने पर ही समाप्त नहीं होती, परन्तु बराबर जारी रहती है। अर्थात् दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा इसी प्रकार तत्त्वों के रूप निरन्तर बदलते रहते हैं। उदाहरण के लिए यूरेनियम और थोरियम की समस्त गर्मी निकल जाने पर हेलियम और सीसा बन जाते हैं। इस प्रकार शृंखला के अन्त में हेलियम व सीसा (Lead) शेष रहते हैं। अब यदि किसी चट्टान में सीसा वर्तमान हो तो उससे

हम उस चट्टान की आयु निकाली जा सकती है। इनकी सहायता से आयु ज्ञात करने का फार्मूला निम्नलिखित है—

होम्स के अनुसार शिला की आयु = सीसा/यूरेनियम × ६६० करोड़ वर्ष

रूथरफोर्ड के अनुसार शिला की आयु = हेलियम/यूरेनियम × ९६ लाख वर्ष

४. जौली के अनुसार पृथ्वी की आयु—जौली ने भी इसी तेजोद्गरण के आधार पर पृथ्वी की आयु निकाली। उसने कई खनिजों में संकेन्द्रीय (Concentric) वृत्तों का पता चलाया। इन वृत्तों का व्यास और उनके वियोजन (Disintegration) की गति निकाल कर पृथ्वी के उस खनिज की आयु निकाल डाली और उसी के अनुसार पृथ्वी की आयु ज्ञात की गई।

५० इतिहास का काल-विभाग—तथ्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि पृथ्वी लगभग तीन अरब वर्ष पुरानी है। पृथ्वी के धरातल का इतना लम्बा इतिहास चार मुख्य भागों में बाँटा गया है—(१) उषःकल्प या जीवन के प्रारम्भ से पहले का काल (Eozoic), (२) पुरा जीवकल्प या प्राचीन जीवन का काल (Paleozoic), (३) मध्यजीवकल्प (Mesozoic) और (४) नवजीवकल्प (Neozoic)। इन चट्टानों के परतों और उनमें मिलने वाले जीव-अवशेषों के आधार पर इन कल्पों को युगों में और युगों को कालों में विभाजित किया जाता है।

जब पृथ्वी-पिण्ड के ऊपरी पृष्ठ का तापक्रम घटते-घटते ३७०° सेंटीग्रेड तक पहुँचा, तो उस समय के वायुमण्डल में दबाव से जलवाष्प कुछ घने हुए और प्रथम बार वर्षा होने लगी। संभव है भीषण गर्मी से उस समय जल बरसते ही भाप बन जाता हो। परन्तु धीरे-धीरे जल बरस कर पृथ्वी के गड्ढों में भरने लगा। उसी समय से धरातल के इतिहास का श्रीगणेश हुआ।

पृथ्वी की आयु का काल-विभाग

(१) उषःकल्प (Eozoic)

(२) पुराजीवकल्प (Paleozoic)
- प्राचीन पुराजीवकल्प
  - कैम्ब्रियन (Cambrian)
  - आर्डोविसियन युग (Ordovician)
  - प्रवालादि या सायलूरियन युग (Silurian)
- नवीन पुराजीवकल्प
  - मत्स्य युग (Devonian)
  - अंगार युग (Carboniferous)
  - गिरि युग (Permian)

(३) मध्यजीवकल्प (Mesozoic)
- रक्ताश्म युग (Triassic)
- महासरट युग (Jurassic)
- खटी युग (Cretaceous)

(४) नवजीवकल्प (Neozoic)
- प्राचीन नवकल्प
  - प्रादिनूतन (Eocene)
  - आदिनूतन (Oligocene)
- नवीन नवकल्प
  - मध्यनूतन Miocene)
  - अतिनूतन (Pliocene)
  - प्रातिनूतन (Pleistocene)

५१. उषःकाल—इस युग की परतदार चट्टानें पृथ्वी की प्राचीनतम परतदार चट्टानें हैं और पृथ्वी के धरातल का आधार बनाती हैं। इस काल की चट्टानें बाद के युगों की चट्टानों से इतनी नीचे दब गई हैं कि इनका देखना कठिन है। संयुक्त राज्य के मनीटोबा राज्य में इस काल की चट्टानें मिली हैं। तेजोद्गरण की पद्धति से इनकी आयु पौने दो अरब वर्ष कूती गई है। इस युग की चट्टानों में जीव-अवशेष बिल्कुल नही मिलते। इससे यह अनुमान लगाया गया है कि इस युग में संभवतः पृथ्वी का जलवायु अत्यन्त भयानक था तथा भूकम्प और ज्वालामुखी बहुत अधिक उठते थे। इसी कारण यह काल जीवोत्पत्ति के योग्य नहीं था।

उष.कल्प के अन्त में चार स्थल खण्ड बन चुके थे। २० लाख वर्ग मील में विस्तृत कनाडियन शील्ड थी। दूसरी बाल्टिक शील्ड, तीसरी साइबेरियन शील्ड और चौथा गोंडवाना प्रदेश कहलाता था।

इस काल की प्रधान चट्टानें नीस (Gneiss) और ग्रेनाइट (Granite) हैं। इन चट्टानों में अधिकतर लोहे और सोने का भण्डार पाया जाता है।

५२. पुराजीव कल्प—इस युग में सब से पहले प्रारम्भिक वनस्पति उत्पन्न हुई। इसी काल में जीव-उत्पत्ति के चिन्ह मिलते हैं। इस कल्प को बिना रीढ़ वाले जीवों का युग कहा जाता है, क्योकि इस समय इन्हीं जीवों की प्रधानता रही।

इस काल की मुख्य चट्टानें शेल, स्लेट, कठोर बलुआ पत्थर (Sandstone) और कठोर चूने का पत्थर (Limestone) हैं। इन चट्टानों में मूल्यवान खनिजों का भण्डार मिलता है। उत्तरी अमेरिका में इस कल्प की चट्टानों में सोना, लोहा, कोयला और पैट्रोलियम का भण्डार पाया जाता है। इन्हीं के कारण संयुक्त राज्य देश समस्त संसार का सबसे अधिक धनवान देश बन गया है। यूरोप में इस कल्प की चट्टानों में तांबा और लोहा पाया जाता है। इस कल्प को दो युगों में बाँटा जाता है—(१) प्राचीन पुराजीवकल्प और (२) नवीन पुराजीवकल्प।

(१) प्राचीन पुराजीवकल्प को तीन युगों में बाँटते हैं—कैम्ब्रियन युग, आर्डोविसियन युग और प्रवालादि या साइलूरियन युग।

कैम्ब्रियन युग स्थल पर समुद्र के आक्रमण से प्रारम्भ हुआ। इसी कारण इस काल की चट्टानें कुछ अधिक विस्तृत हैं। इस युग की चट्टानो में बहुत थोड़ा चूने का पत्थर, उसके ऊपर बालुका प्रस्तर, फिर शेल और सबसे ऊपर चूने के पत्थर का पतला परत है। इन परतों में सबसे पहले जीव-अवशेष मिलते हैं। इन जीवो में ट्राइबोलाइट या त्रिखण्डी जीवों की प्रधानता है, जो बहुत ही निम्न श्रेणी के बिना रीढ़ वाले जीव हैं।

आर्डोविसियन युग में समुद्र स्थल पर बहुत अधिक बढ़ आया था। उत्तरी अमेरिका का आधा भाग जलमग्न हो गया। इस युग में ज्वालामुखी के उद्‌गार हुए, जिनसे पूर्वीय संयुक्त राज्य पर धूल और राख छा गई। इस युग के बिना रीढ़ वाले जीव कैम्ब्रियन काल से अधिक विकसित हैं। वनस्पतियों में समुद्र में उगने वाली निम्न श्रेणी की घास मुख्य है। इस युग के अन्त में पर्वत निर्माणकारी हलचल हुई, जिससे मैसाचसेट राज्य में पर्वतमाला का निर्माण हुआ।

साइलूरियन (प्रवालादि) युग में प्रथम बार मछलियों और भूमि पर उगने वाले पौधों के चिन्ह मिलते है। बिना रीढ़ वाले जीव पहले से अधिक ऊँची श्रेणी के हैं। सिलूरियन काल में प्रथम बार साँस लेने वाले जीव का उदय हुआ और प्राचीन लाल बलुआ पत्थर (Red Sandstone) बनना प्रारम्भ हुआ।

(२) नवीन पुराजीवकल्प—इस कल्प को तीन युगों में बाँटते हैं—मत्स्य युग, अंगार और गिरि युग। इस कल्प के प्रारम्भ में पर्वत-निर्माणकारी उथल-पुथल हुई, जिसे 'केलेडोनियन' हलचल कहते हैं। इस उथल-पुथल में स्केण्डिनेविया से ब्रिटेन और स्पिटबरजन होती हुई ग्रीनलैड तक फैली हुई भूद्रोणी (Geosyncline) में पर्वत बन गए। मत्स्य युग में मछलियों के अवशेष सब युगों से अधिक मिलते हैं। अतः इसे मछलियों का युग कहते हैं। इस युग में स्थल पर जल का फिर आक्रमण होने लगा। इस समय चूने का पत्थर और शेल पत्थर भी बनता रहा, परन्तु लाल बलुआ पत्थर (Old Red Sandstone) की प्रधानता रही। अभी तक पृथ्वी की भौगोलिक अवस्था ऐसी थी कि केवल पानी के ही जीव-जन्तु रह सकते थे।

अंगार युग का कार्बोनीफरस काल में भूमि भाग घने जंगलों से आच्छादित थे, जो बाद में भूमि में दब गए और कोयले के रूप में बदल गए। इस युग में सारे संसार में कोयला बना। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि की जलवायु ऐसी थी कि वर्षा बहुत होती थी और गर्मी भी बहुत अधिक थी। अतः दलदली स्थानों पर घने

जंगल खड़े हो गए। ये जंगल झील या समुद्र के आक्रमण से पानी में डूब गए। उसके ऊपर तलछट जमा होती रही और शेल, बलुआ पत्थर और समुद्र की बारीक मिट्टी के परत जम गए। उनके ऊपर फिर घने जंगल उगे। फिर समुद्र और आगे बढ़ आया और घने जंगल फिर तलछट में दब गए। इस प्रकार का क्रम लाखों बरसों तक चलता रहा और कोयले की अनेक परतें बन गईं। इसी कारण इस काल को कोयले का युग कहते हैं। समुद्र के स्थल की ओर बढ़ने से संभवतः समुद्र छिछले होने लगे। अतः समुद्री जीवों को अपने आपको भूमि पर रहने योग्य बनाना पड़ा और ऐसे जीव विकसित हुए जो जल और स्थल दोनों पर रह सकें। इस काल की विशेषता जल-स्थलचारी जीवों का विकास है और इसी समय रेंगने वाले जीवों के चिन्ह भी पाए गए हैं। अब ट्राइलोबाइट किस्म के जीवो का अन्त होने लगा। मछलियों ने इस कार्य में अधिक हाथ बटाया।

गिरि युग (Permian) में या इसके प्रारम्भ में एक पर्वत-निर्माणकारी उथल-पुथल हुई, जिसको 'हरसीनियन' हलचल कहा जाता है। इसकी तैयारी बहुत दिनों से हो रही थी। मत्स्य युग से ही समुद्र का आक्रमण प्रारम्भ हो गया था। इस हलचल ने मध्य यूरोप, उत्तरी अमेरिका और कई अन्य क्षेत्रो मे बहुत-सा भूमि-भाग जल से ऊँचा उठा दिया। संभवतः इसी समय लगभग समस्त उत्तरी अमेरिका ऊँचा उठकर शुष्क भूमि बन गया। इस समय में जल-स्थलचारी जीवो का बहुत विकास हुआ और इन्ही की प्रधानता रही। इसी समय रेंगने वाले जीवों (उरगों) का प्रारम्भ हुआ। इस युग के अन्तिम भाग में पृथ्वी की गर्मी का बढ़ना शुरू हुआ। अधिकांश धरातल पर शुष्क जलवायु बढ़ने लगी।

५३ मध्यजीवकल्प (Mesozoic)—इस कल्प को उरगों का युग कहा जाता है। इसके तीन छोटे-छोटे भाग किए गए हैं—रक्ताश्म युग (Triassic), महासरट युग (Jurassic) और खटी युग (Cretaceous)।

परमियन (गिरि युग) काल में ही ऐसी भौगोलिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हुं कि धरती का जलवायु शुष्क होने लगा। इस समय जीवन की कठोर परीक्षा हुई। अधिकांश जीवन समाप्त हो गया। संभवतः धरती की गर्मी अधिक बढ़ गई होगी। वह गर्मी ट्राइसिक या रक्ताश्म युग में बहुत बढ़ गई। शायद भूकम्प भी अधिक आए होंगे। इस काल में उरगों का विकास होने लगा तथा अत्यन्त निम्न श्रेणी के स्तन-पोषी जीव का प्रादुर्भाव हुआ।

मध्यजीवकल्प के पूर्व से लेकर महासरट युग तक ब्राजील, दक्षिणी और मध्य अफ्रीका, मेडागास्कर, दक्षिण भारत तथा आस्ट्रेलिया के धरातल के इतिहास की प्रमुख घटनाएँ एक-सी हैं। इससे सिद्ध होता है कि ये दूर-दूर फैले हुए भूखण्ड एक

विशाल महाद्वीप गोंडवाना प्रदेश के टूटे हुए भाग हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में जब कोयला-काल की दलदलों में शुष्क जलवायु से सूखा पड़ रहा था, उस समय दक्षिणी महाद्वीप पर हिम आच्छादित हो रहा था। परन्तु ट्राइसिक (रक्ताश्म) काल के सूखा का प्रभाव शीघ्र होने लगा। वेगनर के महाद्वीपीय प्रवाह के सिद्धान्त के अनुसार गोंडवाना महाद्वीप मध्यजीवकल्प के प्रारम्भ में दक्षिणी ध्रुव के समीप स्थित था। इसी से इस महाद्वीप पर हिमावरण छाया हुआ था। बाद में यह महाद्वीप छिन्न-भिन्न होकर खिसकने लगा और अपनी वर्तमान स्थिति में पहुँच गया।

रक्ताश्म या ट्राइसिक युग के अन्त में यूरोप के भूगोल की दो विशेषताएँ थीं। भूमध्य सागर और आल्प्स पर्वत के स्थान पर टेथिस समुद्र लहराता था और इसके उत्तर में नीचा रेगिस्तानी भाग था, जिसके ऊपर रक्ताश्म काल के लाल बलुआ पत्थर फैले हुए थे।

महासरट या जुरेसिक युग में रेंगने वाली श्रेणी के बहुत बड़े-बड़े तथा अत्यन्त डरावने जंतुओं का बाहुल्य था। इसीलिए इस काल को महासरट युग कहते हैं। उरगों का प्रादुर्भाव गिरि युग मे ही हो चुका था। परन्तु उस समय के उरग बहुत नाटे कद के थे। महासरट काल के आते-आते इनमें बहुत विकास हुआ। रूप की विचित्रता और शरीर की रचना के ढंग में ये सबसे आगे बढ गए। जल, थल और वायु सभी पर इनका राज्य फैल गया। ये हाथी से भी विशाल जन्तु थे। इनमें से कुछ की लम्बाई १०० फुट और भार १,००० मन बताया जाता है। जल के उरगों में लम्बी गर्दन वाले प्लोग्रोसोरस और भारी आकार वाले इचथ्योसोरस मुख्य हैं। थल के उरगों में सबमे भयंकर डाइनोसोर उरग है। यह उरग अत्यन्त भयंकर आकार वाला होते हुए भी निरामिषभोजी और बुद्धिहीन जन्तु था। जलवायु के परिवर्तन से इन दैत्याकार जन्तुओं का लोप हो गया। परन्तु उरग जाति की स्फैनोडन छिपकली आजकल भी न्यूज़ीलैण्ड में पाई जाती है। इस छिपकली के एक तीसरा नेत्र भी होता है। उड़ने वाले उरगों में टेरोडेक्टाइल मुख्य है। इस काल की एक पथराई हुई चिड़िया मिली है, जो न तो पूर्णतया चिड़िया ही है और न पूर्णतया उरग ही है। इस चिड़िया को देखकर यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि उरगों और चिड़ियाओं में कितना अधिक सम्बन्ध है।

खटी युग या क्रिटेसियस काल में खड़िया मिट्टी (Chalk) की चट्टानों की प्रधानता रही। इस समय यूरोप और उत्तरी अमेरिका में खड़िया या खटी की विस्तृत परतें जमीं। इसी कारण इसको खटी युग कहते हैं। इस काल में भी उरगों का बाहुल्य रहा। इस काल में ऐसी मछलियाँ भी मिलती हैं, जिनकी हड्डियों का पूरा

विकास हो चुका था। इसी समय में अर्द्ध-विकसित चिड़ियाँ और प्रारम्भिक स्तनपोषी जन्तुओं का प्रादुर्भाव हुआ। खटी युग में समुद्र ने यूरोप में आयरलैण्ड से ब्रिटेन, डेनमार्क, जर्मनी होते हुए दक्षिणी रूस तक आक्रमण किया। इसीलिए इन देशों में खड़िया मिट्टी के अत्यन्त सूक्ष्म कण वाले पत्थर बिछ गए। उत्तरी अमेरिका में जुरेसिक काल के अन्त में 'नेवेडियन' नाम की पर्वत-निर्माणकारी हलचल हुई। इसी हलचल मे सिअर्रा नेवादा पर्वत का निर्माण हुआ। खटी युग में नेवादा पर्वत के पूर्वीय भाग में गल्फ राज्यों पर खटी समुद्र फैल गया, जिससे अलास्का से मैक्सिको की खाड़ी तक एक विशाल भूद्रोणी (Geosyncline) में जल भर गया। इस छिछले समुद्र में तलछट और लावा एकत्र होता रहा। खटी युग के अन्त में 'लैरेमाइड' हलचल ने कार्डिलरा पर्वत में कुछ भाग और जोड़ दिया।

दक्षिण भारत में खटी-समुद्र ने तीन विभिन्न स्थानों पर अपना प्रभाव छोड़ा है। कारोमण्डल तट के दक्षिण-पूर्व की ओर त्रिचनापुरी जिले में लगभग ३०० वर्ग मील भूमि पर खटी युग की चट्टानें पाई गई हैं। इसी प्रकार मध्यभारत में ग्वालियर के पास बाघ कस्बे मे सौराष्ट्र के वाधवान नगर तक खटी काल की चट्टानें जहाँ-तहाँ बिखरी हुई मिली है जिनमें उस समय के जीव-अवशेष मिलते हैं। तीसरा चिन्ह बम्बई राज्य के लावा प्रदेश पर मिला है। सम्भवतः इसी काल में दक्षिण भारत में लावा का विपुल उद्गार हुआ है, जो २½ लाख वर्गमील भूमि पर छा गया था। इस लावा प्रदेश पर परतदार चट्टानों की बहुत पतली परतें मिली है, जिनमें मछली, मेंढक, और कछुआ आदि जन्तुओं तथा ताड, डाइकोटिलेडोनस और नदी की शैवाल (alga) आदि पेड़ पौधों के अवशेष पाये गए है।

५४. नवजीवकल्प (Tertiary)—भूतत्ववेत्ताओं का अनुमान है कि इस कल्प का आरम्भ सात करोड वर्ष पूर्व हुआ था। यह कल्प अत्यन्त प्रसिद्ध है क्योकि इस समय की चट्टानो का काफी अध्ययन हुआ है। इस कल्प में चिड़ियों और स्तनपोषियों (Mammals) का विकास हुआ। इस कल्प के दो भाग किए जाते हैं—प्राचीन नवजीवकल्प और नवीन नवजीवकल्प। प्राचीन नवजीवकल्प के प्रादिनूतन युग और आदिनूतन युग दो विभाग हैं। नवीन नवजीवकल्प के भी मध्यनूतन युग और अतिनूतन युग भाग किये जाते हैं। इसके बाद आजकल के समय को प्रातिनूतन युग नाम दिया जाता है।

नवजीवकल्प के आरम्भ में गर्मी अधिक थी। परन्तु कुछ समय बाद जलवायु ठण्डी होने लगी और बहुत से भूभाग हिमावरण से ढँक गए। इन परिस्थितियों में मध्यजीवकल्प के भीमकाय उरग जीवित नही रह सके और नष्ट हो गए। इस काल

की प्रमुख घटनाओं में ज्वालामुखी पर्वतों के भयंकर उद्गार, विश्व के उच्च पर्वतों का निर्माण तथा मनुष्य का प्रादुर्भाव उल्लेखनीय है।

यूरोप—इस समय यूरोप के भूगोल में दो समुद्रों का आक्रमण हुआ। हरसीनियन पर्वतों के उत्तर में दक्षिण-पूर्वी इंगलैंड, उत्तरी फ्रांस, बेलजियम, डेनमार्क और उत्तरी जर्मनी के ऊपर उत्तरी सागर फैला हुआ था और इन पर्वतों के दक्षिण में टेथिस समुद्र अभी हिलोरें मारता था। इन समुद्रों मे प्रादिनूतन और आदिनूतन काल की तलछट जमती रही। आदिनूतन युग में दक्षिणी जर्मनी और पोलैण्ड पर भी उथले समुद्र का विस्तार फैल गया। मध्यनूतन युग के प्रारम्भ में 'आल्पाइन' हलचल ने इटली के अतिरिक्त शेष आधुनिक यूरोप को समुद्र से ऊपर उठा दिया। लन्दन, हैम्पशायर और पेरिस के सुप्रसिद्ध मैदान भी इसी काल में प्रकट हुए। अतिनूतन काल की हलचल ने इटली प्रायद्वीप और ईस्ट एंगलिया को जोड़कर यूरोप का वर्तमान रूप प्रस्तुत कर दिया।

उत्तरी अमेरिका—खटी युग के अन्त तक उत्तरी अमेरिका का वर्तमान रूप लगभग बन चुका था। नवकल्प में स्तरभ्रंश के द्वारा उसके ढाल का रूप स्थिर हुआ। इस युग में प्रशान्त तट और गल्फ राज्यों पर नवीन चट्टानों का निर्माण हुआ। लूसियाना राज्य में ३०,००० फुट मोटी परत का नव-निर्माण हो चुका है। अतः विद्वानों का विश्वास है कि यही पर नवीनतम भू-द्रोणी अस्तित्व है।

एशिया—नवजीवकल्प ने भारत के भूगोल का नवीन शृंगार किया। इसी काल में गोंडवाना महाद्वीप के टूट जाने से अफ्रीका भारत से अलग हो गया। मध्यभाग के जलमग्न हो जाने से भारत का पश्चिमी तट एकदम सपाट बन गया। मध्यनूतन काल में विशाल हिमालय पर्वत टेथिस समुद्र के गर्भ मे जन्मा। हिमालय के समुद्र से ऊपर उठते ही गंगा-सिन्धु के मैदान का निर्माण प्रारम्भ हुआ। मध्यनूतन युग के पश्चात् टेथिस समुद्र के हट जाने पर उत्तरी भारत में दो खाड़ियाँ बन गई थीं—उत्तर पश्चिमी खाड़ी तथा आसाम की खाड़ी। उत्तर पश्चिमी खाड़ी में काँप एकत्र होने से पश्चिमी पाकिस्तान का जन्म हुआ तथा आसाम की खाड़ी से आसाम और अराकान तट निर्मित हुए। इन्हीं खाड़ियों में भारत का खनिज तेल उत्पन्न हुआ तथा टरशरी युग का कोयला भी इन्हीं खाड़ियों से सम्बन्धित है।

नवजीवकल्प में ज्वलामुखी के उद्गारों ने भूगर्भ से लावा को निकालकर करोड़ों वर्गमील भूमि पर फैला दिया। दक्षिण भारत का लावा प्रदेश, कोलम्बिया के पठार का बसाल्ट लावा, पनामा का लावा तथा कई भागों में लावा का विस्तार हमारी बुद्धि को भ्रमित बना देता है। लावा के इस परत की मोटाई दस हज़ार फुट के लगभग है।

इस काल की पर्वत निर्माणकारी हलचल की ओर संकेत किया जा चुका है। टेथिस के उथले समुद्र में से मोड़दार पर्वतों की शृंखला जिब्राल्टर जलडमरूमध्य से प्रारम्भ हुई। यह पर्वतमाला भूमध्यसागर के दोनों किनारों पर होती हुई हिमालय तक दोहरी चली गई है। हिमालय पर दोनों शाखाएँ मिल जाती हैं। फिर यहाँ से एक शाखा बर्मा, मलाया, पूर्वी द्वीप समूह होती हुई न्यूजीलैण्ड तक गई है। दूसरी शाखा जापान तक चली गई है।

प्रातिनूतनकाल के प्रारम्भ में पृथ्वी की जलवायु ठण्डी होने लगी, जिससे धरातल हिमावरण में ढँक गया। उत्तरी यूरोप में स्केण्डिनेविया हिमावरण का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ से तीन करोड़ वर्गमील भूमि पर हिमशिलाएँ फैल गईं। कनाडा और उत्तरी संयुक्त राज्य में लगभग ६ करोड़ वर्गमील पर हिमशिलाओं का साम्राज्य फैल गया। आल्प्स और हिमालय पर भी छोटे-छोटे क्षेत्रों में हिमावरण ने प्रभाव दिखाया। इसी कारण इस युग को हिम युग (Ice Age) भी कहा जाता है।

इस युग में ठण्ड से बढ़ने से जीव-जन्तुओं ने भी अपने शरीर में परिवर्तन किए। कुछ ने ठण्ड से बचने के लिए अपने शरीर पर पंख उत्पन्न किए। इस परिवर्तन से उनका शरीर छोटा होता गया और हड्डियाँ घटती गईं। इस परिवर्तन का उद्देश्य उड़ने में सहायता पहुँचाना था। इस प्रकार चिड़ियों का विकास हुआ। कुछ जन्तुओं ने ठण्ड से अपनी रक्षा करने के लिए अपने शरीर पर बाल उत्पन्न किए। धीरे-धीरे इन्हीं से स्तनपोषी जीव बने। आस्ट्रेलिया में थैली वाले जन्तु या मारसूपियल पाए जाते हैं। ये अण्डे नहीं देते परन्तु इनके बच्चे अपूर्ण अवस्था में जन्म लेते हैं। धीरे-धीरे स्तनपोषियों में विकास हुआ। इस युग की चट्टानों में हाथी, घोड़े, ऊँट और सामुद्रिक स्तनपोषियों के अवशेष पाए जाते हैं। स्तनपोषियों के 'प्राईमेट' विभाग में बन्दर, बनमानुष और मनुष्य सम्मिलित है। इस विभाग का सर्वप्रथम अवशेष खटी युग की चट्टानों में मिला है। बन्दर के अवशेष ४ करोड़ वर्ष पुरानी चट्टानों में और बनमानुष के अवशेष १० लाख पुरानी चट्टानों में मिले हैं। मनुष्य का अवशेष एक लाख वर्ष पुरानी चट्टानों में मिला है। हिम युग में जीवन की कठिनाइयों ने इसके मस्तिष्क को पर्याप्त विकसित किया। धीरे-धीरे मानव-मस्तिष्क का विकास होता गया, जिससे समस्त जीव-जन्तुओं को अधीन करके वह पृथ्वी का राजा बन बैठा।

प्रश्न

1. What are the various methods of determining the age of the earth ? Which of them do you think more satisfactory and why ?
(Ban. M.Sc. Geol. 1939, 1948 & Lucknow M.Sc. Geol. 1951)

2. Prove that adverse circumstances have led to the development of life on the earth.

3. The present configuration of India has developed during different ages. Discuss.

खण्ड २

स्थलमण्डल

छठा अध्याय

स्थलमण्डल (Lithosphere)

५५ स्थलमण्डल किसे कहते हैं ?—पृथ्वी की जो सबसे ऊपरी परत या भूपटल (Crust) है, उसके दो मोटे विभाग किए जाते है। जो भाग जल से आवृत्त है, उसे जलमण्डल कहते हैं और जो भाग जल से बाहर निकल आया है, उसे स्थलमण्डल कहते हैं। हमारी पृथ्वी के समस्त ऊपरी धरातल का क्षेत्रफल १९,८०,०० ००० वर्गमील है, जिसमें से लगभग ५ ५०,००,००० वर्गमील अर्थात् समस्त धरातल के २९ प्रतिशत भाग पर स्थलमण्डल का विस्तार है। शेष ७१ प्रतिशत भाग पर जल ही जल है।

इस स्थलमण्डल का दो तिहाई भाग उत्तरी गोलार्द्ध में स्थित है और एक तिहाई दक्षिणी गोलार्द्ध में फैला हुआ है। यदि अक्षांशों के अनुसार स्थल का अनुपात देखा जाय तो उत्तरी गोलार्द्ध में २०° से ७०° तक स्थल का अधिकता है तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में ७०° से ८०° तक स्थल का आधिक्य है।

५६. स्थलमण्डल के विविध रूप (Various forms of Lithosphere)—पृथ्वीतल पर स्थल की बनावट सब जगह एक-सी नहीं है। कहीं भूमि सपाट है तो कहीं ऊबड़-खाबड़ ढाल। कहीं गहरी घाटियाँ हैं तो कहीं आकाश से बातें करते हुए पर्वत-शिखर। ऊँचाई-निचाई के ऐसे नानाविध एवं विचित्र सम्मिलन पृथ्वी के कलेवर को सुसज्जित कर रहे हैं। समस्त स्थलमण्डल का पाँचवाँ भाग समुद्रतल से ६०० फुट तक ऊँचा है दूसरा पाँचवाँ भाग ६०० से १,५०० फुट तक ऊँचा है; लगभग इतना ही १,५०० से ३,००० फुट तक की ऊँचाई पर है; एक तिहाई से कुछ कम (३० प्रतिशत) ३,००० से ६,००० फुट तक की ऊँचाई पर है, और शेष दसवाँ भाग ६,००० फुट से अधिक ऊँचा है। यदि ऊँचे-ऊँचे पर्वतों को तोड़कर नीचे भागों में बिछा दिया जाय, तो इस सपाट स्थलखण्ड की समुद्रतल से ऊँचाई २,३०० फुट होगी। परन्तु यदि समस्त स्थलीय भाग को महासागरों में समतल फैला दिया जाय, तो समस्त पृथ्वीतल पर २ मील गहरा एक भूमहासागर फैल जायगा।

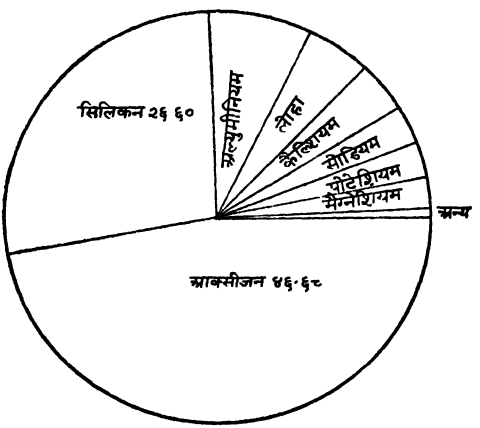
५७. समस्या के तीन रूप—सृष्टि के यह विचित्र स्थलरूप (Land forms) अपनी विविधता एवं विचित्रता के कारण विस्मयोत्पादक एवं सुन्दर तो लगते ही हैं,

परन्तु साथ ही पृथ्वीतल पर नाना प्रकार के पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति और विकास मे सहायक भी हुए है। सृष्टि-वैचित्र्य के स्थूल रूप से इन स्थलरूपों को समझने के लिए कई मूलभूत बातो की जानकारी आवश्यक है। प्रथमतः हमें यह जानना चाहिए कि पृथ्वी का यह ऊपरी परदा या भूपटल, जिस पर हमारा निवास है, किन पदार्थों से बना है ? दूसरे इस परदे पर ये विभिन्न स्थल रूप क्यों है तथा इनमें क्यो परिवर्तन होता रहता है ? तीसरे इन रूपो में ऐसी कौन-कौन सी विशेषताएँ है जिनसे हम इन्हें पहचान सकते है ?

भूपटल का निर्माण करने वाले पदार्थ

५८. चट्टान (Rocks)—पृथ्वी का ऊपरी पृष्ठ ८,००० मील व्यास वाली पृथ्वी पर केवल ५० या ६० मील मोटा परत है। यह भूपृष्ठ या भूपटल पृथ्वी के भीतरी भाग वाले पदार्थ की अपेक्षा काफी हल्का है। इसका घनत्व सम्पूर्ण पृथ्वी के घनत्व के आधे से कुछ ही अधिक है।

भूपटल जिस पदार्थ से बना है उसे चट्टान या शिला कहते है। इस परिभाषा के अनुसार प्रत्येक प्रकार का प्राकृतिक पत्थर चट्टान कहलाता है चाहे वह ग्रेनाइट की तरह सख्त हो या Clay की तरह नरम। बालू, कोयला, चूने का पत्थर, ग्रेनाइट (कणाश्म) आदि सभी चट्टान है। चट्टाने या शिलाएं कई प्रकार के खनिजों (Minerals) के सयोग से बनती है। कई चट्टाने एक ही खनिज से बनी हुई पाई गई है। एक खनिज से बनी चट्टान को हम खनिज भी कह सकते है और चट्टान भी। किन्तु कई खनिजों के योग से बनी चट्टान को हम चट्टान ही कह सकते है। ये खनिज भी कई प्रकार के रासायनिक मूलतत्त्वो (Chemical Elements) के मिलने से बने है। अभी तक ९३ रासायनिक तत्वों का पता चला है। भूपटल के अधिकाश भाग का निर्माण इनमें से केवल १६ तत्त्वों द्वारा ही हुआ है। विद्वानों का अनुमान है कि भूपटल, जल तथा वायुमण्डल का ९८ प्रतिशत भाग केवल आठ



चित्र २०. भूपटल के मूल तत्व

तत्त्वों से ही बना है, जिनका विवरण निम्नांकित है—

ऑक्सीजन	४६·६८ प्रतिशत	कैलशियम	३·६३ प्रतिशत
सिलीकन	२७·६० प्रतिशत	सोडियम	२·७२ प्रतिशत
अलूमिनियम	८·०५ प्रतिशत	पोटेशियम	२·५६ प्रतिशत
लोहा	५·०३ प्रतिशत	मैगनेशियम	२·०७ प्रतिशत

अन्य आठ तत्त्व टीटेनियम, फासफोरस, कार्बन (अंगार), हाड्रोजन, मैंगनीज, गंधक, क्लोरिन तथा बेरियम हैं। ये स्थल, जल तथा वायुमण्डल का १·५५ प्रतिशत भाग ही निर्माण करते हैं। तांबा, सीसा, जस्ता, टीन, सोना चाँदी आदि तत्त्वों का मिश्रण तो बहुत ही कम है। इस प्रकार हम देखते है कि भूपटल का निर्माण करने वाली चट्टानो मे हल्के तत्त्व अधिक हे और भारी बहुत कम हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक भी है कि पृथ्वी के ऊपरी भाग में हल्के तत्त्व अधिक हो।

५९ **खनिज** (Minerals)—स्वतन्त्र रूप मूल तत्त्व बहुत कम पाये जाते है। सोना, गंधक, कार्बन आदि दो-चार तत्त्व तो मूल रूप में मिलते है, परन्तु शेष सब एक दूसरे के साथ रासायनिक रूप में मिले रहते है। **मूल तत्त्वों के रासायनिक संयोग को, जिनकी रचना प्राकृतिक रूप-रंग, आकार-प्रकार आदि गुण एक निश्चित प्रकार के हों, खनिज कहते है**। कुछ खनिज एक ही मूलतत्त्व के होते हैं जैसे सोना, तांबा, कोयला आदि। किन्तु अधिकांश खनिज एक से अधिक मूलतत्त्वों के योग से बनते है। इन तत्त्वो के मिश्रण के अनुपात में ज्यों-ज्यों अन्तर पड़ता जाता है, त्यो-त्यों खनिजों की संख्या में भी वृद्धि होती जाती है। अब तक सैंकड़ों खनिजों का पता लग चुका है। एक खनिज की रचना में जिन तत्त्वों का मिश्रण रहता है, उनका अनुपात सदैव एक-सा रहता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि निश्चित संगठन के ऐसे रासायनिक योगिकों को ही खनिज कहते हैं। रासायनिक विश्लेषण द्वारा तत्त्वों का अनुपात निश्चत होते ही खनिज को सरलता से पहचाना जा सकता है। उदाहरण के लिए बिल्लौर या स्फटिक (Quartz) एक खनिज है, जिसमें ऑक्सीजन के दो अणु और सिलिकन का एक अणु मिला रहता है। अब फिर चाहे किसी भी प्रकार का स्फटिक क्यों न हो उसमें ऑक्सीजन के दो अणु और सिलिकन के एक अणु का अनुपात अवश्य ही होगा। इसी प्रकार अभ्रक ऑक्सीजन, सिलिकन, अलुमीनियम और पोटोशियम इन चार तत्त्वों का योग अवश्य रहता है।

६०. **खनिजों का वर्गीकरण**—भूपटल के तत्त्वों में ऑक्सीजन, सिलिकन, अल्युमीनियम और लोहा—ये चार तत्त्व मुख्य हैं। इनमें ऑक्सीजन तो लगभग आधा और सिलिकन चौथाई से अधिक है। अतः खनिजों में इन्हीं तत्त्वों का बाहुल्य

है। ये तत्त्व अधिकांशतः आक्साइडों के रूप में मिलते हैं। खनिजों का निम्न वर्गीकरण किया गया है—

(१) ऑक्सीजन प्रधान खनिज—स्फटिक और लोहे के ऑक्साइड (लाल गेरू, पीला गेरू आदि)।

(२) सिलिकन प्रधान खनिज—फेल्स्पार, नेफलीन, अभ्रक, क्लोराइड, आगाइट, हार्नब्लैण्ड, एसबेस्टास, जहरमोहरा, क्योलिन (चीनी मिट्टी) आदि।

(३) कार्बोनेट खनिज—मेग्नेसाइट, कैल्साट, डोलोमाइट आदि।

(४) अन्य खनिज—सोनामाखी, रूपामाखी, हरसोंठ (Gypsum) आदि।

६१. चट्टानों के भेद—चट्टानें प्रायः खनिज के समूहों के एकत्रित होने से बनी हैं। अधिकतर चट्टानों में स्फटमय खनिज (Crystalline Minerals) पाये जाते हैं। खनिजों की संख्या बहुत है तथा उनका मिश्रण भी कई प्रकार से सम्भव है। अतः चट्टानों की संख्या भी बहुत है। कुछ चट्टानें जीवित पदार्थों के विघटन (Decomposition) से बनी हैं, जैसे कोयला। इस प्रकार चट्टानें असंख्य प्रकार की हैं। परन्तु उनके बनने की विधि के अनुसार चट्टानों को तीन मुख्य वर्गों में बाँटा जाता है—

(१) प्रारम्भिक या आग्नेय चट्टानें, (Igneous Rocks).

(२) परतदार या स्तरीय चट्टानें (Sedimentary Rocks).

(३) रूपान्तरित चट्टानें (Metamorphic Rocks).

आग्नेय चट्टानें

६२. आग्नेय चट्टानों की विशेषताएँ—पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम अनेक बातें पढ़ चुके हैं, परन्तु इस बात पर सभी एकमत हैं कि प्रारंभ-काल में पृथ्वी द्रव अवस्था में थीं। जो चट्टानें द्रव अवस्था से ठंडी होकर बनी हैं उन्हें आग्नेय चट्टानें कहते हैं। इनका उत्पत्ति स्थान पृथ्वी का भीतरी भाग है जहाँ से ये ऊपर की ओर ठेली गई हैं और धरातल के ऊपर आकर अथवा पृथ्वी के भीतर-ही-भीतर इधर-उधर दरारों में फैलकर ठंडी हो जाने से बनी हैं। इसलिए ये चट्टानें स्वाभाविक रूप से स्फटमय या दानेदार हैं। 'आग्नेय' शब्द से ऐसी भ्रान्ति हो सकती है कि इन चट्टानों का निर्माण अग्नि से हुआ होगा। परन्तु वास्तव में ऐसा नही है। अग्नि का अर्थ **'ऊँचा तापक्रम'** ही समझना चाहिए। यदि किसी गरम द्रव पदार्थ को धीरे-धीरे ठण्डा होने दिया जाय तो पिघले हुए द्रव के जमने पर उसमें रवे (दाने) या स्फटिक (Crystals) पड़ते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये चट्टानें पिघले हुए द्रव पदार्थ के ठंडा हो जाने से बनी हैं। इसी कारण इन्हें आग्नेय चट्टानें कहते हैं। यद्यपि संभवतया यही चट्टानें

पृथ्वी पर सबसे पहले बनीं, तथापि सभी आग्नेय चट्टानें प्राचीनतम नहीं हैं। इसके प्रतिकूल ज्वालामुखी के उद्गारों के साथ इन चट्टानों की निर्माण-क्रिया होती रही है और अब भी जारी है। अन्य दूसरी प्रकार की चट्टानें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन्हीं चट्टानों से बनी हैं अतः इनको प्राथमिक चट्टानें कहना अधिक ठीक है।

६३. **आग्नेय चट्टानों की पहचान**—आग्नेय चट्टानों को हम निम्न बातों से पहचान सकते हैं—

(१) इन चट्टानों में **गोल कण नहीं** होते। गोल कण इन चट्टानों के टूटकर घिसने से बनते हैं।

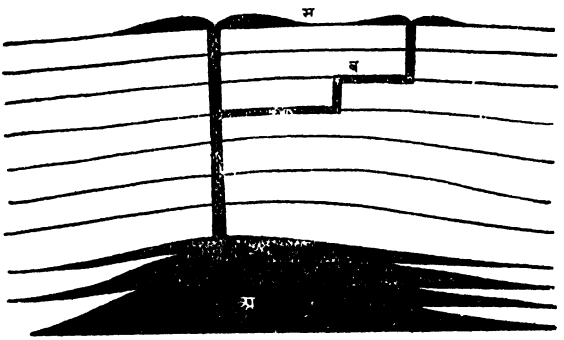
(२) इनमें प्रायः स्फट, दाने या रवे होते हैं परन्तु ये रवे **बेतरतीब** इधर-उधर फैले रहते हैं। रवों के आकार, संख्या आदि का कोई निश्चित नियम नहीं है।

(३) आग्नेय चट्टानों का जमाव एक ठोस पिण्ड होता है अतः वे सघन (Massive) होती हैं, उनमें **परत नहीं** होते। कई बार इनमें परत होने का भ्रम हो जाता है। उस भ्रम के कई कारण हो सकते हैं जैसे—

(क) लावा की ठंडी होकर जमी हुई परत पर दोबारा द्रव लावा का फैलकर जमना।

(ख) चट्टानों में समतल पर जोड़ आ जाना।

६४. **आग्नेय चट्टानों के भेद**—आग्नेय चट्टानों के अलग-अलग आधारों पर कई भेद किए जाते हैं—



(अ) पातालीय चट्टानें (ब) डाइक (स) बाह्य चट्टानें

चित्र २१. आग्नेय चट्टानें

(क) **स्थिति के अनुसार भेद**—भूगर्भ से गरम द्रव लावा निकल कर चलता है और पृथ्वी के ५० या ६० मील मोटे ऊपरी परत में कहीं न कहीं ठंडा होकर ठोस बन जाता है। भूपटल के जिस भाग में लावा जमता है उसी के आधार पर आग्नेय

चट्टानों को विभक्त किया जाता है। ठंडे होने के स्थान के अनुसार ही स्फटों का बड़ा या छोटा होना भी निर्भर करता है। स्थिति के अनुसार इनके निम्न भेद हैं—

(१) **पातालीय चट्टानें** (Plutonic Rocks)—ज्वालामुखी से निकलने वाला उत्तप्त, द्रव लावा धरातल तक नही आ पाता किन्तु अत्यन्त गहरे स्थानों पर ही रह जाता है और वहाँ **भीतर-ही-भीतर** ठण्डा होता है। अत्यन्त गहराई पर ठण्डा होने में इसको बहुत समय लगता है। अतः इसके स्फट या रवे **काफी बड़े-बड़े** होते हैं। इस प्रकार भीतर बनने वाली चट्टानों को पातालीय चट्टानें कहते है। ऊपर की चट्टानों के घिसकर हट जाने पर ये ऊपरी धरातल पर पहुँचती हैं।

(२) **बाह्य चट्टानें**—जो लावा ज्वालामुखी से निकलकर **धरातल पर** आ जाता है, वह जल्दी ठण्डा हो जाता है। अतः इन चट्टानों के **स्फट बहुत छोटे** होते हैं। इनको बाह्य चट्टानें कहते हैं। जब लावा धरातल के ऊपर आकर ठडा होता है तो कई बार इतनी जल्दी ठंडा होता है कि उसमें स्फट (Crystals) नही बन पाते। ऐसी चट्टान बिना रवे वाली होती है। इसकी चमक और चिकनाई के कारण इसको शीशा-जैसी (Glassy) चट्टान कहा जाता है। बसाल्ट भी शीशा-जैसी आग्नेय चट्टान है। इन्हें ज्वालामुखीय चट्टानें भी कहते है।

(३) **मध्यवर्ती चट्टानें**—कुछ लावा पृथ्वी के भीतरी भाग से तो निकल पड़ता हैं परन्तु ज्वालामुखी में होकर बाहर नहीं निकल पाता। किन्तु **चट्टानों में फँस-फँसा** ही जम जाता है। इनके स्फट छोटे-छोटे होते है। इस लावा के जमने से जो चट्टानें बनती हैं, उन्हें मध्यवर्ती चट्टानें या डाइक (Dykes) कहते हैं।

(ख) संरचना के अनुसार भेद—यह पहले बताया जा चुका है कि आग्नेय चट्टानें द्रव लावा के जमने से बनती है। अतः लावा की रासायनिक संरचना के अनुसार भी इनके भेद होते हैं। कारण यह है कि लावा भूपटल में किसी भी स्थान पर ठंडा हो, परन्तु उसके संघटक तत्त्व उसमें अवश्य मौजूद रहेंगे। यों तो विभिन्न आग्नेय चट्टानों में भिन्न-भिन्न तत्त्वों का मिश्रण भिन्न-भिन्न अनुपात में होता है, परन्तु इस वर्ग की सभी चट्टानों में थोड़ा या बहुत **सिलिका** (Silica) **का मिश्रण अवश्य** रहता है। सिलिका एक प्रकार का कड़ा सफेद पत्थर है जिससे गैस बनती है। सिलिका की न्यूनाधिक मात्रा के आधार पर आग्नेय चट्टानों को चार भागों में विभाजित किया गया है—

(१) **अम्ल चट्टानें जिनमें सिलिका की मात्रा ६६ से ८० प्रतिशत तक होती है। ये चट्टानें रंग में फीकी और अन्य चट्टानों की अपेक्षा कम आकर्षण शक्ति वाली होती हैं।**

(२) मध्यम चट्टानें जिनमें सिलिका का योग ५२ से ६६ प्रतिशत तक होता है।

(३) पैठिक चट्टानें जिनमें सिलिका का संयोग ४० से ५२ प्रतिशत तक होता है। इनमें लोहा, चूना और मेगनेशिया तत्त्वों की प्रधानता रहती है। ये चट्टानें रंग की काली होती हैं और बोझ में भारी होती हैं।

(४) अति पैठिक चट्टानें जिनमें सिलिका का भाग ४० प्रतिशत से कम होता है।

अम्ल चट्टानों में ग्रेनाइट (कणाश्म) चट्टानें मुख्य हैं। इनमें सिलिका ७५ प्रतिशत, पोटेशियम और सोडियम क्षार ७ प्रतिशत और लोहे के आक्साइड केवल ३ प्रतिशत होते हैं। सिलिका की मात्रा अधिक और लोहा कम होने के कारण मौसमी-प्रहार (Weathering) का इन चट्टानों पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। अतः इनको इमारतों के बनाने के काम में लाया जाता है।

पैठिक चट्टानों में बसाल्ट चट्टानें मुख्य हैं। महासागरीय ज्वालामुखियों और द्वीपों में ये चट्टानें अधिक मिलती हैं। इनमे क्षार तो कम मात्रा में होते हैं, परन्तु लोहा, चूना और मेग्नेशिया अधिक मात्रा मे मिलते हैं। यद्यपि ये चट्टानें ग्रेनाइट चट्टानों की अपेक्षा ऊँचे तापक्रम पर पिघलती हैं, परन्तु उनकी अपेक्षा पतली होती हैं। इन पर मौसमी-प्रहार का प्रभाव बड़ी जल्दी होता है।

आग्नेय चट्टानों का आर्थिक महत्त्व—भारी और मूल्यवान धातुएं भूगर्भ में दबी पड़ी हैं। भूगर्भ से द्रव लावा के रूप में इन धातुओं का जमाव भूपटल पर हो जाता है जिसे हम लोग खानें खोदकर प्राप्त कर लेते हैं। अधिकाश आग्नेय चट्टानों में खनिज-कण मिले रहते हैं। उत्तरी अमेरिका में लारेशियन शील्ड बहुमूल्य खनिज पदार्थों के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ पर सोना, लोहा, तांबा आदि अनेक धातुएँ मिलती हैं। दक्षिण भारत में, जहाँ पर प्राचीन आग्नेय चट्टानों की बहुतायत है, मूल्यवान खनिज पदार्थ पाये जाते हैं।

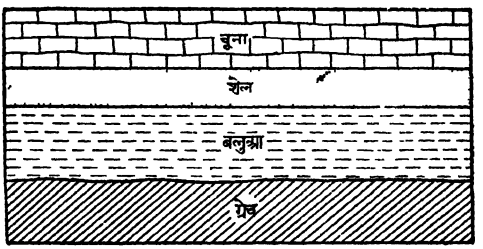
परतदार चट्टानें (Sedimentary Rocks)

६५. परतदार चट्टानों की विशेषताएँ—ये चट्टानें धरातल पर अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। विद्वानों का अनुमान है कि पृथ्वी के ऊपरी धरातल के तीन-चौथाई भाग पर परतदार चट्टानें बिछी हुई हैं। यद्यपि ऊपरी धरातल पर ये चट्टानें इतनी विस्तृत हैं किन्तु भूपटल के निर्माण में इनका भाग केवल ५ प्रतिशत ही है। शेष ९५ प्रतिशत भाग में आग्नेय या रूपान्तरित चट्टानें भरी पड़ी हैं। इन चट्टानों में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं—

(१) इन चट्टानों में से किसी एक को चाकू से खुरचा जाय, तो उसकी चूर अलग हो जायगी। यदि इस चूर को सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता से देखा जाय, तो पता चलेगा कि इस चूर में **छोटे-बड़े आकार के सूक्ष्म कण** ही सूक्ष्म कण भरे पड़े हैं। इन विभिन्न आकार वाले सूक्ष्म कणों का विशेष अध्ययन करने का पता चलेगा कि अलग-अलग कणों के खनिज तत्त्व भी प्रायः एक दूसरे से भिन्न हैं।

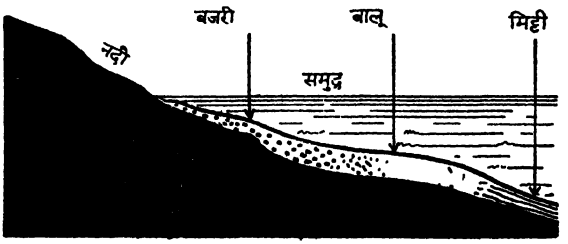
(२) फिर यन्त्र द्वारा चट्टान की ओर ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो पता चलेगा कि ये सूक्ष्म कण **सीधी रेखाओं में एक दूसरे से गुँथे** हुए हैं। ये सीधी रेखायें भी एक दूसरी के समानान्तर स्पष्ट दिखाई देंगी। इन समानान्तर परतों या स्तरों द्वारा इन चट्टानों को सघन रचना वाली आग्नेय चट्टानों से अलग पहचाना जा सकता है।

उपर्युक्त दोनों विशेषताएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन विशेषताओं के द्वारा ये चट्टानें अपना इतिहास स्वयं वर्णन करती हैं। इनसे स्पष्ट है कि नाना प्रकार के खनिजों वाली विभिन्न चट्टानों के टूटकर चूर होने और घिसने से सूक्ष्म कण बने और फिर ये सूक्ष्म कण परतों के रूप में एकत्र होने के पश्चात् जमकर चट्टान बने। इन चट्टानों की अधिकता से यह अनुमान हो सकता है कि पृथ्वी कितनी पुरानी है।



चित्र २२. परतदार चट्टानें

६६. परतदार चट्टानों के बनने की विधि—सबसे पहले आग्नेय और फिर कुछ काल के पश्चात् अन्य सभी प्रकार की चट्टानें मौसमी प्रहार द्वारा धीरे-धीरे



चित्र २३. परतदार चट्टानों का निर्माण

टूट-फूट गयीं। यह टूटी हुई चट्टानों का चूरा नदियों, हवाओं अथवा हिमानियों (Glaciers) द्वारा हटाया जाता रहा। जल इस चूरचार को अपनी प्रवाह-शक्ति तथा

अपनी विलयन शक्ति (Solution Power) से हटाकर समुद्रों या झीलों में डालता रहा । प्रवाह-शक्ति के कमजोर पड़ जाने पर भारी और बड़े आकार के शिलाचूर पहले जमा हो गए तथा हल्के और छोटे कण कुछ आगे जमा हो गए । इस प्रकार की छंटनी द्वारा एक ही आकार और वजन के कण एक स्थान पर एकत्रित होते हैं । फिर प्रवाह मे अन्तर होने पर इन परतों के ऊपर दूसरे प्रकार के कण जमा हो सकते हैं । इस प्रकार चट्टानों का चूरा समुद्र की तली में एक परत के बाद दूसरे परत के रूप में बैठता गया । यह क्रिया लाखों वर्षों तक होती रही और परतों का बहुत ऊँचा ढेर एकत्र हो गया । ऊपरी परतों के दवाव और पानी में घुलकर आये हुए चूना या अन्य पदार्थों के मिलने से परत जमकर सख्त चट्टानें बन जाती हैं । इतना अधिक दबाव पड़ने पर भी परतों के कणों के बीच में छोटे-छोटे छेद रह जाते हैं । चट्टान के जमकर पत्थर रूप बन जाने पर ये छेद हमारे शरीर के रोम छिद्रों की तरह रह जाते हैं । प्रायः इन छिद्रों में होकर पृथ्वी का पानी टपकता रहता है । इस पानी के साथ चूना मिश्रित पदार्थ भीतर पहुँच जाते हैं जो चट्टान को सीमेन्ट की तरह जमाने में सहायता पहुँचाते हैं तथा चट्टान के खाली स्थानों में भर कर अलग-अलग टुकडों को एक ठोस चट्टान के रूप में बना डालते हैं । चूना आदि पदार्थों द्वारा अलग-अलग टुकड़ों का एकत्रित होना और जमना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है । कभी-कभी अगल बगल की हलचल से या किसी अन्य हलचल से ये छिद्र अधिक संकीर्ण हो जाते हैं । पृथ्वी के धरातल पर उथल-पुथल होने के कारण पानी के भीतर बनी हुई ये परतदार चट्टानें बाहर निकल आती है ।

हवा द्वारा उड़ाकर लाई हुई चूरचार ऊपरी परतों के दवाव के कारण ही जुडकर ठोस चट्टान बन जाती है । जिस प्रकार साबुन का चूर साँचे में दबने से साबुन की टिकिया के रूप में बदल जाता है, उसी प्रकार ये चट्टानें भी पृथ्वी-तल पर जमी होगी । चीन देश में इस प्रकार की सैकड़ों फुट मोटी लोयस चट्टानें मिलती हैं । हिमानियों द्वारा जमा किये हुए शिलाखण्डों में परत नही बनते । परतदार चट्टानों में परत न होने का यही एक अपवाद है ।

अस्तु, परतदार चट्टानों में कई परतें एक दूसरे के ऊपर बिछी रहती हैं । ये परतें किसी **निश्चित विभाजन-रेखा** द्वारा या **विभिन्न मोटाइयों** द्वारा अथवा कई बार अपने-अपने **अलग रगों** द्वारा साफ पहचानी जा सकती हैं । इन परतों को स्तर भी कहते हैं ।

६७. परतदार चट्टानों के भेद—इन चट्टानों के निर्माण में स्फटिक (Quartz), मिट्टी (Clay) और चूने (Calcite) के खनिजों की अधिकता है । परन्तु इन चट्टानों का वर्गीकरण इनकी निर्माण-विधि के अनुसार किया जाता है । चट्टान बनने की

विधि के अनुसार इन चट्टानों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) चट्टान-चूर्ण में निर्मित, (२) विभिन्न रसायनों से निर्मित, और (३) कार्बनिक तत्त्वों से निर्मित।

(१) **चट्टान-चूर्ण द्वारा निर्मित**—परिवहन की शक्तियाँ (Transporting Agents) अपनी प्रवाह-शक्ति से कुछ शिला-चूर्ण अपने साथ बहा लाती हैं। ज्योंही इनकी प्रवाह-गति धीमी होती है, उनकी बहा ले जाने की शक्ति क्षीण हो जाती है। अतः वे पहले कुछ बड़े और भारी, फिर इसके बाद छोटे और हल्के प्रवाहित पदार्थ को नीचे तली में छोड़ देती है। बहाकर लाये हुए शिला-चूर्ण दो प्रकार के होते हैं—(क) जिनमें बालू की अधिकता हो, और (ख) जिनमें चिकनी मिट्टी अधिक हो।

(क) **बलुई चट्टानें** (Siliceous Rocks)—इन चट्टानों में स्फटिक (Quartz) खनिज की प्रधानता होती है। स्फटिक अत्यन्त कठोर और नष्ट न होने वाला खनिज है। अतः जल के थपेडे खाकर पहले छोटे टुकड़ों के रूप में और फिर बालू के रूप में बदल जाता है। स्फटिक के अतिरिक्त अन्य खनिजों के सूक्ष्म कण भी इन चट्टानों में मिले रहते हैं। पानी में घुली हुई मिट्टी, चूना या सिलिका के मिलने से बालू के कण जमकर चट्टान के रूप में बदल जाते हैं। इन चट्टानों में बलुआ-पत्थर (Sandstone) मुख्य है जिसे इमारतों के बनाने के काम में लेते है। यह चट्टानें **रन्ध्रपूर्ण** (Porous) होती हैं, अतः इनमें पानी भरा रहता है जिसको कुएँ खोदकर प्राप्त किया जा सकता है।

(ख) **मृणमय चट्टानें या वे चट्टानें जिनमें मिट्टी अधिक हो** (Argillaceous)—इनमें क्ले (चिकनी मिट्टी) की अधिकता रहती है। बालू के प्रतिकूल मिट्टी के कण बहुत सूक्ष्म होते हैं। बारीक कणों के जमने से ही ये चट्टानें बनती हैं। अतः इनमें **छिद्र बहुत कम** होते हैं। इसी कारण पानी इन चट्टानों को भेदकर नीचे नहीं जाने पाता। परन्तु जब ये चट्टानें ऊपरी धरातल पर आ जाती हैं, तो इनमें कटान बड़ी जल्दी होने लगती है। इसी से इन चट्टानों को इमारतों में नहीं लगाते। इन चट्टानों में शेल (Shale) मुख्य है।

(२) **विलीन रसायनों से निर्मित चट्टानें**—बहता हुआ जल अपने साथ कुछ घुलनशील तत्त्वों को घोलकर बहा लाता है और झरनों के मुहानों पर अथवा खारी झीलों में डाल देता है। इसी से कालान्तर में चट्टानें बन जाती है। हरसोंठ (Gypsum), शैल-लवण (Rock-Salt), पोटेशियम नमक आदि इसी प्रकार की चट्टानें हैं।

(३) **कार्बनिक तत्त्वों से निर्मित चट्टानें**—जानवरों अथवा पेड़-पौधों के अवयव धीरे-धीरे एकत्र होते रहते हैं और सख्त चट्टान के रूप में बदल जाते हैं। इन चट्टानों के दो मुख्य भेद हैं—(क) वे जिनमें चूने की अधिकता हो और (ख) वे जिनमें कार्बन की अधिकता हो।

(क) **चूने की चट्टानें**—चूना-प्रधान चट्टानों में चूने का पत्थर (चूना-प्रस्तर) मुख्य है। जीवधारियों के अस्थिपंजर तथा पानी में मिले हुए चूने के एकत्र होने से इसका निर्माण होता है। जलचारी जीवों के ढांचे एक के ऊपर एक इकट्ठे होते जाते हैं और कालान्तर में यही चूने का पत्थर बन जाता है। स्पष्ट है कि चूने के पत्थर के लिए उपयुक्त सामग्री अधिकतर उन समुद्रों में मिलेगी जहाँ जल में जीवों और वनस्पतियों के योग्य भोजन प्रचुर मात्रा में मिल सके तथा जल इतना गरम रहता हो कि उसमें जीव खूब पनप सकें। उष्ण और शीतोष्ण कटिबन्धों के छिछले समुद्रों में ये सुविधायें प्राप्य हैं। अतः इन्हीं भागों में चूने की चट्टानें अधिक जमा होती हैं। बालू या मिट्टी आदि के मिश्रण होने से इन चट्टानों के अनेक भेद हो जाते हैं, जिनमें खड़िया, सेलखड़ी, डोलोमाइट आदि चट्टानें सम्मिलित हैं। चूने का पत्थर भूतल पर बहुतायत से पाया जाता है, और यह मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी भी है। इस पत्थर से सीमेन्ट बनता है, लोहा गलाया जाता है, और यह इमारतें बनाने के काम में भी बहुत आता है।

(ख) **कार्बन-बहुल चट्टानें**—कार्बन-प्रधान चट्टानों में कोयले का पत्थर, आइल-शेल आदि चट्टानें प्रमुख हैं। वनस्पति तत्त्वों के कुछ अंश सड़ जाते हैं और बाद में दबाव पड़ने से जमकर चट्टान बन जाते हैं।

६८. **कुछ प्रमुख परतदार चट्टानें**—यहाँ पर कुछ परतदार चट्टानों का वर्णन दिया जा रहा है—

(१) **शेल** (Shale)—जब साधारण मिट्टी या चिकनी मिट्टी का जमाव जोड़ने वाले पदार्थों के कारण जमकर पत्थर रूप हो जाता है तो उसे शेल कहते हैं। शेल पत्थर कोमल होता है और बड़ी जल्दी टूट जाता है। इसमें न तो पत्थर की सी कठोरता होती है और न यह मिट्टी जैसा नरम होता है। मिट्टी के साथ अन्य चूरा भी इसमें मिला रहता है। जिस प्रकार का चूरा अधिक मिल जाता है उसी के अनुसार शेल का नाम पड़ जाता है। जैसे बालू प्रधान शेल, चूना प्रधान शेल या लौह प्रधान शेल कहा जाता है कि परतदार चट्टानों में ८३ प्रतिशत शेल चट्टानें होती हैं।

(२) **चूने का पत्थर**—इन चट्टानों में अधिकतर वनस्पति या जीवों के ऐसे अवशेष जमा हो जाते हैं जिनसे चूना निकलता है। इन चट्टानों की परतों के छिद्रों में समुद्रजल से चूना भर जाता है। चूना सब पदार्थों को जमाकर कठोर चट्टान बना

डालता है । यदि चूना प्रधान पदार्थ में चिकनी मिट्टी अधिक मात्रा में मिल जाती है तो वह चट्टान चूना वाली शेल बन जाती है । यदि उसमें बालू अधिक मिल जाती है तो उसे बलुई चट्टान कह देते हैं । कहा जाता है कि परतदार चट्टानों में १० प्रतिशत चूने की चट्टानें होती हैं ।

(३) **डोलोमाइट**—यदि चूने वाली चट्टान में अधिक चूना न मिलकर उसमें मेगनेशियम अधिक मिल जाता है तो वह चट्टान डोलोमाइट बन जाती है ।

(४) **खडिया**—यह भी एक प्रकार का चूने का पत्थर है जिसमें चूने के कण बहुत बारीक होते हैं । चूने के बारीक या छोटे कण जमकर खडिया का रूप धारण कर लेते हैं ।

(५) **कांग्लोमेरेट** (Conglomerate)—चट्टानों के छोटे-छोटे गोल टुकड़े (Pebbles) परस्पर चिपक कर शिला बन जाती है तो उसे हम कांग्लोमेरेट कहते हैं । यदि चट्टान के छोटे टुकड़े गोल न होकर नुकीले होते है तो उनके परस्पर मिलकर जम जाने से ब्रेशिया पत्थर (Breccia) बन जाता है ।

६९. **परतदार चट्टानों का आर्थिक महत्त्व**—मानव जीवन में परतदार चट्टानों का उपयोग अत्यन्त महत्त्व रखता है । कोयला और पेट्रोलियम हमारी सभ्यता के आधार-स्तम्भ बताये जाते हैं । ये दोनों पदार्थ परतदार चट्टानों में ही प्राप्त होते हैं । चूना और खडिया दोनों ही मीमेन्ट बनाने के काम आते है । बालू मे काँच बनता है । इमारतें बनाने में बलुआ पत्थर बहुत काम आता है । इस पत्थर में कई विशेषतायें हैं । प्रथम तो यह कि यह पत्थर सभी स्थानों पर सरलता मे मिल जाता है । दूसरे, यह आसानी से काट कर चिकना बनाया जा सकता है और तीसरे यह काफी कठोर होता है और ऋतु-प्रहार का इस पर कम प्रभाव होता है । अत· यह काफी टिकाऊ होता है । इमारतें बनाने में चूने का पत्थर भी काम में लेते है क्योंकि यह भी कठोर शिला होती है । इन चट्टानों में सोना, ताँबा और टिन आदि धातुयें भी पाई जाती हैं । नदियों के रेत में टिन धातु पाया जाता है ।

रूपान्तरित चट्टानें (Metamorphic Rocks)

७०. **परिवर्तित या रूपान्तरित चट्टानें**—आग्नेय अथवा परतदार चट्टानों के मूल रूप में परिवर्तन हो जाने से जो चट्टानें बनती हैं उन्हें रूपान्तरित चट्टानें कहते हैं । पृथ्वी की **आभ्यन्तरिक गर्मी अथवा भारी दबाव अथवा दोनों ही कारणों से** आग्नेय और परतदार चट्टानों के **रूप और गुण में पूर्ण परिवर्तन** हो जाता है । इस परिवर्तन से मूल चट्टान की **कठोरता में वृद्धि** हो जाती है और कई बार चट्टान के **खनिज भी बदलकर** नवीन प्रकार के खनिज बन जाते हैं । इन चट्टानों में दबाव या गर्मी की न्यूनाधिक मात्रा के कारण अनेकों प्रकार के परिवर्तन देखे गए हैं । पूर्ण परिवर्तन हो

जाने पर तो चट्टान के मूल रूप का पहचान लेना भी कठिन कार्य है । विद्वान भी ठीक-ठीक नहीं बता सकते कि रूप-परिवर्तन से पहले चट्टान आग्नेय थी या परतदार । परतदार चट्टानों और इन चट्टानों की निर्माण-विधि में मुख्य अन्तर यह है कि परतदार चट्टानें अन्य चट्टानों की चूरचार के स्थानान्तरित होकर पानी के भीतर समुद्र की तली में परत रूप से एकत्रित होने से बनी हैं । परन्तु इन चट्टानों को स्थानान्तरित होने की आवश्यकता नहीं । इनके बनने में मूल चट्टान अपने स्थान पर ही अधिक गर्मी या दबाव तथा रासायनिक क्रियाओं के कारण अपना रूप बदल डालती है । अब प्रश्न यह है कि जब यह चट्टानें अपने स्थान पर ही रूप बदलती हैं, तो फिर इन पर प्रभाव डालने वाली गर्मी और दबाव किस प्रकार उत्पन्न होते हैं । सम्भवतया गर्मी और दबाव के निम्न मुख्य कारण हैं—

(१) पर्वत निर्माणकारी शक्तियों द्वारा पृथ्वी की हलचल से भूपृष्ठ पर भारी दबाव पड़ता है और ऊपरी पृष्ठ पर सिकुड़न या मोड़ पड़ जाती है । इसी दबाव से तथा भीतर की गर्मी और भीतर के अन्य पदार्थों के रासायनिक प्रभाव से चट्टानों के रूप में परिवर्तन हो जाता है । ज्वालामुखी से निकली राख और शेल चट्टान (Shale) जब पृथ्वी के नीचे दब जाती है और उस पर अत्यधिक दबाव पड़ता है, तो उसका रूप बदलकर स्लेट (Slate) पत्थर बन जाता है ।

(२) ज्वालामुखी से निकलने वाला उत्तप्त द्रव लावा पृथ्वी के भीतर ही मार्ग में पड़ने वाली चट्टानों के छिद्रों, दरारों या परतो के भीतर प्रवेश कर जाता है जिससे चट्टानों पर भारी दबाव पड़ता है । इस प्रकार जब लावा चूने के पत्थर की परतों में घुस जाता है या उसके ऊपर या नीचे इकट्ठा हो जाता है, तो चट्टान पर काफी दबाव पड़ता है । साथ ही लावे के भीषण ताप से चूने का पत्थर संभवतया पिघलकर नये रवों या स्फटों (Crystals) के रूप में बदलने लगता है और धीरे-धीरे सम्पूर्ण पत्थर संगमरमर बन जाता है । यदि चूने के पत्थर के परतों में समुद्री पौधे या जीव दबे हुए रहते हैं, तो संगमरमर बनते समय इनकी छाप पत्थर पर आ जाती है । अनेकों प्रकार के चित्रित संगमरमर इसी प्रकार बने है ।

(३) कभी-कभी दोनों प्रक्रियायें साथ-साथ होती हैं । भूमिगत जल भी खनिजों में परिवर्तन कर डालता है जिसका वर्णन आगे किया जायगा ।

(४) भूखण्ड निर्माणकारी घटनाओं से विशाल भूभाग पर प्रभाव पड़ता है, और पृथ्वी की रचना में क्रान्तिकारी परिवर्तन होता है । उस समय भारी दबाव से चट्टानों का रूप बदलता है । इस प्रकार से बनी हुई रूपान्तरित चट्टानें पृथ्वी के विशाल भागों में फैली हुई होती हैं ।

७१. परिवर्तन या रूपान्तर के भेद—चट्टानों में परिवर्तन या रूपान्तर करने वाले कारणों के आधार पर रूपान्तरण के निम्न भेद किये जाते हैं—

(१) **स्थिर रूपान्तर** (Static Metamorphism)—भूगर्भ में स्थित चट्टानों पर ऊपर का अपरिमित भार पड़ता है। इस भार से चट्टानों में जो परिवर्तन होता है उसे स्थिर रूपान्तर कहते हैं।

(२) **गतिशील रूपान्तर** (Dynamic Metamorphism)—भूगर्भ में स्थित चट्टानों पर ऊपरी चट्टानों का भार तो होता ही है, परन्तु भार के कारण भूपटल में गति उत्पन्न हो जाती है जिससे स्ट्रेटा में मोड़े पड़ती हैं या वह चटक जाता है। ऐसी अवस्था में चट्टानों पर भारी दबाव पडता है और उनका रूपान्तर हो जाता है। ऐसे परिवर्तन को गतिशील रूपान्तर कहते हैं।

(३) **सम्पर्कजन्य रूपान्तर** (Contact Metamorphism)—जब गरम लावा अपने सम्पर्क में आने वाली चट्टानों में परिवर्तन कर देता है तो उसे सम्पर्क रूपान्तर कहते हैं।

(४) **जलोष्णीय परिवर्तन** (Hydrothermal Metamorphism)—जब कभी गरम जल या भाप चट्टानों में परिवर्तन कर देते हैं तो उसे जलोष्णीय परिवर्तन कहते हैं।

(५) **जलीय परिवर्तन** (Hydro Metamorphism)—जब चट्टानों पर भार की मात्रा कम हो और तापक्रम भी साधारण हो, परन्तु जल के दबाव से या जल में मिले हुए क्षार के प्रभाव से चट्टानों में परिवर्तन हो गया हो तो ऐसे परिवर्तन को जलीय परिवर्तन कहते है।

७२. रूपान्तरित चट्टानों के भेद—परिवर्तित चट्टानों को दो भागों में विभक्त किया जाता है—(१) पल्लवित (Foliated), (२) अपल्लवित (Non-Foliated)।

(१) **पल्लवित परिवर्तित चट्टानें**—'पल्लव' शब्द का अर्थ 'पत्ता' है। जिस प्रकार पत्ते को फाड़ने पर वह एक निश्चित दिशा में फटता चला जाता है उसी प्रकार पल्लवित चट्टानें भी एक निश्चित दिशा में टूटती या फटती हैं। पल्लवित चट्टानों का रचना-विकास पट्टियों के रूप में होता है। अधिकांश परिवर्तित चट्टानें प्रायः पल्लवित ही होती हैं। इनमें अभ्रक और क्लोराइड का संयोग अधिक रहता है।

(२) **अपल्लवित परिवर्तित चट्टानें**—ये चट्टानें प्रायः जलीय परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होती हैं। ये चट्टानें पल्लवित चट्टानों से अधिक ठोस होती हैं। इनमें संगमरमर और स्फटिक मुख्य हैं।

७३. मूल चट्टानें और उनका रूपान्तर—आग्नेय एवं परतदार चट्टानों के रूप बदल जाने से परिवर्तित चट्टाने बनती है । इनके कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

(क) आग्नेय चट्टानें और उनके तुल्य रूपान्तर

आग्नेय	रूपान्तर
ग्रेनाइट	ग्रेनाइट नीस
साइनाइट	साइनाइट नीस
ग्रेबो	ग्रेबो नीस
बसाल्ट	स्लेट

(ख) परतदार चट्टानें और उनके रूपान्तर

बिना जमा रूप	जमकर बनी हुई परतदार चट्टान	रूपान्तरित चट्टान
कंकड़ या बजरी	कोग्लोमेरेट	कोग्लोमेरेट शिस्ट
बालू	बलुआ पत्थर	स्फटिक
मिट्टी	शेल	स्लेट, अभ्रक शिस्ट
चूना तत्व	चूने का पत्थर	संगमरमर
पीट	लिग्नाइट व	ग्रेफाइट
(वनस्पति का ढेर)	कोयला	

उपर्युक्त तीनों प्रकार की चट्टानें मानव-जीवन के लिए अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं । हमारे जीवन में काम आने वाली प्राय सभी वस्तुएँ हमें इन्ही से ही प्राप्त होती हैं । सभी प्रकार की धातुएँ, कोयला तथा खनिज तेल हमे इन चट्टानो मे ही मिलते हैं । इन चट्टानों के टूटने से ही मिट्टी (Soil) बनती है जिस पर वनस्पति जगत् का जीवन निर्भर है । इन चट्टानों के छोटे-मोटे छिद्रों में पानी भरा रहता है और यही पानी हमें कुएँ खोदने पर मिल जाता है । अब आप समझ गए होंगे कि हम सब अपने जीवन के लिए इन चट्टानों के कितने ऋणी हैं ।

७४ भूमि-आवरण (Mantle Rocks)—उपर्युक्त तीनों प्रकार की चट्टानें भूमि-आवरण (Mantle Rocks) से ढँकी पड़ी हैं । यह आवरण कहीं तो दो-चार इंच ही मोटा है, परन्तु कहीं-कहीं इसकी मोटाई सैकड़ों फुट होती है । गंगा नदी

के मैदान मे इसकी मोटाई कई सहस्र फुट बतलाई जाती है। इसमें चट्टानों के टुकड़े, बालू, कंकड, धूल और मिट्टी आदि सम्मिलित हैं। इस भूमि-आवरण के ऊपरी बारीक भाग को मिट्टी (Soil) कहते हैं। मानव-जीवन के लिए मिट्टी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण खेती और इसीलिए समस्त मानवी सभ्यता का आधार पृथ्वी की मिट्टी ही है। **मिट्टी किसी भी देश की वास्तविक सम्पत्ति** मानी जाती है। मिट्टी की प्रशसा करते हुए एक बार श्री थियोडोर रूज़वेल्ट ने कहा था कि यदि भूपृष्ठ मे मिट्टी बिलकुल समाप्त हो जाय, तो फिर मानव सभ्यता के समाप्त होने में अधिक दिन न लगेंगे। वास्तव में पृथ्वी से प्राप्त होने वाले प्राकृतिक साधनो में मिट्टी और पानी ये दो अमूल्य रत्न है।

प्रश्न

1. Suggest a classification of rocks and give a brief account of their mode of origin.

(*Agra B.A. 1953, 55; Allahabad B.A. 1951*)

2. Classify sedimentary rocks and state their chief characteristics and uses.

(*Ban. B.A. & B Sc. 1951, 53; Agra B.A. 1952*)

3. What do you understand by mentamorphism in rocks? State the various ways it is brought about, giving examples.

(*Agra B.A. 1948*)

4. Write short notes on :—

Igneous rocks, Sedimentary rocks, Metamorphism and Dyke.

सातवाँ अध्याय

स्थलरूप और उनका परिवर्तन

(Principal Land Forms and Forces that mould them)

७५ स्थलरूप (Land forms)—पृथ्वीतल के असमतल भागों को दो मोटे भागों में बाँटा जा सकता है। पृथ्वी के विशाल एवं विस्तृत गड्ढे महासागर है, तथा विस्तृत ऊँचे भाग महाद्वीप कहलाते हैं। स्थलीय भाग पर भी हमें विभिन्न प्रकार के रूप (Features) दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी ऊँचाई-नीचाई कहीं पर भी एक समान नहीं है। विभिन्न ऊँचाई-नीचाई का यह विचित्र सम्मेलन ही सृष्टि के सौन्दर्य एवं उपादेयता का हेतु है। स्थलखण्ड के इन अगणनीय विचित्र चित्रों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) विस्तृत मैदान, (२) ऊँची पर्वतमालायें, तथा (३) पठार और ऊबड-खाबड पर्वतीय प्रदेश।

स्थल के ये विभिन्न आकार स्थायी नहीं हैं। आज जहाँ पर्वतश्रेणियाँ हैं, वहाँ भविष्य में मैदान बन सकते हैं। आज जहाँ हिमालय पर्वत खड़ा है, वहाँ पर किसी समय टेथिस समुद्र हिलोरें मारा करता था। आज जहाँ हरे-भरे मैदान है वे आगे चलकर मरुस्थल हो सकते हैं। स्थलरूपों की उत्पत्ति एवं परिवर्तन में कुछ विशेष शक्तियों का हाथ है जिनके प्रभाव से पृथ्वी का रूप निरन्तर बदलता रहा है और आगे भी बदलता रहेगा।

७६. स्थलरूपों में परिवर्तन करने वाली शक्तियाँ—स्थलरूपों में उलट-फेर करने वाली इन शक्तियों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—(१) भूगर्भ में अदृश्य रूप से क्रियाशील रहने वाली **भौगर्भिक शक्तियाँ** (Endo-genetic forces) तथा (२) पृथ्वी के बाहर उत्पन्न होने वाली **समतलस्थापक या बाह्य शक्तियाँ** (Exo-genetic forces)।

(१) भौगर्भिक शक्तियाँ या आन्तरजात शक्तियाँ—भूगर्भ के किसी अदृश्य भाग में कुछ गुप्त घटनाएँ घटित होती रहती है। इन घटनाओं के कारण धरातल के रूप में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है। इन घटनाओं के तीन कारण हो सकते हैं—**(क) आन्तरिक ताप, (ख) भीतरी चट्टानों का प्रसार** (Expansion) **या संकोच** (Contraction), तथा **(ग) द्रव पदार्थ का स्थानान्तरित** होना अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना।

पृथ्वी की इन आभ्यन्तरिक घटनाओं की दो श्रेणियाँ की जा सकती हैं—

(क) **दीर्घकालिक घटनाएँ** (Diatrosphism)—इस श्रेणी में पृथ्वी की वे अदृश्य एवं अत्यन्त धीमी घटनायें सम्मिलित हैं जिनके फलस्वरूप धरातल का कुछ भाग टूट या मुड़ जाता है अथवा ऊपर या नीचे, दायें या बायें हट जाता है। पृथ्वी के इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि ऊँचे उठने और नीचे धँसने के कारण प्रायः सभी महाद्वीप समुद्र में डुबकी लगा चुके है।

(ख) **आकस्मिक घटनायें**—इस श्रेणी में वे घटनायें सम्मिलित हैं जिनके कारण धरातल के आधार में अचानक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है। इस श्रेणी में ज्वालामुखी और भूकम्प मुख्य हैं। ज्वालामुखी भूगर्भ से लावा को लाकर धरातल पर पटक देते हैं जिससे भूमि अत्यन्त ऊँची-नीची हो जाती है। भूकम्पो से भी पृथ्वी के ऊपरी आकार में परिवर्तन हो जाता है, नदियों का मार्ग बदल जाता है तथा धरातल पर बहुत-सी उथल-पुथल मच जाती है।

इस प्रकार भौगर्भिक या आन्तरजात (Endo-genetic) शक्तियाँ भूतल को निरन्तर **असमतल** या ऊँचा-नीचा बनाती रहती है।

(२) **समतलस्थापक या बाह्य शक्तियाँ** (Exo-genetic forces)—ये शक्तियाँ स्थलमण्डल के ऊँचे-नीचे भागो के अन्तर को मिटाकर सभी स्थानों को **समतल** बनाने का प्रयत्न करती हैं। जो स्थान ऊँचे हैं उन्हें निरन्तर काटती रहती हैं तथा कटे हुए पदार्थ को बहाकर धरातल के निचले भागों या गड्ढो में एकत्रित करती रहती है। यह मुख्यतया बहते जल, वायु और हिमानी (Glacier) आदि के द्वारा सम्पन्न होता है। समतलस्थापन का कार्य भी दो भागों में विभक्त किया जाता है—

(क) **अपचयन की शक्तियाँ** (Deggradation)—ऊँचे भागों को काटकर समतल बनाने का यत्न करती रहती है।

(ख) **जमाव की शक्तियाँ** (Aggradation)—ऊँचे भागों की छीलन या चूर-चार को **नीचे भागों में**, ऊँचा बनाने के उद्देश्य से, जमा करती रहती है।

७७. **भूम्युत्थान चक्र** (Evolutionary cycle)—अस्तु, हम देखते है कि भौगर्भिक शक्तियाँ भूमि को ऊँचा-नीचा बनाने का भरसक प्रयत्न करती है। इसके विपरीत बाह्य शक्तियाँ उसे समतल बनाने की चेष्टा करती हैं। इन दोनों प्रकार की शक्तियों में निरन्तर **संघर्ष** होता रहता है। ज्योंही कोई भूमि-भाग सागर-गर्भ से ऊपर उठता है त्योंही उसका कटना और घिसना शुरू हो जाता है। उस चूर-चार से नवीन भूमि पुनः ऊँची होने के लिए समुद्र के पेट में तैयार होती रहती है।

फलतः दोनों प्रकार की शक्तियों के इस संघर्ष के कारण भूमि के उत्थान-पतन का कभी समाप्त न होने वाला एक **अखण्ड** चक्र चलता रहता है। इस निरन्तर चलने वाले चक्र को भूम्युत्थान चक्र कहते हैं। इस चक्र की तीन अवस्थायें हैं—

(१) **प्रारम्भिक रूप**—इसमे विषमतायें न्यूनतम होती है। इसे स्थल की युवावस्था (Youth) कहा जाता है।

(२) **मध्य रूप**—इसमें स्थल पर विषमतायें विकसित रूप में होती हैं। इसे स्थलखण्ड की प्रौढ़ावस्था कहते हैं।

(३) **अन्तिम रूप**—इसमें पुनः विषमतायें कम हो जाती हैं। इसे वृद्धावस्था कहा जाता है।

उपर्युक्त भूम्युत्थान चक्र (Cycle of Erosion) मे स्थलखण्ड की अवस्था के अतिरिक्त चट्टानों की संरचना और अपक्षरण (Erosion) करने वाली शक्ति की प्रक्रिया (Process) का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए चूने की चट्टानों में कार्स्ट तलरूप विकसित होता है। यह चट्टान की संरचना का प्रभाव है। फिर हिमानी (Glacier) से स्थल पर यू-घाटी आदि दृश्य बनते है। यह बाह्य शक्ति की प्रक्रिया का प्रभाव है। अतः हम देखते है कि डैविस का यह कथन ठीक ही है कि धरातल पर हमें जो भूदृश्य दिखाई देते है वे सब चट्टानों की सरचना, अपचयन की शक्तियों की प्रक्रिया (Process) और स्थल की अवस्था (Stage) इन तीनों के संयुक्त फल है।

भौगर्भिक शक्तियों के कारण

पृथ्वी के भीतर होने वाली गुप्त घटनाओं के कारण अभी तक अज्ञात हैं। इस बारे में बहुत से विद्वानो ने कुछ परिकल्पनायें (Hypotheses) प्रस्तुत की हैं। उनका संक्षिप्त विवेचन इन पृष्ठों में किया जायगा।

७८. पर्वत-निर्माणकारी तापीय संकोचन का सिद्धान्त (Thermal Contraction Theory)—हम पहले पढ़ चुके है कि प्रारम्भकाल में पृथ्वी की दशा खौलते पदार्थों की भट्टी के समान थी। धीरे-धीरे ठण्डी होकर यह द्रव अवस्था में आई और द्रव के ऊपर पपड़ी जम गई। पृथ्वी के गर्भ में फिर भी पिघले हुए पदार्थ भरे रहे।

यह पदार्थ धीरे-धीरे ठण्डा होकर ठोस बनता रहा। पानी के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ जब ठोस बनता है, तो ठोस का आयतन घटता है अर्थात् द्रव से ठोस बनने पर पदार्थ सिकुड़ता है। पृथ्वी का भीतरी पदार्थ भी ठण्डा होकर सिकुड़ता और इसी से वह ऊपर की ठोस पपड़ी से बिलकुल चिपका नहीं रहा। ऊपर की पपड़ी अब बिना सहारे के रह गई। ऐसी दशा में गुरुत्वाकर्षण शक्ति ने उसे नीचे की ओर खींचा जिससे उसके ऊपर बहुत दबाव पड़ा। इसी दबाव के कारण पपड़ी टेढ़े-मेढ़े ढंग से लचक गई और उसमें मोड़ पड़ गए।

इस सिद्धान्त में तेजोद्गर (Radio-active) तत्त्वो से निकलने वाली गर्मी का ध्यान नहीं रखा गया था। अतः इसको अस्वीकृत कर दिया गया था। किन्तु जेफरे नामक वैज्ञानिक ने इसकी गणित द्वारा पुनः व्याख्या की। उन्होने गणना करके बताया है कि पृथ्वी के केन्द्रीय पिण्ड पर ठण्डे होने की क्रिया का कोई प्रभाव नही पड़ा है। किन्तु ऊपर की विभिन्न परतो में से कोई भी परत एक निश्चित समय के अन्दर अपने से नीचे वाली परत से अधिक ठण्डी हो जाती है और सिकुड़ने का प्रयत्न करती है। नीचे की परत में उससे अधिक गर्मी होती है, अतः वह पहली परत से कम सिकुड़ती है। फलतः ऊपर की परत को कुछ फैलकर पतला होने को बाध्य होना पड़ता है। सबसे ऊपर की परत पूर्णतया ठण्डी हो चुकी है। अतः उसमें सिकुड़ने के लिए कोई गुँजाइश नहीं है। यह ऊपरी ठोस परत अन्दर की ठण्डी होती हुई परतों से बड़ी हो जाती है और उसका आधार छोटा रह जाता है। इसी कारण से स्थलीय भाग पर दबाव पड़ता है जिससे दरारें और मोड़ पड़ जाते हैं।

आपत्तियाँ—यद्यपि यह सिद्धान्त सरल और समझ में आने योग्य है किन्तु इसकी यथार्थता पर अनेक शंकाएँ हुई है।

(१) इस सिद्धान्त को मानने में एक कठिनाई तो यह है कि यदि पृथ्वी के भीतरी भागों में सिकुड़न होने से धरातल पर पर्वतों का निर्माण होता है, तो फिर पर्वतों का निर्माण निरन्तर होते रहना चाहिए। परन्तु पर्वत-निर्माण के समय का अध्ययन करने से पता चलता है कि पर्वतों का निर्माण कुछ निश्चित समय के अन्तर मे होता आया है। जेफरे का तर्क है कि चट्टानों की दबाव को सहने की शक्ति की कोई सीमा है। जब दबाव एकत्र होते-होते इस सीमा को पार कर जाता है, तभी दबाव का प्रभाव उत्पन्न होता है। परन्तु जेफरे की गणना के अनुसार पृथ्वी के भीतर की गर्मी निरन्तर घटती जानी चाहिए। किन्तु ऐसे प्रमाण मौजूद हैं जो इसकी असत्यता सिद्ध करते हैं।

(२) ज्यों-ज्यों पृथ्वी अधिकाधिक ठंडी होती जाती है उसी क्रम से पर्वत बनने के समय में अन्तर बढ़ता जाना चाहिए, परन्तु प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यह अन्तर प्राय एक समान रहता है।

(३) यह असंभव मालूम पड़ता है कि पिछले बीस करोड़ वर्षो में पृथ्वी इतनी अधिक ठंडी हुई हो कि उससे हिमालय और आल्प्स जैसे विशाल पर्वत बन सकें।

(४) यदि इसी प्रकार की सिकुड़नों से पर्वतों का निर्माण हुआ है, तो धरातल के सभी भागों में पर्वतों का निर्माण होना चाहिए। वस्तुतः ऐसा न होकर कुछ निश्चित स्थानों पर ही पर्वतों का निर्माण हुआ है।

७९ **पृथ्वी की आवर्तन गति में अन्तर पड़ना** (Change in Earth's Rotation)—कुछ विद्वानों ने सुझाया है कि महासागरों में उत्पन्न ज्वार की लहर जब उथले समुद्र में पहुँचती है, तो उसकी टक्कर उथले सागर की तली से होती है। इन निरन्तर टक्करों के फलस्वरूप उस भाग मे कुछ सकोचन (Contraction) होता है जिससे पृथ्वी के नाचने के वेग में सुस्ती उत्पन्न होती है। वेग में अन्तर होने से पृथ्वी के आकार में अन्तर पडना भी निश्चित है। अतः भूमध्यरेखा के पास एकत्रित पदार्थ ध्रुवो की ओर बढ़ने लगता है। अर्थात् पृथ्वी धीरे-धीरे पूर्ण गोलाई की दिशा में बढने का प्रयत्न कर रही है। इस परिवर्तन से धरातल पर तनाव और खिचाव उत्पन्न होते हैं जिनसे ऊँचे-नीचे भाग बन जाते हैं। प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि इस प्रकार संघर्ष से उत्पन्न संकोच बहुत ही कम होगा और उससे पर्वत-निर्माणकारी जैसी घटनायें कभी उत्पन्न नही हो सकती।

८०. **पृथ्वी के सन्तुलन में अन्तर होना**—हेफोर्ड-बोवी के समतुलन-सिद्धान्त के अनुसार समान भार वाले लम्बवत् स्तम्भों को आधार मानकर कुछ विद्वानों ने सुझाया है कि भूपटल के उच्च भागों की धरती से घिस-घिसकर भूपदार्थ निचले भागो में एकत्र होते रहते हैं। फलतः सन्तुलन को ठीक रखने के लिए लम्बवत् भूखण्ड नीचे-ऊपर की तरफ बैठ या उठ जाते हैं। इस सिद्धान्त से पर्वत-निर्माण हमारी समझ में बड़ी सरलता से आ सकता है। किन्तु आल्प्स और हिमालय पर्वतों के अध्ययन से स्पष्ट प्रकट होता है कि पर्वतों का निर्माण नीचे-ऊपर बैठने से ही नही होता, किन्तु उनके बनने के समय भूखण्ड दायें-बायें अथवा इधर-उधर (क्षितिजोत्तर दिशा में) इतने अधिक खिसकते हैं कि कही की चट्टानें कहीं पहुँच जाती हैं। समतुलन का सिद्धान्त पर्वत-निर्माणकारी घटनाओं को आंशिक रूप से ही समझाता है।

८१. **वेगनर का महाद्वीपीय प्रवाह-सिद्धान्त**—तीसरे अध्याय में वर्णित वेगनर का सिद्धान्त पर्वत-निर्माणकारी घटनाओं को भी समझाता है। प्रवाहित महाद्वीप का आगे निकला हुआ सिरा जब महासागर की ऊँची उठी हुई कठोर तली से टकराता है, तो उसमें दरारें या मोड़ पड़ जाते हैं। आरगैण्ड का अनुमान है कि अफ्रीका महाद्वीप के उत्तर की ओर खिसकने से यूरोप से टक्कर हुई जिससे आल्प्स पर्वतमाला का निर्माण हुआ। इसी प्रकार साइबेरिया के दक्षिण की ओर खिसकते हुए गोंडवाना के दक्षिण भारत वाले भाग से टकराने के कारण हिमालय का जन्म हुआ। कुछ विद्वानों ने सुझाया है कि उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका की पश्चिम की ओर खिसकते हुए प्रशान्त महासागर की ऊँची कठोर तली से टक्कर हुई और इसी से राकी पर्वतमाला तथा एण्डीज निर्मित हुए। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में एक बड़ी कठिनाई यह है कि वेगनर अथवा उनके अनुवर्तियों ने अभी तक ऐसी शक्ति की व्यवस्था नहीं की है जिसके द्वारा महाद्वीपों को खिसकाया जा सके। महाद्वीपों को इतनी विभिन्न

दिशाओं की ओर हटता हुआ बतलाया जाता है परन्तु उसकी व्यवस्था का कोई सूत्र हाथ नहीं आ पाया है।

८२. **डॅली का धँसते महाद्वीप वाला सिद्धान्त** (Sliding Continents)—धरातल पर ऐसे बहुत से संकीर्ण सागर (Geosynclines) हैं जिनमें नदियों की डाली हुई चूरचार का अधिक भार जमा होने से उनकी तली नीचे को धँस जाती है। भूद्रोणी या ज्योसिनक्लाइन की तली के नीचे की तरफ धँसने से स्थलखण्डों को भी नीचे की तरफ खिसकना पड़ता है (Down-Sliding)। जब भूद्रोणी में चूरचार जमा होते-होते इतना अधिक भार हो जाता है कि तली और अधिक भार नहीं सह सकती तो फिर भूद्रोणी की तली फटकर टूट जाती है और उसके टुकड़े नीचे बसाल्ट में जा गिरते हैं। नीचे ताप की मात्रा बहुत अधिक होती है। फलतः ये टुकड़े गरम होकर फैलते हैं। इसके साथ ही भूद्रोणी की तली की नई चट्टानें भी गरम होकर फैलती हैं और स्थलखण्ड की चट्टानें ऊपर की तरफ उठती (Uplift) हैं।

आपत्तियाँ—इस सिद्धान्त के अनुसार चट्टानों का ऊपर उठना तो समझ में आता है परन्तु यह समझ में नहीं आता कि बसाल्ट पर स्थित भूद्रोणी की तली टूटती कैसे है। इसके टूटने के लिये क्षैतिज बल की आवश्यकता पड़ेगी।

८३ **जौली का तापीय चक्र वाला सिद्धान्त**—तीसरे अध्याय में जौली के तेज उद्गरित करने वाले तत्त्वों से निसृत गर्मी से उत्पन्न तापीय चक्र का वर्णन किया जा चुका है। जौली के अनुसार अत्यन्त लम्बी अवधि के पश्चात् जब अधःस्तर (Sub-stratum) में एकत्र हुई गर्मी महासागरों में होकर निकलने लगती है तो पहले का घटनाक्रम बिलकुल उलट जाता है। पहले तो अधःस्तर के पिघलने से उसका आयतन बढ़ रहा था और ऊपर धरातल पर तनाव पड़ने लगा था। किन्तु अब गर्मी निकल जाने से द्रवीभूत अधःस्तर ठण्डा होकर सिकुड़ता है, अर्थात् उसके आयतन में कमी होने लगती है। पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी ठोस होने के कारण सिकुड़ नहीं सकती, इसलिए अब वह सिकुड़ते हुए अध.स्तर से बड़ी रह जाती है। ऊपर की पपड़ी के बिना सहारे पर रह जाने पर अब गुरुत्वाकर्षण शक्ति उसे नीचे की ओर खींचती है जिससे उस पर भिचाव (Compression) पड़ने लगता है। इस भिचाव के कारण समुद्र की तली महाद्वीपों के किनारों से टकराती है। जैसे-जैसे अधःस्तर ठोस बनता जाता है वैसे-ही-वैसे भिचाव अधिक बढ़ता जाता है। पिघले हुए उत्तप्त बसाल्ट में बहुत दिनों तक दबे रहने के कारण महाद्वीपों के किनारे नरम हो जाते हैं, और दबाव पड़ने पर भिचकर मोटे और ऊँचे हो जाते हैं। परतदार चट्टानें भी दबाव पड़ने से भिचकर टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती हैं, उनमें मोड़ पड़ जाता है और अधिक भिचाव पड़ने पर उनके टुकड़े टूटकर सैकड़ों मील दूर जा पड़ते हैं।

८४. ग्रहीय परिवाह (Planetary circulation)—होम्स के ग्रहीय परिवाह तथा स्थानीय परिवाहों का संक्षिप्त वर्णन भी हम कर चुके हैं। यह पर्वत-निर्माण को समझाने वाला महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। संवाहन की ग्रहीय धारा अध:स्तर में नीचे से ऊपर की ओर जाती है। भूमध्यरेखीय प्रदेश के नीचे पहुँचकर यह धारा उत्तर और दक्षिण की ओर जाती है। फलत: भूमध्यरेखीय प्रदेश दोनो ओर खिचेगा और पतला होकर नीचे को धँसता जायगा। इस प्रकार इस प्रदेश में समुद्री क्षेत्र (भूद्रोणी) बनेगा जिसकी वृद्धि होती रहेगी।

स्थानीय परिवाहों द्वारा महाद्वीपों के सबसे मोटे परत के नीचे अध:स्तर में गर्मी अधिक एकत्र होगी जिससे वहाँ पर भी ऊपर जाने वाली संवाहन धारा उत्पन्न होगी। यह धारा महाद्वीपीय खण्ड के समीप पहुँचकर किसी भी दिशा में दायें या बायें चलने लगेगी। इसके चलने से महाद्वीप खिसकने लगेगा और महाद्वीपो के नरम सिरे सागर की कठोर तली से टक्कर लेंगे। इस भिचाव से महाद्वीपीय सिरा मोटा होकर ऊँचा उठेगा, उसमें मोड़ पड़ जायेंगे और अन्त में पर्वत बन जायेंगे। आगे खिसकने वाले महाद्वीपीय खण्ड के आगे की ओर सागर की तली धँस जायगी, जिससे वहाँ सामुद्रिक गर्त बन जायेंगे। परन्तु नवीन-निर्मित पर्वतों के पीछे महाद्वीपीय भाग के नीचे धँसने से ज्योसिनक्लाइन या भूद्रोणी बन जायेगी।

भूगर्भ की घटनाओ के सम्बन्ध में छानबीन करना मनोरंजक होते हुए भी अत्यन्त दुष्कर कार्य है। भूगर्भ के गुप्त रहस्यों का पता लगाने के लिए कोई एक्सकिरण आज तक नहीं खोजी जा सकी है। इस सम्बन्ध का ज्ञान अप्रत्यक्ष प्रमाणों एवं अनुमान पर ही आधारित है। अत: किसी भी सिद्धान्त को पूर्ण सत्य नही कहा जा सकता। फिर भी हमारी धारणायें सत्य की थोड़ी-बहुत झाँकी तो अवश्य कर चुकी हैं इसमें कोई सन्देह नही है। सत्य का मार्ग तो सदैव धीरे-धीरे ही प्रशस्त होता आया है। इसी आशा और विश्वास से हमें आगे की ओर कदम बढ़ाना है।

प्रश्न

1. Discuss the theories that have been advanced to explain mountain folding.

(*Ban. M.Sc. Geol. 1951; Agra M.A. Geog. 1949*)

2. Discuss the Thermal contraction Theory of Jeffreys and appreciate how far it has solved the problem of mountain building.

(*Allahabad M.A. Geog. 1952*)

3. Discuss fully Home's Convectional current Theory.
(*Allahabad M.A. Geog. 1951*)

4. Critically examine Daily's hypothesis of sliding continents.
(*Allahabad M.A. Geog. 1953*)

5. Discuss briefly the principle of the cycle of erosion. Point out the importance of contribution of Davis to the concept of such a cycle.
(*Allahabad M.A. 1947, Agra M.A. 1947*)

आठवाँ अध्याय

भौगर्भिक शक्तियाँ

(१) दीर्घकालीन घटनायें (Diastrophism)

८५. **वर्गीकरण**—भूगर्भ की भीतरी दीर्घकालिक घटनाओं द्वारा धरातल पर जो हलचल होती है उसे दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) धरातल का ऊँचा उठना या नीचे धँसना अर्थात् भूखण्ड-निर्माणकारी घटनायें (Epeirogenetic)।

(ख) धरातल का दायें-बायें या इधर-उधर (क्षितिजोत्तर) खिसकना अर्थात् पर्वत-निर्माणकारी घटनायें (Orogenetic)।

(क) भूखण्ड-निर्माणकारी हलचलें (Epeirogenetic Movements)

८६. **ऊँचा उठना** (Emergence)—पृथ्वी के धरातल का सूक्ष्म अध्ययन करने वाले भूतत्त्व-वेत्ताओं ने अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है। पृथ्वी के धरातल पर परतदार चट्टानें बिछी पड़ी हैं, किन्तु उनकी परतों में कोई उथल-पुथल या विशेष मोड़ नहीं है। हम देखते है कि मिसीसिपी के मैदान, यूरोपीय रूस का मैदान, अफ्रीका का पठारी भाग जैसे विशाल भूखण्डों पर धरातल के नीचे परतदार चट्टानें फैली हुई हैं। हम पहले पढ़ चुके हैं कि परतदार चट्टानें सागर-गर्भ में बनी हैं। अत. यह स्पष्ट है कि यह सब धरातल के भाग किसी-न-किसी समय समुद्र के भीतर से ऊपर उठे हैं। इस प्रकार धरातल के विशाल भाग का ऊपर उठना या नीचे की ओर धँसना भूखण्ड-निर्माणकारी होता है। भूखण्ड-निर्माणकारी उथल-पुथल में सम्भवतया अत्यधिक विस्तृत क्षेत्र में धरातल पर मोड़ पड़ता है। यह ऊपर उठने की गति बहुत ही धीमी होती है। सहस्रों वर्षों में धीरे-धीरे किन्तु सम्भवतया निरन्तर परिवर्तन होने के पश्चात् ही कुछ परिणाम मालम पड़ता है। स्वीडन के दक्षिण-पूर्वी तट का अध्ययन करने से पता चला है कि विगत १०० वर्षों में वह लगभग ३ फुट ऊँचा उठ गया है। इसी प्रकार फ्लोरिडा प्रायद्वीप कुछ ऊँचा उठ गया है जिससे उत्तरी अमेरिका के क्षेत्रफल में वृद्धि हुई है। यद्यपि समुद्र के भीतर से भूमि के ऊपर उठने की यह गति बहुत धीमी है, फिर भी यदि हम कल्पना करें कि पृथ्वी तो करोड़ों वर्ष पुरानी है, तो हमें यह समझने में कठिनाई नहीं होगी कि इतने लम्बे समय में धीरे-धीरे समुद्र के अन्दर से भूमि कितनी अधिक ऊँची उठ सकी होगी। सम्भवतया पृथ्वी की

प्रारम्भिक अवस्था में ऐसी हलचल अधिक हुई होगी, जिससे महाद्वीपों का निर्माण सम्भव हुआ होगा।

८७. नीचे धँसना (Subsidence)—पृथ्वी का धरातल ऊपर की ओर ही नहीं उठता किन्तु कहीं-कहीं नीचे की ओर भी धँस जाता है। उत्तरी सागर धीरे धीरे नीचे की ओर धँस रहा है और इसलिए वहाँ पर छिछला समुद्र काफी बडा हो गया है। नेपल्स नगर के पास एक प्राचीन जुपीटर का मन्दिर है। उस मन्दिर के खम्भों पर बने हुए चिन्हो के अध्ययन से पता चला है कि वह छः या सात बार समुद्र में विलीन हो चुका है और फिर ऊपर उठ आया है।

इस प्रकार भूखण्ड-निर्माणकारी घटनाओं द्वारा पृथ्वी के विस्तृत भाग, सागर के गर्भ में विलुप्त हो जाते हैं अथवा समुद्र के नीचे से निकलकर नए भूभागो के रूप में प्रकट हो जाते हैं। प्रत्येक देश की चट्टानों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि समुद्र की तली अनेक बार स्थल का भाग बन चुकी है।

भूखण्ड-निर्माणकारी हलचल का प्रभाव विस्तृत भूभाग पर पड़ता है तथा धरातल की गति ऊपर या नीचे की ओर होती है।

(ख) पर्वत-निर्माणकारी हलचलें (Orogenetic Movements)

८८. इस हलचल के भेद—पर्वत-निर्माणकारी हलचलों का प्रभाव धरातल के सीमित भाग पर ही होता है। इस हलचल के कारण धरातल का सीमित भाग दायी या बायी तरफ खिसकता है जिसके कारण चट्टानें चटक जाती हैं, मुड़ जाती है या टूटकर उलट जाती हैं। इस उथल-पुथल के कारण धरातल की चट्टानो पर दो प्रकार का दबाव पड़ता है—(१) तनाव या खिंचाव (Tension) द्वारा चट्टानों का प्रसार अथवा फैलना और (२) भिंचाव (Compression) द्वारा चट्टानों का सकोचन या सिकुड़ना। ये दोनो प्रकार के क्षितिजोत्तर दबाव (Horizontal Pressure) एक दूसरे से पूर्णतया सम्बन्धित हैं। यदि धरातल के एक स्थान पर तनाव (अथवा खिंचाव) उत्पन्न होता है, तो उसके परिणामस्वरूप दूसरे स्थान पर भिंचाव पड़ेगा। इसी प्रकार किसी एक स्थान पर भिंचाव उत्पन्न होने पर दूसरी जगह तनाव पड़ेगा। यहाँ पर यह बताना भी असंगत न होगा कि जिस तरह दोनों प्रकार के क्षितिजोत्तर दबाव (धरातल का दायें-बायें खिसकना) आपस में सम्बन्धित हैं, उसी तरह धरातल की ऊँची-नीची हलचल (भूखण्ड निर्माणकारी) तथा धरातल की दायी-बायीं हलचल (क्षितिजोत्तर अथवा पर्वत-निर्माणकारी) भी आपस में सम्बन्धित है। धरातल के एक भाग में एक प्रकार की हलचल दूसरे भाग में दूसरे प्रकार की हलचल को उत्पन्न कर देती है।

८९. धरातल पर प्रभाव—धरातल की दायीं-बायीं हलचल के कारण स्थल-मण्डल पर दो प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं—

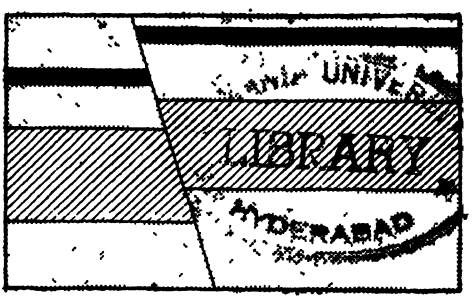
(१) **स्तर-भंग** (Crustal Fracture)—यह प्रभाव मुख्यता तनाव के कारण उत्पन्न होता है। इससे चट्टानें चटक जाती हैं अथवा उनमें दरारें पड़ जाती हैं।

(२) **स्तर का मुड़ाव** (Crustal Bending)—यह प्रभाव मुख्यतया भिंचाव के कारण उत्पन्न होता है। इसमें चट्टानें लचक जाती हैं और मुड़कर तिरछी हो जाती हैं अथवा टूटकर उलट-पुलट हो जाती हैं।

९०. **स्तर-भंग** (Crustal Fracture) **या तनाव का प्रभाव**—जब चट्टानों पर अत्यधिक तनाव (खिचाव) पड़ता है, तो वे टूट जाती हैं। तनाव की न्यूनाधिकता के अनुसार स्तर-भंग दो प्रकार का होता है : (१) चटकन और (२) दरार।

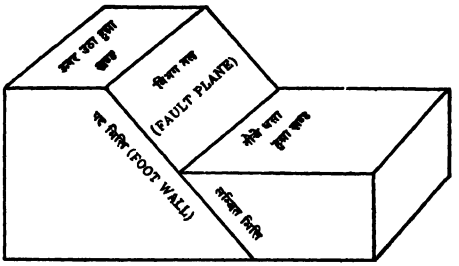
९१. **चटकन** (Cracking)—आग्नेय चट्टानों के ठंडे होकर ठोस बनने अथवा परतदार चट्टानों के भीतरी जल के सूख जाने पर चट्टानों का आयतन घट जाता है और वे सिकुड़ती हैं। इस सिकुड़न के कारण धरातल पर तनाव उत्पन्न होता है। फलतः चट्टानें एक विशेष रेखा पर इधर-उधर (क्षितिजोत्तर) खिसकने लगती हैं। जब खिचाव का जोर अधिक होता है तो चट्टानें उसी रेखा पर चटक जाती हैं। ऐसा तनाव भूपटल पर इतनी अधिक बार पड़ चुका है कि धरातल की लगभग सभी ऊपरी चट्टानें जगह-जगह से चटक गई हैं। चट्टानों के चटके हुए स्थान को सन्धिस्थान या जोड़ (Joints) कहते हैं क्योंकि चट्टान के टूटे हुए टुकड़े अलग नहीं हुए किन्तु एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। ज्यों-ज्यों पृथ्वी के भीतरी भाग की ओर जायें, त्यों-त्यों चट्टानों की चटकनें कम होती जायेंगी और संभवतः कुछ मीलों की गहराई पर चट्टानों में चटकनें नहीं मिलती। जिस क्षेत्र में चट्टानों में चटकन पाई जाती है उसे भंग-क्षेत्र (Zone of fracture) कहते हैं।

९२. **दरारें** (Faults)—कभी-कभी तनाव इतना अधिक और आकस्मिक होता है कि चट्टानें चटक ही नहीं जातीं, किन्तु इधर-उधर खिसक भी जाती हैं। इसका फल यह होता है कि शिला-स्तर के टूटे हुए टुकड़े अलग हो जाते हैं। इस परिवर्तन को दरार कहते हैं। कई छोटी-छोटी दरारें तो एक इंच से बहुत कम चौड़ी होती है जब कि बड़ी दरारें कई फुट तक चौड़ी होती हैं। यदि दरार बहुत चौड़ी

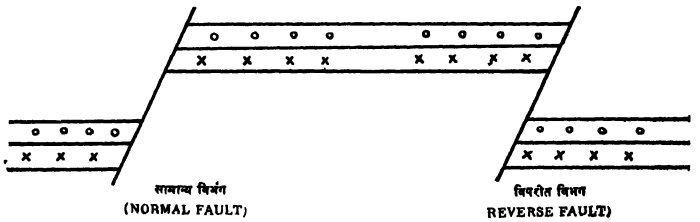


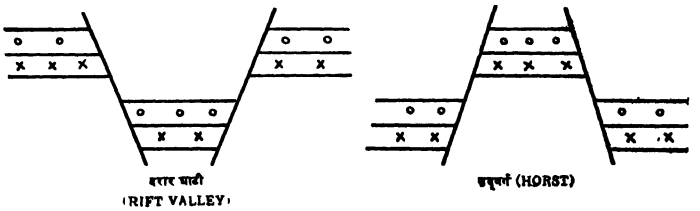
चित्र २४. दरार

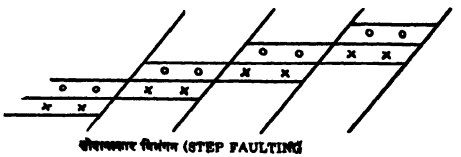
हो जाती है और स्पष्ट दिखाई पड़ने लगती है तो ऐसी दरार को विभंग या विशेष भंग (Fissure) कहते हैं।



विभंगन से सम्बन्धित शब्दावली







चित्र २५.

९१. **विभंग की शब्दावली**—तनाव के अत्यधिक बढ़ जाने पर विभंग के एक तरफ का टूटा हुआ स्ट्रेटा (शिलास्तर) दूसरे भाग की अपेक्षा ऊपर उठ जाता है। टूटे

हुए शिलास्तर की गति जिस तल की तरफ होती है उसे **विभंग तल** (Fault Plane) कहते हैं । विभंग तल क्षैतिज दिशा पर जो कोण बनाता है उसे **अभिनति** (Dip) कहते हैं । स्ट्रेटा (शिलास्तर) का जो भाग ऊपर उठ जाता है उसे ऊपर उठा हुआ खण्ड (Upthrown Side) कहते हैं और जो भाग नीचे रह जाता है उसे नीचे धँसा हुआ खण्ड (Downthrown Side) कहते हैं ।

लटकती भित्ति (Hanging Wall)—विभंग-तल के ऊपरी पृष्ठ को लटकती भित्ति कहते हैं ।

पद भित्ति (Foot Wall)—विभंग-तल के निचले पृष्ठ को पद भित्ती कहते हैं ।

९४. **विभंगों के भेद** (Classification of Faults)—इसके मुख्य भेद निम्नलिखित हैं—

(१) **सामान्य विभंग** (Normal Fault)—इस भंग में लटकती भित्ति (Hanging Wall) नीचे धँसे हुए खण्ड की तरफ होती है ।

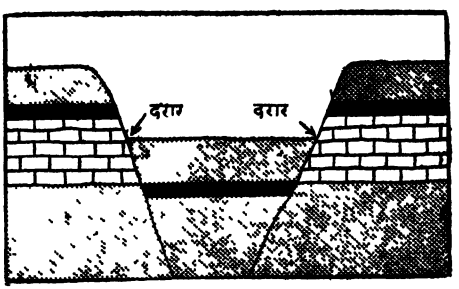
(२) **विपरीत विभंग** (Reverse Fault)—इस भंग में लटकती भित्ति ऊपर उठे हुए खण्ड की तरफ होती है ।

(३) **सोपान विभंग** (Step Fault)—जब कई भंग एक दूसरे के लगभग समानान्तर होते हैं और उन सभी के ऊपर उठने या नीचे धँसने की गति एक ही दिशा में होती है तो उसे सोपान विभंग कहा जाता है ।

विभंग से उत्पन्न स्थल-रूप

विभंगो से कई प्रकार के स्थल-रूप बन जाया करते हैं जिनमें से दरारी घाटी और संवर्ग पर्वत काफी महत्त्वपूर्ण हैं ।

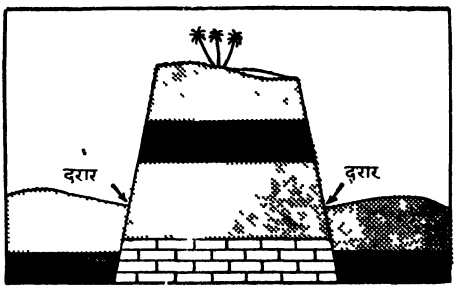
९५. **दरारी घाटी या रिफ्ट घाटी** (Rift Va ley)—कई स्थानों पर तनाव के कारण धरातल पर मीलों लम्बी समानान्तर दरारें पड़ जाती हैं । अधिक दबाव के कारण दो दरारों के बीच की भूमि नीचे की ओर धँस जाती है और दरारों के इधर-उधर दोनों ओर के भाग कुछ ऊँचे हो जाते हैं । इस प्रकार भूमि के अन्दर धँस जाने से एक **लम्बी और संकीर्ण** (Narrow)



चित्र २६. दरारी घाटी

घाटी बन जाती है। ऐसी घाटी को दरारी घाटी कहते हैं । जर्मनी की राइन नदी इसी प्रकार की एक २०० मील लम्बी और २० मील चौड़ी दरारी घाटी में होकर बहती है । अफ्रीका की झीलें, मृतक सागर (Dead Sea), लाल सागर तथा स्काट-लैंड के मध्यवर्ती मैदान इसी प्रकार की घाटियों में स्थित हैं।

९६. संवर्ग पर्वत (Block Mountains)—कभी-कभी तनाव से उत्पन्न हुई दो लम्बी दरारों के बीच का भाग नीचे धँसने की बजाय ऊपर को उठ जाता है । साथ ही दरारों के बाहरी दोनों भाग नीचे की ओर खिसक जाते हैं। इस प्रकार दरारों के बीच का भाग ऊपर उठकर पहाड का रूप धारण कर लेता है। ऐसे पहाड़ों को संवर्ग पर्वत कहते हैं।



चित्र २७. संवर्ग पर्वत

९७. स्तर का मुड़ाव (Crustal Bending) **या भिंचाव का प्रभाव**—जैसा कि पहले कहा जा चुका है शिलास्तर (Strata) का मुडाव मुख्यतया धरातल पर भिंचाव (Compression) पड़ने से ही पैदा होता है । भिंचाव के कारण चट्टानों के स्तर लचक जाते हैं और मुड़ जाते हैं । भिचाव की न्यूनाधिकता के अनुसार मोड़ में भी फर्क पड़ जाता है। यह लचक या मोड़ बहुत छोटा भी हो सकता है और इतना बडा भी हो सकता है कि ऊँचा उठने वाले मोड का ऊँचा पहाड़ बन जाय। कई बार मोड़ इतने साधारण होते हैं कि इन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है। परन्तु कई बार भिंचाव इतने जोर से आता है कि उसके प्रभाव से चट्टानें मुड़कर तिरछी हो जाती हैं और उलट जाती हैं। चट्टानों के उलट जाने से पुरानी चट्टानें नई चट्टानों के ऊपर पहुँच जाती हैं और परतों का क्रम एकदम उलट जाता है । जो चट्टान सबसे नीचे थी वह सबसे ऊपर पहुँच जाती है । इस हलचल को समझने के लिए हमें एक उदाहरण से बड़ी सहायता मिलेगी। मान लीजिए एक मेज के ऊपर कई रूमाल एक के ऊपर दूसरा, परतों के रूप में बिछे हुए हैं । यदि इन बिछे हुए रूमालों को दोनों बगलों से दबाया जाय, तो इनमें लहरों की तरह सिकुड़नें पड़ेंगी अर्थात्, एक स्थान पर परतें ऊँची उठेंगी और दूसरी जगह पर नीचे हो जायेंगी । यदि रूमालों की इन परतों को और अधिक दबाया जाय, तो ये सिकुड़नें काफी ऊँची-नीची मोड़ों (Folds) के रूप में बन जायेंगी । मान लीजिए कि यदि ऊँचे उठते हुए रूमाल बीच

में से फट जायें, तो दोनों तरफ के टुकड़े मेज पर सीधे लम्बवत् खड़े रहेंगे । यदि दोनों ओर के टुकड़े घूमकर पीछे की ओर गिर जायें, तो परतों का क्रम उलट जायगा ।

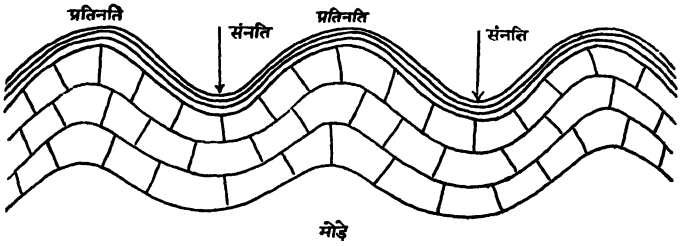
९८. **शिलास्तर की अवस्था** (Attitude of Strata)—यदि हम धरातल का ढाल या किसी चट्टान का झुकाव जानना चाहते हैं तो हमें दो प्रकार के निरीक्षण करने आवश्यक होंगे —(१) शिलास्तर के ढाल का कोण, और (२) क्षैतिज दिशा को काटने की दिशा । दोनों अवस्थाओं में क्षैतिज दिशा को ही आधार तल स्वीकार किया जाता है । धरातल का ढाल भी क्षैतिज दिशा के साथ एक प्रकार का झुकाव है और कटाव की दिशा भी क्षैतिज दिशा के साथ झुकाव है । परन्तु दोनों में काफी भेद है । धरातल का ढाल तो क्षैतिज दिशा के साथ नीचे की तरफ झुकाव (या गहराई) बताता है, परन्तु कटाव का झुकाव (या आनति) क्षैतिज दिशा से ऊपर की तरफ झुकाव (या ऊँचाई) प्रस्तुत करता है । ढाल का कोण बताने के लिए 'डिप' या अभिनति' (Dip) शब्द का प्रयोग होता है । डिप का अभिनति का आधार क्षितिज के लम्बवत रेखा होती है, यद्यपि यह केवल काल्पनिक रेखा ही होती है । इसको कम्पास की दिशाओं में प्रगट किया जाता है, जैसे उत्तर-पश्चिम की दिशा में २० की अभिनति है । स्पष्ट है कि इस कोण का आधार क्षैतिज दिशा के लम्बवत् बनने वाली काल्पनिक रेखा है । परन्तु आनति के कोण को नापने का आधार स्वयं क्षैतिज रेखा ही होती है । इसको अंग्रेजी में स्ट्राइक (Strike) कहते हैं । स्ट्राइक या आनति को प्रगट करने के लिए भी कम्पास की दिशाओं का प्रयोग किया जाता है । स्ट्राइक हमेशा धरातल से ऊपर की तरफ नापा जाता है ।

९९. **स्तर पर मुड़ाव के भेद**—भिचाव की न्यूनाधिकता के कारण शिलास्तर पर पड़ने वाले मुड़ाव के अनेक रूप हो जाते हैं ।

(क) **भंजचाप या प्रतिनति** (Anticline) **और भंजद्रोणी या संनति** (Syncline)—जब भिचाव सामान्य होता है, तो स्तर पर लहरों की भाँति ऊँचे-नीचे मोड़ पड़ जाते हैं । इन मोड़ों से शिलास्तर का जो भाग मेहराब की तरह ऊँचा उठ जाता है, उसे भंजचाप कहते हैं और जो भाग नीचे झुक जाता है उसे संनति या भंजद्रोणी कहते हैं । धरातल पर साधारण भिचाव पड़ने से स्ट्रेटा में अनेक चाप और द्रोणियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । मुड़ाव की साधारण लहरें चाप और द्रोणियों के रूप में जब अपने उत्पन्न होने के स्थान पर ही बनी रहती हैं, तो इन लहरों वाले क्षेत्र को **यथा-स्थानीय पट्टी** (Autochthonous Belt) कहते है । ऐसी लहरें पुराने मोड़दार पर्वतों की जड़ों में स्पष्ट देखी जा सकती हैं क्योंकि नग्नीकरण (Denudation) की

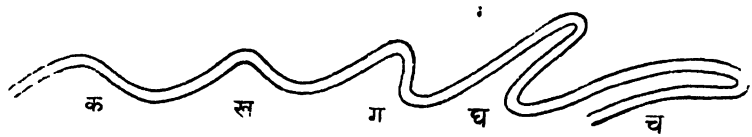
क्रिया ने उनके ऊपरी स्तरों को घिस-घिसाकर हटा दिया है।

साधारण झुकाव (Warping)—जब भूपटल का सैकड़ों मील लम्बा चौड़ा क्षेत्र प्रभावित होता है जिससे धरातल का विस्तृत भाग ऊँचा उठ जाता है या नीचे धँस जाता है तो इस झुकाव को वार्पिंग कहते है। इस झुकाव के फलस्वरूप जो भाग ऊँचा उठ जाता है उसे भूचाप (Geanticline) और जो नीचे धँस जाता है उसे भूद्रोणी (Gegsyncline) कहते हैं। यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि भजचाप भंजद्रोणी में चट्टानों के बहुत कम शिलास्तर (प्रायः दो तीन) प्रभावित होते है परन्तु भूचाप और भूद्रोणी में चट्टानो का मोटा स्ट्रेटा प्रभावित होता है।



चित्र २८. स्तर का मुड़ाव

(ख) **विषम मोड़** (Complex folding)—जब भिचाव अधिक प्रभावशाली होता है, तो स्ट्रेटा (विभिन्न चट्टानों के कई स्तर या शिलास्तर) पर अनेक प्रकार के मोड़ पड़ जाते है। भिचाव अधिक बढने पर चित्र नं० २८ के अनुसार मोड़ अपनी धुरी पर टूट जाता है, और आगे खिसककर दूसरे स्ट्रेटा पर आरोपित

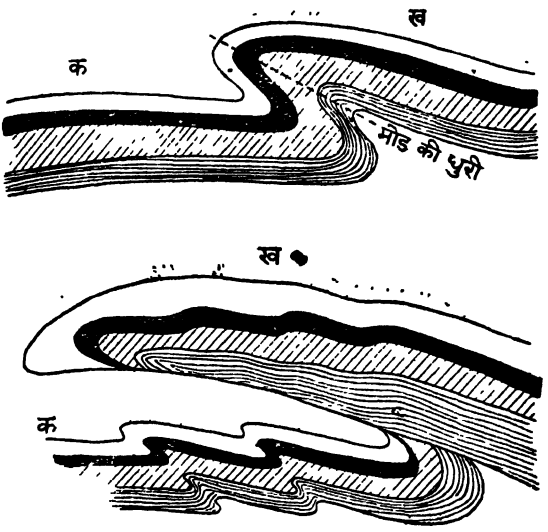


चित्र २९. मोड़ के विभिन्न रूप

(Imposed) हो जाता है। इस प्रकार चट्टानो का क्रम उलट जाता है जिससे प्राचीन काल की चट्टानें नवीन चट्टानों के ऊपर पहुँच जाती हैं। चट्टानो के क्रम में उलट-पुलट होने को संभंग (Thurst) कहते है।

भिचाव के थोड़ा और अधिक बढ़ जाने पर स्ट्रेटा का कुछ भाग टूटकर मीलों दूर पहुँच जाता है। उस स्थान की चट्टानों की बनावट से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार टूटकर मीलों दूर पड़े हुए स्तर-खण्ड को प्रच्छद (Nappe) कहते

हैं। नवीन मोड़दार पर्वतों (Young Folded Mountains) में इस प्रकार के अनेक



चित्र ३०. आरोपित स्ट्रेटा

संभंग (Thurst) और प्रच्छद (Nappe) पहचाने जा चुके हैं।

प्रश्न

1. What is Diastrophism and how does it effect landforms? Give examples and explain the most common landforms associated with it.

(*Agra B.A. 1949, 1951*)

2. Write short notes on—(a) Rift Valley, (b) Ge-anticline, (c) Folding, (d) Nappe, (e) Syncline, (f) Dip.

नवाँ अध्याय

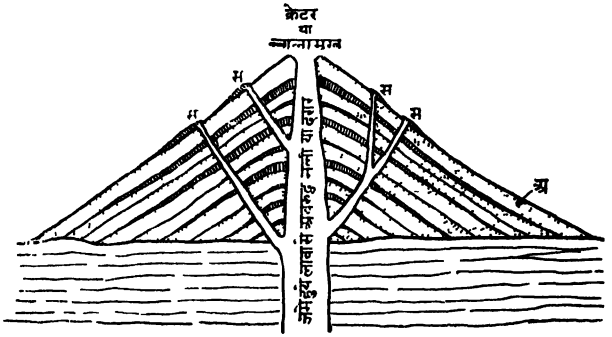
भौर्गभिक शक्तियाँ

(२) आकस्मिक घटनायें

क. ज्वालामुखी (Volcano)

धरती के कठोर आवरण को चीरकर धुआँ और राख के डरावने काले-काले बादलों को उडाता, भूकम्पों से धरातल को कँपाता, अति उष्ण द्रव लावा को उगलकर प्रलय का ताण्डव-नृत्य करता तथा प्रकृति-विजय के अभिमान में डूबे मानव की बुद्धि को भ्रमित एवं चकित करता ज्वालामुखी का उद्‌गार समुद्री तूफानों तथा भयंकर भूकम्पों के समान ही एक विचित्र घटना है। प्राचीन काल का मानव इन उद्‌गारों (Eruptions) से भयत्रस्त होकर ज्वालामुखी की पूजा किया करता था। जापान के लोग चिरकाल से संसार के सुन्दरतम ज्वालामुखी फ्यूजीसान को पूजते आये हैं। बहुत दिनो तक भूमध्यसागर का वोलकेनो द्वीप, जिसके नाम पर ज्वालामुखी का यह नाम पड़ा, पातालपुरी का प्रवेश द्वारा माना जाता था।

१००. ज्वालामुखी किसे कहते है?—ज्वालामुखी भूपटल की उस गहरी दरार का नाम है, जिसके द्वारा पृथ्वी के भीतरी भाग से अति उष्ण लावा, शिलाखण्ड और



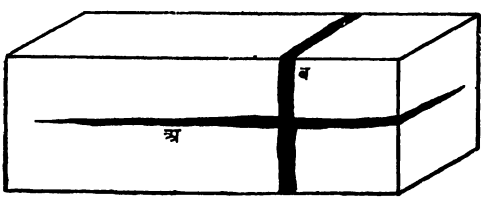
चित्र ३१. ज्वालामुखी

गरम गैसें धरातल पर आ सकें अथवा कम-से-कम धरातल की ओर बह सकें। इस दरार या छिद्र के ऊपरी भाग को **मुखगर्त** या **ज्वालामुख** (Crater) कहते हैं। मुखगर्त या ज्वालामुख की आकृति एक कटोरे के समान होती है जिसकी तली का सम्बन्ध भूगर्भ से होता है। ज्वालामुखी पर्वतों पर यह मुख एक बड़े गड्ढे के समान दिखाई देता है। कभी-कभी इस गड्ढे की तली में लावा जम जाता है जिससे इसमें

वर्षा का पानी जमा हो जाता है और एक झील का रूप बन जाता है। बहुत से ज्वालामुखी पर्वतों पर यह गड्ढा इतना लम्बा-चौडा होता है कि एक विस्तृत मैदान-सा दिखाई पड़ता है और उसके चारों ओर की ऊँचाई नगण्य-सी लगती है। कैनारी द्वीप समूह का कैल्डेरा गर्त ऐसा ही एक विशाल गड्ढा है जो तीन-चार मील तक फैला हुआ है।

ज्वालामुखी को बहुत दिनों तक 'जलता हुआ पहाड़' कहते थे, परन्तु यह बिलकुल ग़लत नाम है। इसमें कोई चीज जलती नहीं है। केवल लावा के अत्यन्त गर्म होने के कारण भयंकर लाल रोशनी दिखाई पड़ती है, इसी से लपटो का भ्रम हो जाता है। दूसरे, ज्वालामुखी के छिद्र पर पर्वत होना भी आवश्यक नही है। यह ठीक है कि अधिकतर स्थानों पर लावा आदि के जमा होने से पहाड़ी जैसी ऊँचाई हो जाती है। परन्तु जिन स्थानों पर लावा बहुत ही पतला निकलता है जैसे आइसलैण्ड द्वीप के स्कपठर्जोकुल का १७८३ ई० का उद्गार, अथवा जिन स्थानों पर उद्गार केवल विस्फोटक हो, उन स्थानों पर पर्वत नहीं बनता।

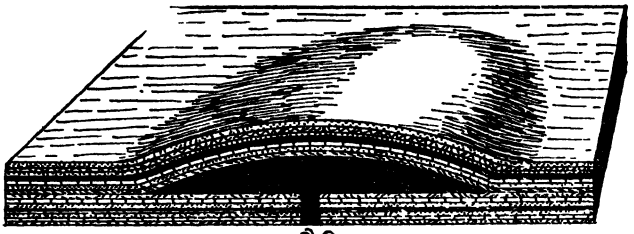
१०१. **ज्वालामुखी से निकलने वाले पदार्थ**—ज्वालामुखी से निकलने वाली वस्तुओं में गैसें और लावा मुख्य हैं। भूगर्भ में ये दोनों मिले रहते है जिसे मैग्मा (Magma) कहते है। मैग्मा भूगर्भ की चट्टानों का पिघला हुआ रूप है। मैग्मा की उपमा गरमा-गरम हलुवे से दी जा सकती है जिसमे निरन्तर भाप निकल रही हो। मैग्मा की अधिकांश गैस निकल जाने पर उसको लावा कहते हैं। ज्यों-ज्यों मैग्मा धरातल की ओर बढ़ता है त्यों-त्यों अधिकाधिक शीघ्रता से गैसें उससे अलग होती जाती हैं। अन्त में धरातल के समीप आकर भयानक विस्फोट (Explosion) के साथ अलग हो जाती है। इस मात्रा के बीच में ही जब मैग्मा पृथ्वी में भीतर की चट्टानों की दरारों में प्रवेश कर जाता है, तो उसमें अधिकांश गैसें घुली ही रहती हैं। इन गैसों का स्फट निर्माण (Crystallization) पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है। जब कभी मैग्मा चट्टानों की लम्बाकार (Vertical) दरारों में ठण्डा होकर ठोस बन जाता है, तो उस ठोस पिण्ड को **'डाइक'** कहते हैं। कालान्तर में जब यह चट्टान धरातल पर आती है, तो क्षयात्मक शक्तियाँ चट्टान को तो घिस डालती हैं, परन्तु डाइक अत्यन्त कठोर होने के कारण दीवार के समान खड़ा रहता है।



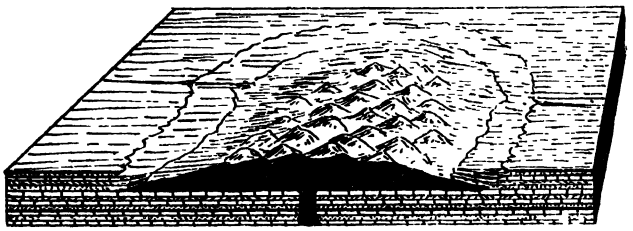
चित्र ३२. (अ) सिल या शीट (ब) डाइक

जब मैग्मा चट्टानों की दायीं-बायीं (Horizontal) दरारों में जम जाता है, तो उस

ठोस पिण्ड को **'सिल'** या **'शीट'** कहते हैं । कभी-कभी मैग्मा परतदार चट्टानों की परतों में घुस जाता है, जिससे ऊपरी परत दबाव के कारण ऊपर की ओर झुक जाती हैं । इस प्रकार की चट्टानों को **'लैकोलिथ'** (Laccolith) कहते हैं । जब इन चट्टानों की ऊपरी परत घिस जाती है, तो लावा की परत साफ दिखाई पड़ती है । चट्टान के सभी नरम भाग घिस जाने पर लावा की जमी हुई परत ऊँची खड़ी रह जाती है जिसे **बट** कहते हैं ।



क· लकौलिथ



ख· बट

चित्र ३३.

ज्वालामुखी से निकलने वाली गैसों में जलवाष्प मुख्य होती है अथवा दूसरे शब्दों में यों कहिए कि गैसों मे ऑक्सीजन और हाइड्रोजन अधिक होती है जो विशेष तापक्रम और दबाव के कारण जलवाष्प में बदल जाती है । जलवाष्प के अतिरिक्त गन्धक और कार्बन के विविध गैस रूप निकलते हैं । जिनमें अनेक ज्वलनशील (तुरन्त जल उठने वाली) गैसें होती हैं । दहनशील गैसों में कार्बन-डाइऑक्साइड और सल्फर ऑक्साइड प्रमुख है । इनके अलावा हाइड्रोक्लोरिक एसिड गैस, अमोनियम क्लोराइड, नाइट्रोजन, आर्गन तथा बोरिक एसिड आदि अनेक गैसें निकलती हैं ।

दबाव के कम होने से इन गैसों की स्थिति में परिवर्तन होता है । भूगर्भ में भीषण गर्मी और दबाव के कारण गैसें लावा में घुली रहती हैं, परन्तु गर्मी और दबाव के कम होते ही लावा से अलग होने लगती हैं । भूगर्भ की भीतरी चट्टानों की दरारों में भरा हुआ लावा जैसे-जैसे ठण्डा होता जाता है वैसे-ही-वैसे उनमें से गैसें

निकल-निकलकर एकत्र होती रहती हैं और किसी समय भारी विस्फोट के साथ ज्वालामुखी से निकल पड़ती हैं।

इन गैसों के लावा से विस्फोट के साथ अलग होने के परिणामस्वरूप बहुत से छोटे-बड़े शिलाखण्डों का निर्माण होता है। ये शिलाखण्ड विस्फोट के बल से सैकड़ों फुट ऊँचे उछल जाते हैं और फिर बम वर्षा की तरह धरती पर बरसते हैं। इन अंगारों-जैसे दिखाई देने वाले एवं आकाश में उछलते हुए शिलाखण्डों में कुछ तो लावा के टूटे हुए पिण्डो के ठण्डे होने से बनते हैं, कुछ पिछले उद्गार काल के जमे हुए लावा के खण्ड होते हैं और कुछ मुखगर्त (Crater) की चट्टानो का टूटा हुआ अंश होता है। इन ठोस खण्डों में सूक्ष्म कण वाली धूल से लेकर टनों भारी शिलाखण्ड तक होते हैं। उद्गार मे गिरे हुए एक विशाल शिलाखण्ड का आयतन २५ घन गज था और उसका भार लगभग १,९०० मन (६८ टन) था। सबसे महीन कणों को **'धूल'** कहते हैं। ज्वालामुखी की धूल मटमैले रंग की तथा बहुत हल्की होती है। बाजरा या मटर के बराबर कणों को ज्वालामुखी की **रज्ञ** या रेत कहते हैं। सुपारी के बराबर आकार के टुकड़ों को **'लैपिली'** तथा बड़े-बड़े टुकड़ों को **'बम'** कहते हैं। इन बमों के गोल, अण्डाकार, लम्बे, मुग्दर-जैसे नाना प्रकार के विशिष्ट आकार होते हैं। कुछ तो अनेकों छेदों वाले पोले होते हैं और कुछ बिलकुल ठोस। ऐसा प्रतीत होता है कि लावा के कुछ पिण्ड अर्द्धद्रव अवस्था में गैसों के साथ टूटकर वायुमण्डल में उछल जाते हैं। वहाँ वायु के साथ विभिन्न दिशाओं में घूमने से इनके नाना प्रकार के आकार बन जाते हैं। कई बार हवा के साथ घूमते-घूमते इनमें केन्द्रोन्मुखी शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है जिससे लावा के अन्दर कैद गैसें फैलती हैं। फलतः शिलाखण्ड में मधुमक्खी के छत्ते के समान अनेक छेद बन जाते हैं। कभी-कभी गैस के फैलने से लावा-पिण्ड के अनेक टुकड़े हो जाते हैं। तेजी से घूमने के कारण इन पिण्डों का ऊपरी तल काँच-जैसा चिकना हो जाता है।

ज्वालामुखी से उगली हुई दूसरी मुख्य वस्तु लावा है। चट्टानों का पिघला हुआ रूप होने के कारण लावा में कई खनिजों का संयोग होता है। परन्तु **'सिलिका'** की मात्रा की न्यूनाधिकता से इसके दो भेद माने जाते हैं। अम्ल लावा (Acid lava) में सिलिका की मात्रा ७५ प्रतिशत होती है और चूना, मेग्नेशिया तथा आयरन-ऑक्साइड बहुत कम मात्रा में होते हैं। इसके विपरीत पैठिक लावा (Basic lava) में सिलिका ४० प्रतिशत होता है परन्तु चूना, मेग्नेशिया और आयरन ऑक्साइड पर्याप्त मात्रा में मौजूद रहते हैं।

अस्तु, जैसा कि बताया जा चुका है, ज्वालामुखी के उद्गार के समय गैसरूप धुआँ, ठोस शिलाखण्ड तथा उत्तप्त द्रव लावा, ये तीन प्रकार के पदार्थ भीतर से

निकलते हैं। इन पदार्थों के परिणाम के अनुसार ही उद्गार विस्फोटक (Explosive) या शान्त होता है। इन्हीं पदार्थों की मात्रा के अनुपात पर ही पहाडी का बनना या न बनना तथा उसके आकार का रूप निर्भर रहता है।

१०२. **ज्वालामुखी की पूर्व-सूचना**—बहुधा उद्गार होने से पूर्व ऐसे चिह्न प्रकट होते है जिनसे उद्गार होने का आभास हो जाता है। इन पूर्व सूचनाओं में पृथ्वी का हिलना, पृथ्वी के भीतर गड़गड़ाहट की ध्वनि होना, भूमि का नीचे की ओर धँस जाना तथा ज्वालामुखी के समीपस्थ भूमि का तापक्रम बढ जाना मुख्य है। अधिकतर उद्गार से पहले पृथ्वी काँपती है। धीरे-धीरे भूकम्प जल्दी-जल्दी और अधिक उग्रता से आने लगते है। परन्तु उद्गार के बाद बिलकुल बन्द हो जाते है। यदि भूकम्पों के बाद भी उद्गार नही होता, तो इसका अर्थ यह होता है कि अभी लावा में भूपटल को फाड़कर बाहर निकलने योग्य शक्ति नहीं है। उद्गार आने से पूर्व तापक्रम भी बढ जाया करता है। फलतः ज्वालामुखी पर्वत की चोटी से हिम पिघलने लगती है और आस-पास के झरने, कुएँ तथा ज्वालामुखी की झीलें सूखने लगती हैं। कभी-कभी उद्गार किसी पूर्व-सूचना के बिना ही अचानक फूट पडता है और कभी कभी इन पूर्व-सूचनाओं के पश्चात् भी उद्गार नही होता।

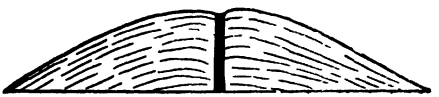
१०३. **ज्वालामुखी चक्र**—बहुत से ज्वालामुखी पर्वतो के उद्गार के समय का दृश्य देखने से यह प्रतीत होता है कि इन दृश्यों का क्रम एक निश्चित चक्र के अनुसार चलता है। इस चक्र में पाँच अवस्थाएँ मानी गई है।

१०४. प्रथम अवस्था में नव-निर्मित भूभाग पूर्णतया कठोर नही हो पाता है, अतः लावा अनेक दरारों से विपुल परिणाम में आकर धरातल पर छा जाता है। इस समय उद्गार प्रायः शान्त होता है और गैसें लावा के साथ नही निकलती। दक्षिण भारत का लावा-प्रदेश इसी प्रकार के उद्गारों से बना था। यह प्रदेश ढाई लाख वर्ग मील भूमि पर विस्तृत है। बम्बई-तट पर वह १०,००० फुट मोटा है और उत्तर तथा पश्चिम की ओर पतला होता गया है। कोलम्बिया पठार का २ लाख वर्गमील का क्षेत्र भी इसी प्रकार बना था। लावा फैल जाने से धरती पर आध मील मोटी परत छा गई जिससे घाटियों और छोटी पहाड़ियाँ ढक गई तथा ऊँचे-ऊँचे पहाड़ काले लावा में द्वीप से दिखाई देने लगे।

१०५. द्वितीय अवस्था में पृथ्वी का ऊपरी पृष्ठ काफी कठोर हो गया। अतः लावा धरातल के सभी छिद्रों से नही निकलता, किन्तु पर्याप्त गहरी दरारों के मध्य भाग से निकलने लगता है। इस दशा में लावा काफी परिमाण में निकलता है, जिससे केन्द्र-स्थान पर गुम्बज के आकार की चौरस ऊँची पहाड़ी-सी बन जाती है। आजकल हवाई-द्वीप, समोआ और आइसलैंड में इस प्रकार के ज्वालामुखी पाये जाते हैं। हवाई द्वीप का मोनालोआ ज्वालामुखी संसार का सबसे बड़ा ज्वालामुखी है।

१०६. तृतीय अवस्था में आते-आते लावा का सीधे दरारों में होकर निकलना कठिन हो जाता है। फलतः वह भीतरी भाग में ही एकत्र होता रहता है। लावा से निकली हुई गैसें बाहर निकलने के लिए छटपटाती हैं, और जहाँ पर परत कमजोर होती है, वहीं से निकलने का प्रयत्न करती हैं। इनके प्रभाव से धरती काँपने लगती है, लावे की हलचल से गड़गड़ाहट की ध्वनि होती है और धरती अचानक फट जाती है। धरती के फटते ही धुएँ के काले-काले बादल आकाश में छा जाते हैं। कभी-कभी इस धुएँ में प्रज्वलनशील गैसें मिली रहती हैं। वायुमण्डल में आते ही इनमें आग लग जाती है। इनकी लपटों का प्रकाश अत्यन्त देदीप्यमान होता है। विस्फोट इतना उग्र होता है कि बड़े-बड़े शिलाखण्ड आकाश में उछल जाते हैं। इनके गिरने से इतने जोर के धड़ाके होते हैं कि उनकी आवाज बहुत दूर तक सुनाई देती है। धूल और राख के गगन में छा जाने से कई बार दिन की रात बन जाती है। गैसों के साथ निकली हुई जलवाष्प इन धूलकणों से मिलकर ठण्डी हो जाती है और फिर मूसलाधार वर्षा होती है, जिससे कई स्थानों पर बाढ आ जाती है। कुछ समय के बाद ज्वालामुख से अत्यन्त गरम लावे की धारा फूट पड़ती है। कभी-कभी लावा मुख से नहीं निकलता, किन्तु दूसरी दरारों से निकल पड़ता है। उद्‌गार के समय लावा अंगारे के समान लाल रग का होता है। अतः लाल रंग को देखकर लोगों को आग की लपटों का भ्रम हो जाता है। धरातल पर आकर लावा नीचे ढाल की तरफ बहने लगता है। लावा की प्रवाह-गति भूमि के ढाल तथा लावा की चिपचिपाहट (Viscosity) पर निर्भर है। लावे में चिपचिपाहट उसकी रासायनिक रचना के अनुसार होती है। रासायनिक रचना के अनुसार लावे के दो मुख्य भेद है— अम्ल लावा (Acid Lava) और पैठिक लावा (Basic Lava)।

अम्ल लावा अधिक चिपचिपा होता है। यह लावा चिपचिपाहट के कारण जल्दी नहीं बह सकता। केवल उसका ऊपरी अंश आगे को लुढ़क जाता है। जैसे-जैसे लावा आगे बढ़ता है, उसकी ऊपरी परत काली पड़ती जाती है। इसका कारण यह है कि चिपचिपे लावे की गति मन्द होने से ऊपरी अंश जल्दी ठण्डा होकर जम जाता है। परन्तु भीतर का लावा अभी द्रव अवस्था में रहता है, अतः उसका आगे की ओर लुढ़कना जारी रहता है। ऐसी दशा में ऊपर की कठोर पपड़ी खिचाव के कारण टूट जाती है और ये टुकड़े भी साथ ही लुढ़कते रहते हैं। जब सब लावा ठण्डा होकर कठोर हो जाता है,



चित्र ३४.

तो इन टुकड़ों के कारण धरातल ऊँचा-नीचा हो जाता है। चिपचिपे लावे का प्रवाह-क्षेत्र बहुत सीमित होता है।

पैठिक लावा कम चिपचिपा होता है अतः तेजी से बहता है। इसकी प्रवाह-गति इतनी तेज़ होती है कि एक अश्वारोही इसके साथ नहीं दौड़ सकता। कई बार इसका प्रवाह वर्षों तक होता है। कभी-कभी इस लावे की ऊपरी परत कठोर हो



पैठिक लावा

चित्र ३५.

जाती है, परन्तु कठोर परत के नीचे से द्रव लावा बह जाता है। इस पपड़ी के नीचे एक गुफ़ा-सी बनी रह जाती है। धरातल के नीचे की ऐसी गुफ़ाएँ भूमिगत जल का एक भंडार बन जाया करती हैं, जिनसे झरने बहते रहते हैं।

इस अवस्था में कई बार उद्गार होने से ज्वालामुखी पर्वत में कई स्तर बन जाते हैं। इसी प्रकार इन्हें स्तरीय ज्वालामुखी भी कहा जाता है। भूमध्यसागर के एटना, विसूवियस और जापान का फ़्यूजीशन पर्वत इसी अवस्था में हैं।

१०७. चतुर्थ अवस्था में भूमि की भीतरी चट्टानों के कठोर हो जाने के कारण लावा की मात्रा घटती जाती है। तापक्रम घटने से लावा की गैसें निकलकर एकत्र होती रहती हैं और अचानक विस्फोट के साथ निकल पड़ती हैं। ऐसे उद्गारों में गैसों के साथ राख और धूल भी निकलती है। विस्फोट इतना उग्र होता है कि ज्वालामुखी का पूर्व-निर्मित शंकु (Cone) नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। इस उद्गार में लावा का प्रवाह बहुत नगण्य होता है। १८८३ ई० में क्राकाटोआ द्वीप का भीषण उद्गार लावा के बिना ही हुआ था। क्राकाटोआ द्वीप सुमात्रा और जावा के बीच में सुंडा जलडमरूमध्य में स्थित है। यहाँ १८८३ ई० के मई महीने से ही धुएँ के बादल उठने लगे और अगस्त तक धुआँ निकलता रहा। अगस्त में धुएँ के साथ धड़ाके भी होने लगे। २७ अगस्त को इतना भीषण धडाका हुआ कि टापू का दो-तिहाई भाग उड़ गया और वहाँ पर समुद्र लहराने लगा। इस विस्फोट की आवाज़ कई हज़ार मील तक स्पष्ट सुनाई दी। यहाँ से लगभग १०० मील दूर स्थित बटाविया नगर में इस धड़ाके की भीषण ध्वनि को सुनकर लोग घबरा गये और समझने लगे कि प्रलय आ पहुँची है। लगभग १,००० मील दूर सिलेबीज द्वीप के लोगों ने समझा कि उनके पास ही समुद्र में किसी जहाज़ पर धड़ाका हुआ है। ३,००० मील से अधिक दूर रोडरीक्यूज़ द्वीप में भी ४ घंटे बाद इस धड़ाके की आवाज़ सुनाई पड़ी थी। धड़ाके के कारण समुद्र में ५० फुट ऊँची लहर उठी जिसने आस-पास के द्वीपों में बढ़कर सैंकडों गाँव बहा दिये और सहस्रों मनुष्यों को डुबा दिया। धूल और राख तो इतनी उड़ी कि सैकड़ों मील की दूरी में कई दिनों तक रात बनी रही। धूल और राख के गुब्बारे आकाश में

२० मील की ऊँचाई तक पहुँच गये, और उसने वायुमंडल में पृथ्वी के तीन चक्कर लगाये। लाखों वर्गमील भूमि पर यह धूल फैल गई।

अलास्का का कटमाई ज्वालामुखी, कैलीफोर्निया का लासेन पीक और जापान का बन्दाईसान इसी अवस्था के अन्तर्गत हैं।

१०८ अन्तिम अवस्था में धड़ाके समाप्त हो जाते हैं। उद्गार के समय भाप और अन्य गैसें चुपचाप **धुआँरे या फ़्यूमरोल्स** (Fumeroles) से निकल पड़ती हैं। बहुत से स्थानों पर खौलता हुआ गरम पानी और भाप फव्वारा के रूप में वायुमंडल में उछल जाती है जिसे **'गीसर'** (Geyser) कहते हैं। गीसर आइसलैंड की भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ उछलता हुआ पानी है। गीसर के मुख से भाप और गरम पानी दोनों का ही उद्गार होता है और उनकी संयुक्त शक्ति से ही फव्वारा छूटता है। साधारणतया २१२° फा० तापक्रम पर पानी भाप बनता है परन्तु दबाव की अधिकता के कारण भाप भी अधिक ऊँचे तापक्रम पर बनती है। अस्तु, भूगर्भ में दबाव की अधिकता के कारण अधिक ऊँचे तापक्रम पर भी पानी भाप के रूप में नहीं बदलता। जिस गीसर की भूगर्भ से सम्बन्ध रखने वाली नली या दरार पर्याप्त चौड़ी और सीधी होती है, उसमें उद्गार के समय संवाहन-क्रिया (Convection) द्वारा समस्त नली का पानी एक ही तापक्रम पर पहुँच जाता है। अतः गीसर का मुख गरम पानी का कुंड-सा बन जाता है, जिससे पानी चारों ओर बहता रहता है। किन्तु; जिस गीसर की नली संकीर्ण और टेढ़ी होती है, उसकी समस्त नली में संवाहन-क्रिया नहीं होती। टेढ़े स्थान के समीप तापक्रम इतना हो जाता है कि कुछ पानी भाप बन जाता है और अपने ऊपर के जल को जोर से धकेलता है। मुख के पास दबाव में कमी होते ही अधिक पानी भाप बन जाता है और बाकी जल को फव्वारे के रूप में वायु-मंडल में उछालता है। संयुक्त राज्य का प्रसिद्ध 'ओल्ड फेथफुल गीसर' अपने जल की धारा और फुहारें हवा में १५० फुट की ऊँचाई तक उछाल देता है। गीसर के मुख में साबुन, मिट्टी का ढेला आदि किसी चीज के गिर जाने से भी काफी ऊँचा उछाल उत्पन्न हो जाता है। गीसर के जल में विभिन्न प्रकार के खनिज घुले रहते हैं। इन खनिजों के जम जाने से मुख के पास एक टीला-सा बन जाता है। मुख में जो पानी भरा रहता है वह खौलते रहने के कारण बुलबुलों के रूप में उछलता रहता है। फलतः ऐसी दशा में मुख के चारों ओर टीला काफ़ी ऊँचा हो जाता है और मुख को ढक लेता है। टीले के कई छिद्रों में से गीसर का उद्गार होने लगता है। आइसलैंड, न्यूज़ीलैंड, कैलीफोर्निया आदि में गीसर अधिक पाये जाते हैं।

धुआँरे (Fumeroles)—जब मुखगर्त से केवल धुआँ ही धुआँ निकलता है तो उनको धुआँरा कहते हैं। इस धुएँ का ४।५ भाग जलवाष्प होता है, और शेष में

कार्बन-डाइऑक्साइड, हाइड्रोक्लोरिक एसिड आदि गैसें होती हैं। इन गैसों के साथ लोहा, ताँबा आदि धातुओं के योग भी मिले रहते हैं। जिन धुआँरों से अधिकतर गन्धक का धुआँ निकलता है, उनको **गन्धकीय धुआँरे** (Solfatara) कहते हैं। कुछ धुआँरों से अधिकतर कार्बन-डाइऑक्साइड गैस निकलती है। जब कभी हवा बन्द होती है, तो यह गैस हवा से भारी होने के कारण धरती के समीप चारों ओर फैल जाती है और निचले गड्ढों मे भर जाती है। इन गड्ढों में यदि कोई पशु आकर फँस जाता है, तो वह इस गैस में घबरा-घबराकर प्राण त्याग देता है। इन धुआँरों का बड़ा उपयोग किया जा रहा है। टस्कनी में धुआँरों के १०० वर्ग मील के क्षेत्र में ६०० फुट गहरे गड्ढे खोदकर ऊँचे तापक्रम की भाप को एकत्र कर लिया जाता है, और उससे बिजली उत्पन्न कर ली जाती है। यह बिजली फ्लोरेन्स, पिसा आदि नगरों को पहुँचाई जाती है। इस शक्ति का प्रयोग ७०-७५ वर्षों से होता आ रहा है। १९२८ ई० में एक गहरा गड्ढा खोदकर इतनी शक्तिशाली भाप प्राप्त की गई है कि वह बिना एकत्र हुए सीधे ही बिजली उत्पन्न कर सकती है। भाप से उत्पन्न बोरिक एसिड की मात्रा का हिसाब लगाकर यह अनुमान किया गया है कि वहाँ प्रतिदिन सहस्रों मन भाप प्राप्त की जा सकती है।

इसी प्रकार की उत्तप्त भाप का अपरिमित भण्डार केलीफोर्निया में भी है। यहाँ पर भी टस्कनी की भाँति काफी गहराई पर भाप मिलती है, और गहराई के साथ ही इसकी विपुल राशि की वृद्धि होती जाती है। १९२१ ई० में इस क्षेत्र में (सेनफ्रान्सिको से ४० मील) शक्ति उत्पन्न करने के लिए गड्ढे खोजने की योजना बनाई गई। १९२२ ई० के सितम्बर में पहला कुआँ खोदा गया। इस कुएँ से प्राप्त शक्ति से ही दूसरा कुआँ खोदा गया जो १९२३ ई० में पूरा हुआ। अब तक आठ कुएँ खोदे गये हैं। सबसे गहरा कुआँ ६५० फुट गहरा है। इनसे काफी मात्रा में भाप प्राप्त होती है। यह योजना पूर्णतया सफल हुई है।

पंक-ज्वालामुखी (Mud volcano)—कई स्थानों पर गैसों के साथ कीचड़ का उद्गार होता है तो उन्हें पंक-ज्वालामुखी कहते हैं। विभिन्न खनिजों के मिले रहने से कीचड़ का रंग अनेक प्रकार का होता है। इस कीचड़ के जम जाने से एक शंकु (Cone) का निर्माण हो जाता है। इन पंक-ज्वालामुखियों में पहले पानी का स्रोत कम हो जाने से नीचे का गंदला पानी आता है जिसमें चट्टानों का चूर्ण मिला रहता है। धीरे-धीरे कीचड़ अधिक गाढ़ा आने लगता है। जब कभी इस कीचड़ के सूख जाने से पंक-ज्वालामुखी का मुख बन्द हो जाता है, तो उसके नीचे पानी की भाप बनती है। यह भाप एकदम उछलती है और अपने साथ कीचड़ भी उछाल देती है। बर्मा और पाकिस्तान के बलूचिस्तान प्रान्त में पंक-ज्वालामुखी पाये गये हैं।

ऊपर जिन पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, वे सब एक ही आग्नेय-क्रिया के विभिन्न रूप हैं। इस चक्र से प्रारम्भ में लावा और अन्तिम अवस्था में गैसें निकलती हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रारम्भिक अवस्था में धड़ाका होता ही नहीं और अन्तिम अवस्था में लावा का प्रवाह बिलकुल नहीं होता। कई बार तो एक ही ज्वालामुखी के मुखगर्त से दो या तीन अवस्थाओं के स्वरूप दिखाई पड़ जाते हैं।

१०९. **ज्वालामुखी पर्वतों की शंकु रचना** (Formation of Cones in Volcanoes)—ज्वालामुखी पर्वतों की आकृति शंकु (Cone) की तरह होती है। इन पर्वतों के शंकु छोटे से टीले से लेकर सर्वोच्च पर्वतों के बराबर तक होते है। शंकु की रचना ज्वालामुखी से निकले हुए पदार्थों के जमने से होती है। शंकु की आकृति ज्वालामुखी से निकले हुए पदार्थों के विश्रामकोण एवं उनके एकत्र रहने की शक्ति, लावे की रासायनिक रचना, वायु की दिशा, विस्फोटो तथा काट-छाँट के प्रभाव पर निर्भर होती है।

यदि हम धरातल पर बालू का ढेर इस प्रकार लगायें कि उसके कण एक दूसरे पर सधे रहें, तो धरातल पर ढेर के कोण को उसका विश्रामकोण कहेंगे। ढेर के पदार्थ में कण जितने बड़े होंगे, विश्राम कोण भी उतना ही बड़ा होगा। शंकु की रचना पर उद्गार के समय निकले हुए राख, धूल, पत्थर, बम आदि पदार्थों के विश्राम कोण का भी काफी प्रभाव पड़ता है। इन पदार्थों में गरम होने के कारण एक दूसरे से मिलाये रखने की शक्ति भी पर्याप्त होती है। उद्गार के समय की वर्षा भी इस कार्य में सहायक होती है।

लावा की रासायनिक रचना भी शंकु की आकृति पर प्रभाव डालती है। लावा की परत केवल असंघटित पदार्थों को जमाकर स्थायी ही नही बनाती, किन्तु स्वयं भी शंकु के ढाल पर प्रभाव डालती है। अम्ल लावा अधिक चिपचिपा होता है, अतः इसका प्रवाह अत्यन्त धीमा होता है। कभी-कभी लोग उसे गतिहीन ही समझते हैं। फलतः शंकु का प्रपाती (Steep) होता है। अकेले लावा द्वारा निर्मित शंकु पर यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। ठोस पदार्थों के ऊपर लावा की परतें जमकर बड़े सुन्दर शंकु का निर्माण कर देती है। विद्वानों के मत से जापान का फ़्यूजीयामा पर्वत संसार का सुन्दरतम एवं दर्शनीय शंकु है। फिलीपाइन्स द्वीप का मेयन तथा उत्तरी अमेरिका के हुड, शास्ता और रेनियर पर्वत भी इसी प्रकार के दर्शनीय शंकु हैं।

सनातन हवायें भी शंकु की आकृति को अपनी प्रवाह-दिशा की ओर कुछ लम्बा-स बना देती हैं। उद्गार के समय निकले हुए पदार्थ हवाओं से प्रभावित हो जाते हैं।

विस्फोटों से शंकु की आकृति में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। भयानक विस्फोटों से कई बार शंकु का ऊपरी भाग उड़ जाता है। प्रागैतिहासिक काल में

विसूवियस का शंकु उड़ गया था। १८८८ ई० में वन्दाई सान का और १९१२ में कटमाई का ऊपरी भाग उड़ गया था। कभी-कभी धड़ाके के साथ शंकु के ढाल में से बहुमुखी फोड़े की तरह अनेकों छेद फूट निकलते हैं और इनसे भी लावा आदि निकल पड़ता है। यदि इन छेदों से उद्गार होता रहता है, तो इनके आस-पास भी छोटे-छोटे शंकु बन जाते हैं जिनसे शंकु की विचित्र आकृति बन जाती है। एटना पर्वत पर ऐसे कई परजीवी शंकु (Parasitic Cones) बने हुए हैं। कभी-कभी किसी प्रचंड उद्गार द्वारा निकाले हुए पदार्थ से दबकर ये परजीवी शंकु नष्ट हो जाते हैं।

ज्वालामुखी की प्रसुप्तावस्था में अथवा उसके शान्त हो जाने पर शंकु की रचना का विकास रुक जाता है और उसके नरम भागों का क्षय होने लगता है। ज्वालामुखी की राख और जमे हुए शिलाखण्ड क्षयात्मक शक्तियों के प्रभाव से उखड़-उखड़कर अलग होने लगते हैं। धीरे-धीरे ज्वालामुखी की गर्दन में जमे हुए कठोर लावा के ठोस स्तम्भ को छोड़कर समस्त शंकु का छोटा रूप बन जाता है।

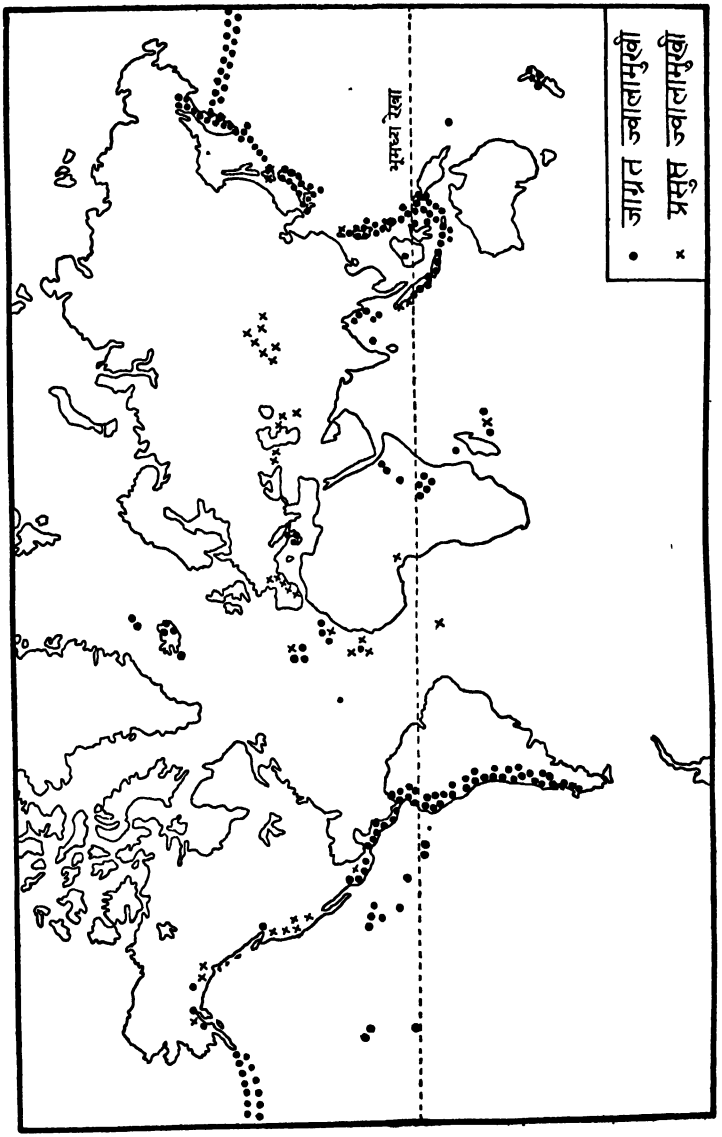
११०. **ज्वालामुखी की प्रज्वलनशीलता**—जो ज्वालामुखी समय-समय पर धुआँ, लावा आदि उगलता रहता है उसे जाग्रत (Active) ज्वालामुखी कहते हैं। विभिन्न ज्वालामुखियों का जागरण-काल भिन्न-भिन्न होता है। एटना पर्वत के विशाल आकार को देखकर विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि यह ज्वालामुखी ३ लाख वर्ष से प्रज्वलित रहा होगा। पिछले ढाई हज़ार वर्षों से तो इसमें उद्गार होते आये हैं। भारत में कोई जाग्रत ज्वालामुखी नहीं है। वृहत्तर भारत में बंगाल की खाड़ी के बेरन द्वीप में केवल एक जाग्रत ज्वालामुखी है। समस्त संसार में जाग्रत ज्वालामुखियों की संख्या ४३० समझी जाती है।

बहुत से ज्वालामुखी एक बार जाग्रत रहने के पश्चात् फिर प्रसुप्त (Dormant) हो जाते हैं। प्रसुप्तावस्था इतनी लम्बी हो जाती है कि लोग उन्हें शान्त समझने लगते हैं। वर्षों प्रसुप्त रहने के बाद ये अचानक क्रियाशील हो जाते हैं। इस प्रकार के उद्गार से जन-धन की अपार हानि होती है। इटली का विसूवियस पर्वत सैकड़ों वर्ष प्रसुप्त रहने के बाद १६३१ ई० में अचानक फूट पड़ा था।

जो ज्वालामुखी लावा आदि उगलना बिलकुल बन्द कर देते हैं, और जिनकी गर्दन का छेद बन्द हो जाने से मुख-गर्त में जल एकत्र होकर झील बन जाती है, उनको शान्त (Extinct) ज्वालामुखी कहते हैं।

१११. **भूतल पर ज्वालामुखी पर्वतों का वितरण**— संसार के जिन क्षेत्रों में ज्वालामुखी पर्वत स्थित हैं वे सब नव-निर्मित भूभाग हैं। इन भागों को निर्बल क्षेत्र कहते हैं। ज्वालामुखी पर्वतों की पंक्तियाँ दो लम्बी और नियमबद्ध पेटियों में स्थित

हैं : एक आल्प्स हिमालय की पेटी और दूसरी पेटी प्रशान्त महासागर को घेरे हुए



चित्र ३६. भूतल पर ज्वालामुखी पर्वतों का वितरण

है। इन दो के अतिरिक्त प्रशान्त, अटलाण्टिक और हिन्द महासागर के तीन समुद्री क्षेत्रों में भी ज्वालामुखी मिलते हैं।

आल्प्स हिमालय की पेटी भूमध्यसागर के सहारे-सहारे फैलती हुई काकेशस, आरमीनिया, फारस, बलूचिस्तान, यूनान, ब्रह्मा, बैरन द्वीप होती हुई पूर्वी द्वीप समूह तक चली गई है।

प्रशान्त महासागर को घेरने वाली पेटी पूर्वी द्वीप समूह से प्रारम्भ होती है। वहाँ से फिलिपाइन्स, फारमोसा, जापान, क्यूराइल, कमचटका प्रायद्वीप, एल्यूशियन द्वीप समूह, अलास्का प्रायद्वीप, संयुक्तराज्य के पश्चिमी तट, मैक्सिको, मध्य अमेरिका, और एंडीज के सहारे-सहारे टैराडेलफ्यूगो तक जाती है। वहाँ ऐंटार्कटिक महाद्वीप के इरेबस पर्वत पर होती हुई न्यूज़ीलैंड के उत्तरी द्वीप, न्यू हेब्रेडीज, सालोमन द्वीप और न्यूगिनी न्यू पोमेरेनिया चाप तक पहुँच जाती है।

जलमंडल के क्षेत्रों में प्रशान्त क्षेत्र सब से प्रमुख है। संसार के जाग्रत ज्वालामुखी पर्वतों का $\frac{3}{4}$ भाग प्रशान्त सागरीय क्षेत्र में स्थित है। अटलाण्टिक और हिन्द महासागर के क्षेत्रों में भी बहुत से ज्वालामुखी फैले हुए हैं।

११२. ज्वालामुखी के उद्गार का कारण—ज्वालामुखी पर्वतों के वितरण की ओर ध्यान देने से दो बातें स्पष्ट दिखाई देती है। प्रथम तो ज्वालामुखी लम्बी नियमबद्ध पेटियों के रूप में फैले हुए हैं। इससे प्रकट होता है कि लावा भूपृष्ठ में पर्याप्त गहराई तक पहुँची हुई दरारों के खास-खास स्थानो से ही निकलता है और ये खास स्थान संभवतया विपरीत दिशाओं की ओर जाने वाली दो दरारों के मिलने के स्थान हों।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ज्वालामुखी पर्वत मुख्यतया समुद्रतट के समीप और द्वीपों में पाये जाते हैं। दूसरे शब्दों में, ये महाद्वीपों के भीतरी भागो में प्रायः नही मिलते। इससे प्रकट होता है कि ये भूमि के निर्बल क्षेत्रो में अर्थात् महाद्वीपों और महासागरों के मिलने के स्थानो पर पाए जाते हैं। जहाँ कहीं भी ये महाद्वीपों के भीतरी भागों में पाये जाते हैं, वहाँ पर भूपृष्ट में काफ़ी बड़ी-बड़ी दरारें होती हैं। उदाहरण के लिए पूर्वी अफ्रीका की विशाल रिफ़्ट घाटी ऐसा ही एक स्थल भाग है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि ज्वालामुखी के फूटने का सम्बन्ध भूपृष्ठ की भीतरी चट्टानों के टूटने से जुड़ा हुआ है। इसी प्रकार पर्वत निर्माणकारी और भूखंड निर्माणकारी घटनाओं द्वारा पृथ्वी-तल का सिकुड़ना और फैलना भी ज्वालामुखी के उद्गार से सम्बन्धित है।

११३. ज्वालामुखी से मनुष्य को लाभ—ज्वालामुखी पर्वतों ने मनुष्यो को काफ़ी लाभ पहुँचाया है—

(१) सर्वप्रथम ज्वालामुखी पर्वतों ने हमारी पृथ्वी का इतिहास जानने में अपरिमित सहायता पहुँचाई है। इनके द्वारा भूपृष्ठ की भीतरी चट्टानों का रहस्य समझ में आता है।

(२) ज्वालामुखी के अध्ययन द्वारा हम भविष्य में होने वाले उद्गारों की भविष्यवाणी करके अपार जन-धन की हानि को बचा सकते हैं।

(३) ज्वालामुखी से निसृत बहुत से पदार्थ मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। कई स्थानों पर ज्वालामुखी के समीप गन्धक, बोरिक एसिड, प्यूमिस आदि वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

(४) लावा के क्षय से निर्मित मिट्टी संसार की उर्वरा मिट्टियों में गिनी जाती है।

(५) लावा की जम कर बनी चट्टानें इमारती कामों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

(६) उद्गार के समय जो शक्ति निसृत होती है उसका उपयोग अत्यन्त लाभप्रद है। डा० प्रेलर ने गणना की है कि यदि १९२८ ई० के एटना पर्वत के उद्गार की शक्ति एकत्रित कर ली जाती तो उससे समस्त इटली को तीन वर्ष तक बिजली दी जा सकती थी। आइसलैंड में गर्म गीसरों में भोजन पकाने और वस्त्र धोने का काम लिया जाता है। केलीफोर्निया में भी भाप के कुओं का उपयोग किया जाता है।

(ख) भूकम्प (Earthquake)

१२४. **भूकम्प किसे कहते हैं**—प्रत्येक भौतिक पदार्थ धक्का लगने से हिलता है और उसमें कम्पन उत्पन्न होता है। तबले पर कसे हुए चमड़े पर चोट मारने पर वह थर्राकर काँपने लगता है। जब यह कम्पन भौतिक साधनों द्वारा हमारे मस्तिष्क में पहुँचेगा, तो हमें ध्वनि का बोध होगा। ज्योंही चमड़े का कम्पन बन्द होगा, ध्वनि भी लुप्त हो जायगी। यहाँ हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि एक सैकिण्ड में १६ बार से कम कम्पन होने पर उसकी ध्वनि हमें अनुभव नही होती।

पृथ्वी पर साधारण-से-साधारण धक्का लगने पर भी भूपृष्ठ का कुछ भाग काँप उठता है। हमारी पृथ्वी पर कम्पन बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ता है। घोड़े की टाप की कम्पन-ध्वनि मीलों दूर तक धरती से कान लगाने पर सुनाई पड़ सकती है। अमेरिका के रैड इण्डियन अपने शत्रुओं का पता लगाने के लिए धरती से कान लगाकर शत्रु के घोड़ों की टाप की आवाज सुन लेते थे। परन्तु इस प्रकार के साधारण कम्पनो को भूकम्प नही कहते। साधारणतः पृथ्वी के भीतर होने वाली किसी घटना के परिणामस्वरूप जब धरातल का कुछ भाग अकस्मात् काँप उठता है, तो उस आकस्मिक कम्पन को भूकम्प कहा जाता है।

यों तो धरातल के किसी-न-किसी भाग में नित्यप्रति भूकम्प होते ही रहते हैं; परन्तु ये सभी हमारे जीवन पर प्रभाव नही डाल पाते। इनमे से अधिकांश समुद्र के गर्भ मे ही समाप्त हो जाते हैं। बहुत से इतने अल्पकालिक और धीमे होते हैं कि हमें उनकी अनुभूति ही नही होती। परन्तु कभी-कभी भूकम्प इतने तीव्र वेग से आते हैं कि धरती बड़े जोर से हिल उठती है, मकान और पेड आदि झूले की तरह झूलने लगते हैं और धन-जन की अपार हानि होती है।

११५. भूकम्पों के कारण—अत्यन्त प्राचीन काल से ही भूकम्पो ने मनुष्य का ध्यान आकर्षित किया है। प्राचीन लोगो का विश्वास था कि कोई जानवर हमारी पृथ्वी को उठाये हुए है और उसी जानवर के हिलने से पृथ्वी मे हलचल होती है। बाली और बोर्नियो द्वीप मे तथा बलगेरिया और तुर्की मे यह विश्वास प्रचलित था कि एक भैसा पृथ्वी को अपनी सीग पर उठाए हुए है। जब वह भैसा पृथ्वी को एक सीग से दूसरे सीग पर रखता है तभी पृथ्वी काँप जाती है। उत्तरी अमेरिका के मूल निवासी समझते थे कि पृथ्वी कछुए की पीठ पर है। इसी प्रकार सिलेबीज द्वीप में सुअर, ईरान मे केकड़ा, मलक्का द्वीप और भारत में सर्प पृथ्वी को उठाए हुए माने जाते थे। तिब्बतियो के अनुसार पृथ्वी एक विशाल मेढक की पीठ पर स्थित है, और पीठ के किसी भाग के हिलने से उसी अग पर टिकी हुई भूमि हिलती थी।

आधुनिक वैज्ञानिको का कथन है कि तीन प्रकार के भूकम्प आते हैं और उनके कारण उनकी उत्पत्ति के अनुसार अलग-अलग ह।

(क) ज्वालामुखी क्षेत्रों के भूकम्प—ज्वालामुखी पर्वतों के क्षेत्रो में जब लावा और गैसें भूगर्भ से बाहर निकलने के लिए जोर लगाती हैं, तो उसके आस-पास की भूमि हिलने लगती है। जब तक उद्गार होता रहता है तब तक धरती हिलती रहती है। जैसे-जैसे उद्गार का वेग कम होता जाता है वैसे-ही-वैसे भूकम्प का वेग भी घटता जाता है और उद्गार के शान्त हो जाने पर भूकम्प भी बिलकुल शान्त हो जाता है। ज्वालामुखी क्षेत्रो के भूकम्पो का आघात ज्वालामुखी के आस-पास तक ही सीमित रहता है। कितना ही भीषण भूकम्प क्यो न हो परन्तु उसका अनुभव अधिक-से-अधिक १००-१५० मील की दूरी तक ही होता है। बहुत ही थोड़े उदाहरण ऐसे मिलेंगे जब इनका प्रभाव हजारों मील तक पहुँचता हो। केवल १८८३ ई० में क्राकाटोआ द्वीप के विस्फोट के कारण जो भूकम्प आया था उससे अवश्य इतनी ऊँची लहर उठी थी कि उसका प्रभाव ८,००० मील दूर दक्षिणी अमेरिका के हार्न अन्तरीप तक पहुँच गया और वायु में इतना जबरदस्त आघात लगा कि १०० मील दूर बटाविया नगर के मकानों की खिड़कियों के काँच टूट गए।

(ख) भंग क्षेत्रों के भूकम्प—भूगर्भ मे होने वाली घटनाओं के कारण भूपृष्ठ की चट्टानों की स्थिति में अचानक परिवर्तन हो जाता है जिससे वे काँप उठती है और धरातल पर धक्के आते हैं। इस प्रकार चट्टानों के काँपने के तीन मुख्य कारण हैं—

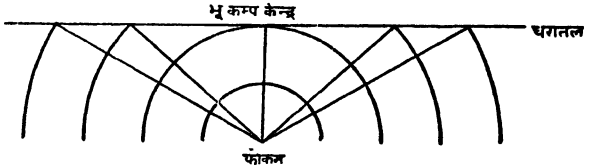
(१) जब भूपृष्ठ की चट्टानों पर तनाव या खिचाव पडता है, तो चट्टानें एक विशेष रेखा पर क्षितिजोत्तर या ऊपर-नीचे हटने लगती हैं। अधिक जोर पडने पर इसी रेखा पर चट्टाने एकदम टूट जाती हैं जिससे धक्का लगता है और कम्पन उत्पन्न हो जाता है। इन भूकम्पो की विशेषता यह है कि भूकम्प के प्रमुख धक्के के बाद भी बहुत समय तक अल्पकालिक धक्के आते रहते हैं क्योंकि टूट जाने के पीछे बहुत समय तक चट्टानें थरथराती रहती हैं।

(२) जब भूपृष्ठ की चट्टानों पर भिचाव पडता है, तो उनमें सिकुडन उत्पन्न होती है। सिकुड़ते समय नीचे की ओर झुकने वाले मोड़ की ऊपरी परत के दोनो सिरे आपस में सहसा टकरा जाते हैं अथवा परतों मे अव्यवस्था हो जाती है और धरातल तक धक्के आते हैं।

(३) चट्टानो की किसी दरार में होकर समुद्र का पानी भूगर्भ की अत्यन्त गरम चट्टानो तक पहुँच जाता है। वहाँ जल तुरन्त भाप में बदल जाता है, और बाहर आने के लिए छटपटाता है जिसके कारण भयंकर विस्फोट के साथ धरातल हिल उठता है।

इन भूकम्पों के कारण सैकड़ो मीलों तक धक्के लगते हैं और प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है। १९३४ ई० में उत्तरी बिहार के भूकम्प से हजारों वर्गमील भूमि में उथल-पुथल मच गई। मुंगेर, मुजफ्फरपुर, जमालपुर आदि स्थानो की विध्वंस लीला ने ऐसा दृश्य उपस्थित कर दिया मानो हवाई जहाजों ने बम गिराकर पृथ्वी को तोड-फोड़कर सर्वनाश मचाया हो। १५ अगस्त १९५० ई० के दिन आसाम के भूकम्प का ताण्डव-नृत्य आज भी हमारे दिलों को कँपा देता है।

(ग) पातालीय भूकम्प—वैज्ञानिको का कथन है कि भूगर्भ में ५० मील से ५०० मील तक की गहराई पर अदृश्य घटनाओं के कारण भूतल पर धक्के आते हैं। सभवतया सतुलन की क्रिया द्वारा यह

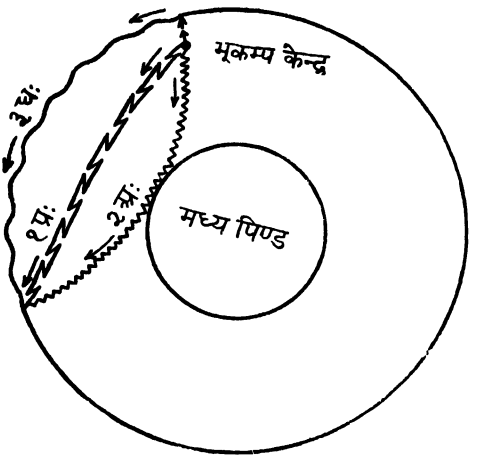


चित्र ३७.

आघात लगता हो। भूपटल पर चट्टानों की चूर निरन्तर स्थानान्तरित होती है, जिससे कालान्तर में भू-संतुलन बिगड़ जाता है। इसको ठीक रखने के लिए पर्याप्त गहराई पर लावा बहता है. जिससे भारी चट्टानों में हलचल होती है। फलतः धरातल पर हल्के धक्के आते है। इस प्रकार के भूकम्प पामीर पठार के समीपवर्ती हिन्दूकुश पर्वत पर आते हैं। यहाँ भूतल से २०० मील की गहराई पर कम्पन उत्पन्न होने का अनुमान किया गया है। इन भूकम्पों का प्रभाव भी बहुत दूर-दूर तक फैलता है, परन्तु भंग क्षेत्र के भूकम्प के समान प्रलयकारी नही होता। ४ मार्च १९४९ ई० को हिन्दूकुश के एक पातालीय भूकम्प से लाहौर के मकानों को हानि पहुँची थी।

११६. भूकम्प की लहरें—भूकम्प के प्रारम्भ होने के स्थान को फोकस (Seismic Focus) या कम्प-उत्पत्तिस्थान कहते हैं। पातालीय भूकम्पों का उत्पत्ति-स्थान ५० मील से ५०० मील तक की गहराई तक हो सकता है। भग क्षेत्रों के भूकम्प इतनी गहराई पर उत्पन्न नही होते। १२ जून १८९७ ई० को आसाम में १२ मील की गहराई पर ३५ फुट चौडी दरार बन जाने से अत्यन्त प्रचंड भूकम्प आया था, जिससे १७ लाख ५० हज़ार वर्गमील भूमि पर प्रलय मच गई थी। १५ जनवरी, १९३४ ई० के बिहार-भूकम्प और १५ अगस्त, १९५० ई० के आसाम-भूकम्प का उत्पत्तिस्थान (Focus) धरातल से बहुत कम गहराई पर स्थित था।

आघात के उत्पत्तिस्थान से चट्टानों का खिसकना तो बहुत कम होता है, परन्तु कम्पन लहरें तमाम दिशाओं को जाती हैं। उत्पत्तिस्थान के ठीक ऊपर धरातल पर जो स्थान होता है उसे भूकम्प-केन्द्र (Epicentre) कहते हैं। इस प्रकार उत्पत्तिस्थान से भूकम्प-केन्द्र की दूरी धरातल के अन्य स्थानों की दूरी से कम होती है। भूकम्प की लहरों का अधिक प्रभाव भूकम्प-केन्द्र पर पड़ता है, अतः उसके आस-पास के क्षेत्र में सबसे अधिक हानि होती है। उत्पत्तिस्थान से दो प्रकार की कम्पन लहरें चलती हैं—



चित्र ३८. भूकम्प की लहरें। १प्र—प्रधान लहरें, २प्र—आड़ी लहरें, ३ध—धरातल की लहरें

(क) उत्पत्तिस्थान से जाने वाली प्रधान या लम्बी लहरें (P waves)—इनमें अणुओं

का कम्पन लहरों की दिशा में होता है। उदाहरण के लिए यदि हम रबड़ के एक टुकड़े के दोनों किनारों को पकड़कर खीचें, तो रबड पर लम्बा खिचाव पड़ता है। प्रधान लहरों में भी इसी प्रकार का, लहर की लम्बाई की दिशा में, कंपन होता है। माध्यम का घनत्व जितना अधिक होगा, कम्पन की लहरों का वेग भी उतना ही अधिक होगा। पृथ्वी के मध्यपिंड में प्रधान लहरों की गति ५ से ९ मील प्रति सैकिंड तक होती है। एक प्रधान लहर पृथ्वी को भेदकर भूकम्प-केन्द्र के प्रतिध्रुव स्थान (Antipode) पर २१ मिनट में पहुँच जाती है।

(ख) **प्रधान लहरों से समकोण पर जाने वाली आड़ी लहरें** (Transverse waves)—यदि हम रबड़ के लम्बे टुकड़े को लम्बा खींचने की अपेक्षा उसको मरोड़ दें, तो लम्बाई के विपरीत दिशा में लहरें उत्पन्न होंगी। इसी प्रकार की लहरें पृथ्वी में भी उत्पन्न होती हैं। इन लहरों की गति प्रधान लम्बी लहरों क गति से कम होती है तथा ये लहरें द्रव पदार्थ में होकर नही जा पाती।

(ग) **धरातल की लहरें** (Surface waves)—उत्पत्ति-स्थान में भूकम्प-केन्द्र पर पहुँचकर लहरें वहाँ से पृथ्वी की बाहरी परिक्रमा और भीतरी यात्रा करने लग जाती हैं। इसी कारण इन लहरों का प्रभाव किसी स्थान पर दो बार होता दिखाई देता है। इनकी गति लगभग २ मील प्रति सैकिण्ड होती है। इनका प्रभाव धरातल से अधिक नहीं होता। अधिक गहराई पर जाकर ये लहरें शान्त हो जाती हैं। किसी तलाब में पत्थर फेंक देने से जिस प्रकार लहरें उत्पन्न होती हैं ये लहरें भी उसी प्रकार की होती हैं। परन्तु जन-धन की अपार हानि मुख्यतया इन्हीं लहरों से होती है। इनके द्वारा समुद्र में काफी ऊँची लहरें उठती हैं।

११७. **भूकम्प की नाप**—लहरों का वेग और स्थान नापने के लिए एक विशेष यन्त्र का उपयोग किया जाता है जिसे कम्पलेखक या सीस्मोग्राफ कहते हैं। इस यन्त्र का मुख्य भाग एक लटकता हुआ डण्डा या पेंडुलम है, जिसका ऊपरी सिरा एक स्तम्भ से बँधा रहता है और दूसरा लटकने के लिए खुला रहता है। जब भूकम्प नहीं होता, तो पेंडुलम द्वारा बेलन पर लिपटे एक कागज पर सीधी रेखाएँ खिचती हैं। परन्तु भूकम्प के समय कम्पन-वेग के अनुसार रेखाएँ कम या अधिक टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती हैं। जिस बेलन पर कागज लिपटा रहता है, उसका सम्बन्ध एक घड़ी से रहता है, और इस प्रकार रेखा का समय भी अंकित होता जाता है। इन कम्पन-चित्रों से भूकम्प की तीव्रता तथा कम्पलेखक के स्थान से कम्पस्थान की दूरी ज्ञात होती है, परन्तु उसकी दिशा नहीं मालूम होती। विभिन्न स्थानों के कम्पन-चित्रों की तुलना करके भूकम्प के उत्पत्तिस्थान तथा कम्प-केन्द्र का पता लगाया जाता है। भूकम्प की नाप-जोख करने

वाले अनेक यन्त्र धरातल के विभिन्न भागों में लगाये गये हैं । भारत में भी बम्बई, पूना, कलकत्ता, दिल्ली, देहरादून, हैदराबाद आदि स्थानो पर कम्पलेखक यन्त्र लगे हुए हैं ।

११८. धरातल पर भूकम्प-क्षेत्र—पृथ्वी के भूकम्प सम्बन्धी नक्शों के अध्ययन से पता चला है कि धरातल के कुछ विशेष भागो में भूकम्पो का प्रकोप विशेष रूप से होता है । इन नक्शो को देखने से ज्ञात होता है कि पृथ्वी के पर्वतों और समुद्र-तटो से भूकम्पो का विशेष सम्बन्ध है । धरातल पर भूकम्प-क्षेत्रों की दो संकीर्ण पट्टियाँ फैली हुई हैं । इनमें से एक पट्टी प्रशान्त महासागर को घेरे हुए है । भूकम्प-क्षेत्रो की यह पट्टी ज्वालामुखी पर्वतो की इन्ही भागों में फैली पट्टी की लगभग समस्थलीय है अर्थात् इसी क्षेत्र में ज्वालामुखी के उद्गार भी आते है और यही पर भूकम्प भी आते हैं । इनके लगभग एक ही क्षेत्र में होने से यह भ्रम हो सकता है कि ज्वालामुखी और भूकम्पों में परस्पर सम्बन्ध है । परन्तु दूसरी पट्टी को देखने से यह भ्रम दूर हो जाता है ।

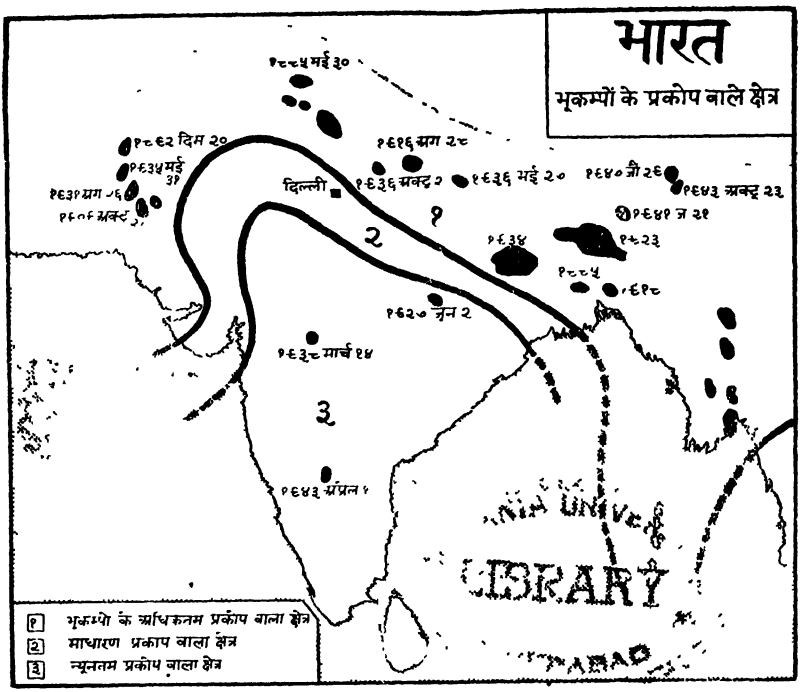
भूकम्प-क्षेत्रों की दूसरी पट्टी नवीनतम मोड़दार पर्वतों के सहारे-सहारे लगभग भूमध्यरेखा के समानान्तर चली गई है । इस पट्टी के बहुत से भाग ज्वालामुखी-क्षेत्रों से सहस्रों मील दूर स्थित हैं । भूमध्यसागर के क्षेत्र और हिमालय पर्वत इसी पट्टी में आते हैं ।

इटली, यूनान और जापान ऐसे देश हैं, जहाँ भूकम्प बहुत आया करते हैं । संसार में सबसे अधिक भूकम्प जापान में आते हैं । टोकियो नगर में हर तीसरे दिन भूकम्प आता है । इसीलिए वहाँ के लोगों ने भूकम्प का विशेष अध्ययन करके ऐसे मकान बनाये हैं जिन पर भूकम्प का कोई विशेष प्रभाव नही होता ।

जिन भूमिभागों का निर्माण बहुत प्राचीन काल में हो चुका है और इसीलिए जहाँ का भूभाग काफ़ी स्थिर हो चुका है, वहाँ पर भूकम्प का प्रभाव बहुत कम होता है । उदाहरण के लिए ब्राजील, यूरोपीय रूस, दक्षिणी भारत आदि ऐसे प्रदेश हैं जहाँ कभी भी कोई भीषण भूकम्प नही हुआ । फिर भी विश्व में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहाँ पर भूकम्प का कभी असर नही हुआ हो ।

११९. भूकम्पों से हानियाँ—इन भूकम्पों से भयंकर नर-सहार होता है, और लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है । हमारे देश में ही पिछले १५-१६ वर्षों में तीन भीषण भूकम्प बिहार, क्वेटा और आसाम में घटित हो चुके हैं, जिनकी महान् अनर्थकारी घटनाएँ हमारे स्मृति-पटल पर भली-भाँति अंकित हैं । १५ अगस्त, १९५० ई० का आसाम का भूकम्प तो बिल्कुल ताज़ी घटना है । भारत के तृतीय स्वतन्त्रता समारोह की खुशियाँ समाप्त भी न हो पाई थी कि भूकम्प की काली छाया

रात्रि के अन्धकार के साथ ही आसाम पर छा गई। समस्त संचार-साधनों के नष्टभ्रष्ट हो जाने से सम्पूर्ण संसार से इसका सम्बन्ध विच्छेद हो गया । डिब्रूगढ, लखीमपुर, सदिया आदि नगरों के सहस्रों ऊँचे-ऊँचे मकान धराशायी हो गए । स्थान-स्थान पर दरारें हो जाने से जनपथ अवरुद्ध हो गए और इन दरारों मे धरती काफी नीची धँस गई । न जाने कितने पेड़-पौधे, पशु-पक्षी और मनुष्य इन दरारों में समाधिस्थ हो गए। रेल की पटरियाँ विचित्र ढंग से टेढी-मेढ़ी हो गईं तथा टूट गई । मैदानो में भी लम्बी-चौड़ी दरारें बन गईं, जिनसे जल और बालू निकल-निकलकर धरातल पर फैल गया और उपजाऊ भूमि को ऊसर बना डाला। बालू के ढेर से धरती पर विचित्र ऊँचे-नीचे आकार बन गए और पानी में फैलकर आस-पास के क्षेत्र को बाढ़-ग्रस्त बना दिया।



चित्र ३९.

पहाड़ी भागों में हानि मैदानों से अधिक हुई । अभोर की पहाड़ियों से सहस्रों पाषाण-खंड टूटकर लुढ़क गये तथा आस-पास की पर्वत-शृंखलाओं के शिखर खंड-खंड होकर घाटियों में गिर गये । इन शिला-खंडों के कारण नदियों का जल-प्रवाह रुक

गया । ब्रह्मपुत्र की सहायक दिहांग नदी की घाटी भी इन पाषाण-खंडों से अवरुद्ध हो गई । तीन दिन तक इस नदी का जल-प्रवाह रुका रहा । चौथे दिन इस अस्थायी बाँध के टूट जाने से भयंकर बाढ़ आई, जिसके फलस्वरूप इतनी भीषण जन-धन हानि हुई, जितनी भूकम्प से भी नहीं हो पाई थी । ब्रह्मपुत्र नदी का जल भूगर्भ की बालू और जल से मिलने से इतना विषैला हो गया कि उसकी दुर्गन्ध से मछलियाँ भी मरने लगी ।

इस प्रकार भूकम्प मानवीय सभ्यता के सहस्रों वर्षों के आयोजन को क्षणभर में विध्वंस कर डालते हैं । भूमि की सुव्यवस्था में प्रकृति का चिर-अभीप्सित परिवर्तन कर देते हैं और असंख्यों जीवधारियों का प्राण हरण कर जीवन की क्षणिकता का पाठ पढ़ाया करते हैं ।

प्रश्न

1. Give an account of Volcanic activity under the following heads :—

   (a) Causes of Vulcanism,
   (b) Landforms associated with it, and
   (c) Distribution of Volcanoes.

   (*Agra B.A. 1952, 54; Ban. B.A., B.Sc. 1952*)

2. Describe the various types of landforms associated with volcanic landscape. Give examples from India.

   (*Agra M.A. 1950*)

3. Write short notes on—Lava, Geyser, Mud Volcano, Fissure eruption.

4. Account for the origin of earthquakes and also for the existing belts of their occurance in the world.

   (*Agra B.A. 1953, 1956*)

5. Write an essay on earthquakes with special reference to India.

   (*Lucknow M.Sc. Geol. 1950*)

6. Write short notes on :—
   Epicentre, Iso-seismal lines.

दसवाँ अध्याय

समतल स्थापक शक्तियाँ (१)

(Agents of Gradation)

१२०. शक्तियों का आदिस्रोत—भौगर्भिक शक्तियों द्वारा स्थलमण्डल के धरातल पर जो असमानता उत्पन्न होती है उसको समान बनाने का कार्य बाह्य शक्तियाँ निरन्तर करती रहती हैं। ज्योंही कोई भूमिभाग समुद्रतल से ऊपर उठता है, त्योंही ये शक्तियाँ उसकी काट-छाँट का कार्य प्रारम्भ कर देती हैं। इन शक्तियों का **आदिस्रोत सूर्य** है और प्रमुख सहायक **गुरुत्वाकर्षण शक्ति** है। पृथ्वी के चारों ओर जो वायुमण्डल का आवरण है वह सूर्य का दूत है। इसी वायुमण्डल की सहायता से सूर्य भूपटल का क्षयकार्य सम्पन्न करता है। हवाओं का चलना और ऋतुओं का परिवर्तन सूर्य पर ही निर्भर है। सूर्य की गर्मी से ही जल भाप बनकर वर्षा के रूप में बरसता है या हिम के रूप में गिरता है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से जल धरातल पर बहने लगता है अथवा पृथ्वी के भीतर समा जाता है। इसी के प्रभाव से हिमानी (Glaciers) बहती है तथा ऊँचे भागों पर कटे हुए पदार्थ नीचे आ गिरते हैं। इस प्रकार सूर्य को बाह्य शक्तियों का जनक कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। बाह्य शक्तियाँ निरन्तर धीरे-धीरे प्रतिदिन, प्रतिक्षण अपना कार्य करती रहती हैं। इन शक्तियो में बहता हुआ जल, हिम और वायु मुख्य है। पेड़-पौधे, जीव-जन्तु और मनुष्य इनके कार्य में काफी सहायता पहुँचाते है। इन शक्तियों को समतल-स्थापक शक्तियाँ कहते हैं। यह शक्तियाँ अनेक प्रकार से अपना कार्य करती हैं।

१२१. भेद—इन शक्तियों को दो मोटे विभागों में बाँट सकते हैं—(क) स्थैतिक प्रक्रियायें तथा (ख) गतिशील प्रक्रियायें। कुछ शक्तियाँ **अपने स्थान पर ही** कार्य करती हैं, अतः उन्हें स्थैतिक प्रक्रियायें कहते हैं। शिलाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक हटाने के लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले उन्हें तोड़-फोड़कर हटाये जाने के योग्य बना दिया जाय। स्थैतिक शक्तियाँ शिलाओं को हटाये जाने योग्य ही बनाती हैं। कुछ शक्तियाँ **गतिवान्** होती हैं, अतः वे टूटी हुई चट्टानों की चूर को उठाकर बहा ले जाती हैं और दूसरे स्थान पर जमा कर देती हैं। इन्हें गतिशील शक्तियाँ कहते हैं।

समतल-स्थापन की विभिन्न शक्तियाँ कभी भी शान्ति से नहीं रहती। आज जो शिलाखण्ड एक स्थान पर जमा कर दिये गए हैं, कल वे हटाये जा सकते हैं। इस

प्रकार समतल-स्थापन की कई अवस्थायें हो सकती हैं । इन विभिन्न अवस्थाओं के कारण धरातल पर अनेक प्रकार के स्थलरूप बनते रहते हैं । ये स्थलरूप थोड़ी-बहुत सीमा तक अस्थायी कहे जा सकते हैं । जलवायु इन परिवर्तनों पर बहुत प्रभाव डालती है ।

१२२. **मौसमी क्षरण या मौसमी प्रहार** (Weathering)—जिन प्रक्रियाओं द्वारा शिलायें अपने स्थान पर ही नष्ट-भ्रष्ट होती रहती हैं उन सबको मौसमी क्षरण कहते हैं । मौसमी क्षरण दो प्रकार से हो सकती है—(क) रसायनिक क्रिया द्वारा शिलाओं के अवयवों का क्षय होना या विबन्धन (Decomposition), तथा (ख) शिलाओं का टूट-फूटकर टुकड़े-टुकड़े होना या वियोजन (Disintegration) । प्रायः दोनों प्रकार की क्रियायें साथ-साथ होती रहती हैं ।

(क) **रसायनिक क्षरण** (Chemical Weathering)—ऑक्सीजन, कार्बन डाइऑक्साइड अथवा जल चट्टानों के अवयवों के साथ मिलकर उन चट्टानों में रसायनिक परिवर्तन कर देते हैं, जिससे चट्टानों का बन्धन ढीला हो जाता है और वे नष्ट होने लगती हैं । तापक्रम अथवा नमी के बढ़ जाने से इस प्रकार का परिवर्तन बड़ी शीघ्रता से होता है । इसी कारण गर्म और नम प्रदेशों में रसायनिक क्षरण सबसे अधिक होती है । इस क्रिया के कई भेद हैं—

(१) **आक्सिडेशन या जारण** (Oxidation)—इस प्रक्रिया में ऑक्सीजन शिला के दूसरे अवयवों के साथ मिल जाती है । इस प्रक्रिया का प्रभाव अधिकतर लोहे के खनिजो पर पड़ता है । वर्षा के समय लोहे के खनिज ऑक्सीजन से मिलकर ऑक्साइडों के रूप में बदल जाते हैं । इस परिवर्तन से चट्टान की बनावट में एक प्रकार का ढीलापन आ जाता है जिससे वे शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है । बरसात के दिनों में लोहे की चीज़ों पर मोरचा लगा हुआ सभी ने देखा होगा । यह मोरचा (जग) लोहे और ऑक्सीजन से मिलने से बनता है ।

(२) **कार्बोनेशन या प्रांगारीयण** (Carbonation)—पानी और कार्बन डाइऑक्साइड मिलकर हल्का कार्बोनिक अम्ल बन जाता है । यह अम्ल चट्टानों में बड़े-बड़े परिवर्तन कर डालता है । यह अम्ल चूनामिश्रित चट्टानों को बड़ी आसानी से घुला डालता है । वर्षा के जल से चूने का पत्थर नहीं घुलता, अतः इमारत बनाने में इसका खूब उपयोग किया जाता है । किन्तु भूमिगत जल (Ground Water) में कार्बोनिक अम्ल मिला रहता है, जिससे वह इन पत्थरो में बहुत ज्यादा परिवर्तन कर डालता है ।

(३) **हाइड्रेशन या जलीकरण** (Hydration)—चट्टानों के खनिजों के साथ पानी के मिलने से खनिजों का आयतन बढ़ जाता है । आयतन बढ़ने से चट्टान के भीतर इतना अधिक दबाव हो जाता है कि भीतर-ही-भीतर खनिज कण पिसकर चूर्ण बन जाते हैं । हाइड्रेशन के प्रभाव से चट्टानों के परत फूट की तरह खिल जाते हैं। जल के मिश्रण से चट्टानों में जो रसायनिक परिवर्तन होता है वह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है । जल की प्रतिक्रिया से सबसे अधिक प्रभाव फेल्स्पार खनिज पर पड़ता है। यह खनिज लगभग सभी चट्टानों में थोड़ा-बहुत मिश्रित रहता है । इस कारण हाइड्रेशन का प्रभाव भी अधिक मात्रा में होता है। जल के प्रभाव से फेल्स्पार क्योलिन मिट्टी में बदल जाता है । जबलपुर की पहाड़ियों में पाई जाने वाली क्योलिन का जन्म फेल्स्पार के विबन्धन से हुआ है । पानी और कैल्शियम सल्फेट के मिलने से हरसोठ धातु बनती है।

(४) **विलयन** (Solution)—चट्टानों के विभिन्न खनिजों का पानी में घुल जाना विलयन कहलाता है । वर्षा के जल में शैव-लवण (Rock Salt) घुलकर बह जाता है। पानी प्राय प्रत्येक खनिज को थोडा-बहुत घुला देता है । विलयन क्रिया द्वारा ही मिट्टी में से चूना घुलकर निकल जाता है, जिससे उसकी उर्वरा-शक्ति घट जाती है।

(ख) **शिलाचूर्णन या चट्टानों का टूटना** (Mechanical Weathering)— वियोजन (Disintegration) द्वारा चट्टानो के टूटकर टुकड़े हो जाते हैं, किन्तु उनमे कोई रसायनिक परिवर्तन नही होता । अत: इन प्रक्रियाओं को शिलाचूर्णन कहा जाता है। इन प्रक्रियाओ के प्रमुख भेद निम्नाकित हैं—

(१) पृथ्वी के भीतरी भाग में क्रियाशील रहने वाली शक्तियो के प्रभाव से धरातल पर तनाव अथवा दबाव उत्पन्न होता है जिससे शिलाओ में बहुत-सी सधें (Joints) या दरारे बन जाती है । इन सन्धियों मे होकर ऑक्सीजन, कार्बन डाइ-ऑक्साइड और पानी भूपटल मे काफी गहराई तक प्रवेश कर जाते है । अत: रसायनिक क्रिया भी बहुत गहराई तक होती रहती है।

(२) शिलाओं के छिद्रों में प्राय: वर्षा का जल भर जाता है । जब यह जल ठण्ड के कारण हिम के रूप में बदलता है, तो इसके आयतन में वृद्धि होती है। यह वृद्धि जल के आयतन का दसवाँ भाग होती है । आयतन के बढ़ने से चट्टान के संकुचित छिद्र अधिक चौडे हो जाते हैं। जब ये छेद पहले से अधिक चौड़े हो जाते है, तो उनमें और अधिक पानी समाने लगता है । यह क्रिया प्रति वर्ष जारी रहती है। और अन्त मे चट्टान चूर-चूर हो जाती है । इस क्रिया से बड़ी-बड़ी पहाड़ियाँ और चट्टाने खण्ड-खण्ड होकर इस प्रकार फैल जाती है मानो किसी ने हथौड़े से तोड़-तोड़

कर फैला दी हों । इस प्रकार की टूट-फूट का कार्य ठण्डे देशों और ऊँचे पहाड़ी भागों में अधिक तीव्रता से होता है ।

(३) दिन के समय सूर्य की गर्मी के प्रभाव से भूपटल की चट्टानों का तापक्रम बढ़ता है । तापक्रम की वृद्धि से चट्टानों का आयतन बढ़ता है और वे फैलती हैं । रात्रि के समय तापक्रम के घटने पर चट्टानें सिकुड़ने लगती हैं । इस प्रकार तापक्रम के दैनिक परिवर्तन से चट्टानों में निरन्तर खींचतान बनी रहती है जिससे उनमें दरारें पड़ जाती हैं । धीरे-धीरे ये दरारें बड़ी होने लगती हैं और अन्त में चट्टान टूट जाती है । जिन देशों में वर्ष में बहुत थोड़े दिन बादल घिरते हैं और गर्मी अधिक पड़ती है, वहाँ दिन और रात्रि के तापक्रम में बहुत अन्तर रहता है । ऐसी जलवायु वाले शुष्क मरुस्थलों में तापक्रम-भेद के कारण टूट-फूट बड़ी शीघ्रता से होती है ।

(४) कई बार चट्टानों के छिद्रों में पेड़-पौधे उग आते हैं । पौधे धीरे-धीरे बढ़ते हैं जिससे इनकी जड़ें चट्टानों में फैलने का प्रयत्न करती हैं । जड़ों के फैलने से कई बार बड़ी चट्टानें तक टूट जाती हैं ।

१२३. मौसमी क्षरण से मनुष्य को लाभ—

(१) मौसमी क्षति द्वारा शिलाओं के टूटने से कालान्तर में मिट्टी का निर्माण होता है । यही मिट्टी बहुत कुछ अंशों में मानव-जीवन का आधार है । मिट्टी के भेद समझ लेने पर उसके नीचे की चट्टानों की बनावट भी बहुत-कुछ मालूम हो सकती है ।

(२) इन क्रियाओं से बहुमूल्य धातुकण घुल-घुलकर धीरे-धीरे एकत्र होते रहते हैं जिन्हें हम सहज ही एक स्थान पर प्राप्त कर लेते हैं ।

(३) इन क्रियाओं से चट्टानें टूटकर एकत्र होती रहती हैं । इस चूर्ण को नदियाँ बहा ले जाती हैं और मैदानों में बिछा देती हैं, जिससे भूमि की उर्वरा-शक्ति बढ़ जाती है ।

१२४. गतिशील प्रक्रियायें—गतिशील शक्तियों के कार्यों को दो मुख्य भेदों में बाँटा जा सकता है । स्थैतिक शक्तियों द्वारा तोड़े हुए शिलाखण्डों को हटाना और उन्हें किसी दूसरी जगह पर जमा करना, इन कार्यों के मुख्य साधक भूमिगत जल, बहता पानी, हिमानी, लहरें और वायु हैं । इन साधकों (Agents) की कार्यविधि का समझ लेना जरूरी है ।

(क) क्षरणात्मक कार्य या घिसाव या अपक्षरण (Erosion)—चट्टानों के टूट-टूटकर इकट्ठे हुए टुकड़ों को गतिशील शक्तियाँ हटाकर दूसरे स्थान पर ले जाती हैं । ये चट्टानों के टुकड़े (शिलाखण्ड) हटते समय धरातल की चट्टानों से रगड़ खाते

हैं। इस रगड़ से चट्टानें और शिलाखण्ड दोनों ही घिस-घिसाकर नष्ट होते रहते हैं। इस प्रकार घर्षण द्वारा घिसकर क्षरण होने की क्रिया को अपरदन या घिसाव कहते हैं। हमें यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि शिलाखण्डों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाया जाना या परिवहन (Transportation) भी घिसाव की आवश्यक शर्त है क्योंकि इसके बिना शिलाखण्डों की धरातल की चट्टानों से रगड़ नहीं होगी और बिना रगड़ लगे घिसाव कैसे सम्भव होगा।

पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने या परिवहन (Transportation) के दो तरीके हैं—

(१) हटाने वाला साधक हटने वाली चीज को घुलाकर अदृश्य रूप से हटाये, जैसे पानी में नमक और चूना घुल-घुलकर बहते रहते हैं।

(२) हटाने वाली शक्ति हटने वाली चीज़ को अपने ज़ोर से ठेलकर हटाये, जैसे पानी में कंकड़-पत्थर और हवा में धूल-कण उड़ते रहते हैं।

इन दो विधियों के अतिरिक्त गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से भी शिलाखण्ड ऊँचे भागों से लुढ़ककर नीचे गिर जाते हैं।

शिलाखण्डों का जल्दी या देर से हटना भूमि के ढाल पर निर्भर होता है। प्रपाती ढालों (Steep Slopes) पर ज्योंही कोई शिलाखण्ड मूल शिला से अलग होता है, त्योंही वह गुरुत्वाकर्षण से लुढ़ककर नीचे गिर जाता है। परन्तु सपाट तल पर वर्षा काल में भी सारे शिलाखण्ड नही बह पाते और वही ढेर बढ़ता जाता है।

(ख) **रचनात्मक कार्य या निक्षेपण** (Deposition)—हटाये हुए शिलाखण्ड कहीं-न-कहीं जमा करने ही पड़ते हैं। ये शिलाखण्ड कभी समीप में ही जमा हो जाते हैं और कभी बहुत दूर जमा होते हैं। एक ही पदार्थ कई बार मार्ग में रुक जाता है और फिर उठाकर ले जाया जाता है। इस प्रकार की क्रिया डेल्टा में तब होती है। शिलाखण्डों के जमा होने से भूमितल ऊँचा उठ जाता है जिसे भूमि का उठाव (Aggradation) कहते हैं। यह क्रिया नीचे भूमिभागों को शिलाचूर्ण द्वारा पाटकर समतल बनाने के उद्देश्य से होती है। इसी क्रिया के द्वारा कई नवीन स्थलरूप बन जाया करते हैं। गतिशील शक्तियों के क्षय-कार्य और जमाव के कार्य का विस्तृत वर्णन नीचे दिया जाता है।

भूमिगत जल (Ground Water)

१२५. वर्षाजल का भूमि में प्रवेश—वर्षा द्वारा जितना पानी भूमि पर गिरता है उसका एक अंश भाप बनकर उड़ जाता है, कुछ बह जाता है और कुछ भाग भूमि में नीचे धँस जाता है। वर्षा जल का कितना अंश धरती में धँस जायगा यह बहुत

कुछ भेद्य या अभेद्य चट्टानों की न्यूनाधिकता पर निर्भर होगा। यदि धरातल के समीप अधिकतर भेद्य चट्टानें हैं, तो अधिक जल भीतर पहुँच जायगा। किन्तु यदि चट्टानें अभेद्य हैं, तो पानी उनमें होकर सरलता से न धँस सकेगा और बहुत ही थोड़ा पानी नीचे जाने पायेगा। यहाँ भेद्य और अभेद्य चट्टानों का भेद समझ लेना असंगत न होगा। छिद्रों के होने न होने से चट्टान की अभेद्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आग्नेय चट्टानों के रवे (स्फट) एक दूसरे से इस प्रकार गुँथे रहते है कि उनमें बिलकुल छिद्र (Pores) नही होते। किन्तु यदि किसी कारणवश उन चट्टानों में चटक खाने से सन्धिस्थान बन जाएँ, तो उन सन्धियो मे होकर पानी भीतर प्रवेश कर सकेगा। इसके विपरीत यदि परतदार चट्टानो में छिद्र इतने छोटे हों कि ऊपरी प्रवाह (Surface Tension) के कारण जल इनमें प्रवेश ही न करे, तो ये चट्टानें अभेद्य ही कहलायेंगी।

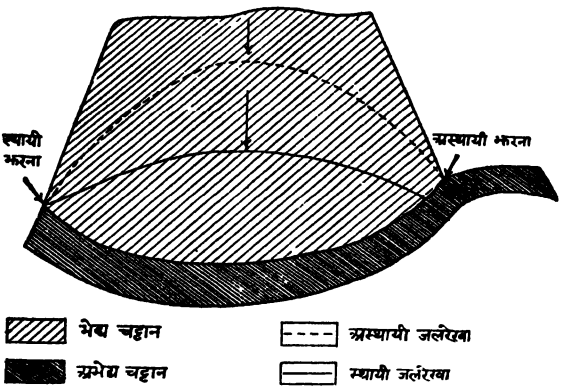
१२६. **जलपटल** (Water Table)—गुरुत्वाकर्षण के कारण भूमिगत जल, जहाँ तक हो सकता है, नीचे जाने का प्रयत्न करता है। किन्तु अभेद्य चट्टानों के आ जाने से अधिक नीचे नहीं जा सकता। धरातल के अधिकांश भाग मे भेद्य चट्टानों के नीचे अभेद्य चट्टानें बिछी हुई हैं। यदि कहीं न भी हों, तो भी भूमिगत जल की नीचे की ओर धँसने की एक सीमा है जिससे नीचे वह नहीं जा सकता। ऊपरी भारी दबाव के कारण अधिकांश चट्टानों की सँधें, दरारें और छेद कुछ सौ फुटो से अधिक गहराई पर नही रह सकते। अत भूमिगत जल भी इतनी ही गहराई तक मिलता है। अनेक स्थानो पर खानों की खुदाई मे २,५००—३,००० फुट की गहराई के बाद पानी का अस्तित्व नही मिला। अनुमान है कि ३,००० फुट से अधिक गहराई पर ऊपरी दबाव से सभी प्रकार के छेद बन्द हो जायेंगे। अधिक गहराई पर अनेकों अभेद्य चट्टानें तो बिलकुल सूखी रहती हैं। पानी के नीचे धँसने की सीमा के ऊपर कुछ ऊँचाई तक सछिद्र चट्टानो के छेदों तथा अन्य सभी चट्टानों की सँधों और दरारों में जल भर जाता है। जो चट्टानें इस प्रकार जल से ओत-प्रोत रहती हैं उन्हें सतृप्त (Saturated) चट्टानें कहते हैं। इन जलपूर्ण चट्टानों की ऊपरी सीमा को जलपटल (Water Table) कहते हैं। जलपटल से नीचे चट्टानों मे भरे हुए पानी को पाताल-जल कहते हैं।

१२७. **जलपटल की धरातल से गहराई**—यदि सभी चट्टानों में एक समान छेद और सँधें होतीं और इन सँधो में बराबर-बराबर पानी पहुँचता, तो जलपटल सभी स्थानों पर एक-सी निचाई तक होती। परन्तु वर्षा और पानी के नीचे धँसने के परिमाण में भिन्नता होने के कारण धरातल से जलपटल की गहराई अलग-अलग

स्थानों में अलग-अलग होती है। वर्षा का पानी अधिक परिमाण में उपलब्ध होने के कारण अधिक वर्षा वाले भागों में कम वर्षा वाले भागों की अपेक्षा जलपटल धरातल से कम गहराई पर मिलेगी। इसी प्रकार वर्षा ऋतु में अथवा नदियों या झीलों के पास भी पाताल जल की गहराई कम होगी। पानी का नीचे धँसना भूमि की बनावट तथा उसके ढाल पर निर्भर है। पहाड़ी भागों और प्रपाती ढालों पर भूमिगत जल अधिक गहराई पर मिलेगा। मैदानों में इस जल की गहराई कम होगी। भारत के उत्तर प्रदेश राज्य में थोड़ी-सी गहराई पर ही यह जल मिल जाता है।

कई बार चट्टानों की संरचना के अनुसार एक ही स्थान की विभिन्न गहराइयों पर बहुत-सी जलपटल बन जाती हैं। उदाहरण के लिए मान लीजिए किसी भूभाग के नीचे कंकर (Gravel) और कंकर के नीचे सूक्ष्म कण वाला बलुआ पत्थर बिछा है। कंकर में बहुत से छेद होते हैं। अतः उसमें होकर इतना अधिक पानी नीचे पहुँच जाता है कि वह सारा का सारा बलुआ पत्थर में प्रवेश नहीं कर पाता। फलतः बलुआ पत्थर आंशिक रूप से अभेद्य चट्टान का कार्य करता है और कुछ पानी कंकर में भरा रहता है। इसी प्रकार विभिन्न संरचना वाली चट्टानों के परत जहाँ-जहाँ मिलते होंगे, वहीं पर एक अस्थायी जलपटल का होना सम्भव है। इस तरह की जलपटल प्रायः अस्थिर और अनिश्चित रहती है।

१२८. पाताल जल या भूमिगत जल में गति—चट्टानों में पानी फँस सकने के गुण में अन्तर होने के अनुसार ही भूमिगत जल ऊँचे ढाल से नीचे ढाल की तरफ बहता है। मान लीजिए, नीचे ढाल की तरफ एक दिशा में ऐसी चट्टानें हैं जिनमें ऊपरी ढाल की चट्टानों से निकला हुआ सारा पानी प्रवेश नहीं कर सकता, तो इस दिशा को भूमिगत जल नहीं बह सकेगा। भूमिगत जल के बहने की यह विशेषता जलपटल को बहुत ही अनिश्चित बना देती है। जहाँ कहीं भी घाटियाँ या गड्ढे आ जाने के कारण पृथ्वी का धरातल जलपटल से (भूमिगत जल के तल से) नीचा हो जाता है, वहीं यह



चित्र ४०.

जल प्रकट हो जाता है और जितना पानी झरने द्वारा बह जाता है उतने ही अनुपात से इस जल का तल नीचे की ओर झुक जाता है। जल के तल के नीचे झुकने पर ही झरने में निरन्तर पानी आता रहता है क्योंकि इस पानी को बहते समय शिलाओं के प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। चट्टानों के छिद्रों और सँधों में होकर तथा शिलाओं से रगड़कर बहने के कारण भूमिगत जल का प्रवाह बहुत ही धीमा होता है। अतः झरने में निरन्तर जलप्रवाह बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि जलपटल चित्र ४० के अनुसार झरने के उद्गम पर नीचे को ओर झुकी हुई हो।

१२९. संतृप्ति का स्थायी तल (Permanent Level of Saturation)—धरातल से नीचे स्थित चट्टानों में ऊपर से रिस-रिस कर जल पहुँच जाता है और चट्टानों को संतृप्त (Saturated) कर देता है। भरे हुए जल की ऊपरी सीमा या (जलपटल) प्रायः ऊँची-नीची होती रहती है। इस प्रकार चट्टानों में संतृप्ति का तल बदला करता है या जलपटल ऊँची-नीची होती रहती है। जलटपल के ऊँचे-नीचे होने के कई कारण हैं, जैसे वर्षा ऋतु में जलपटल ऊँची हो जाती है और गर्मियों में नीची चली जाती है। चट्टानों में जिस सीमा से नीचे जल कभी नहीं उतरता उसे संतृप्ति का स्थायी तल कहा जाता है। इससे ऊपर जलपटल की अन्य सीमाओं को संतृप्ति का अस्थायी तल कहते हैं।

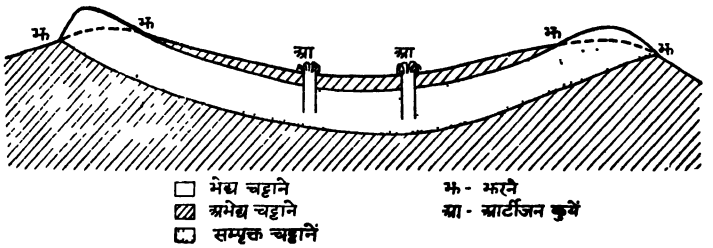
झरनों, कुओं आदि के समझने के लिए संतृप्ति का स्थायी एवं अस्थायी तल का समझना आवश्यक होता है क्योंकि इसी पर झरने आदि का निरन्तर बहना या न बहना निर्भर रहता है।

१३०. झरनें—जब यह जल बूँद-बूँद कर आता है तो इसे **जलस्रोत** कहते हैं। जब ऐसे स्रोतों का जल अधिक वेग से निकलता है, तो उसे **झरना** कहते हैं। झरने के जल की मात्रा यदि और भी अधिक होती है तो उसे **धारा** कहते हैं। मसूरी, देहरादून आदि पर्वतीय स्थानों पर ऐसे अनेक प्राकृतिक **जलस्रोत** मिलते हैं। निकले हुए जल की मात्रा की वृद्धि के अनुसार जलपटल का झुकाव भी अधिकाधिक होता जाता है।

१३१. कुएँ—जब हम कुआँ खोदते हैं, तो उस समय तक स्थायी पानी नहीं मिलता जब तक भूमिगत जल का तल नहीं आ जाता। ज्योंही जलपटल से नीचे वाली चट्टान में कुएँ का छेद पहुँचा, त्योंही चारों ओर की चट्टानों का जल उस छेद में आकर भर जाता है। कभी-कभी नीचे की ओर धँसता हुआ वर्षा का जल अभेद्य चट्टान के आने पर रुक जाता है अथवा नीचे की चट्टान में ऊपर का सारा पानी नहीं भिद सकता और भरा रह जाता है। इस जल का कुछ अधिक गहराई पर

स्थित भूमिगत जल या पाताल से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतः यदि इस चट्टान के ऊपर कुआँ खोदा जायगा तो पानी थोड़ी-सी गहराई पर ही मिल जाता है। किन्तु इसका जल थोड़े दिनों में ही सूख जाता है। इस चट्टान के आस पास कुएँ काफी गहरे होते हैं। कभी-कभी अभेद्य चट्टान इतनी बड़ी होती है कि जलपटल के बहुत नीचे तक इसका विस्तार होता है। ऐसी दशा में वहाँ कुआँ खोदने पर बहुत गहराई तक पानी नही मिलता।

१३२. आर्टीजन या पातालतोड़ कुएँ—जब कभी भेद्य चट्टान अभेद्य चट्टानों के बीच में स्थित होती है, तो भेद्य चट्टानों में जमा होने वाले पानी को बहने का कोई मार्ग नहीं मिलता। वर्षाकाल में जब इस चट्टान में काफी अधिक पानी एकत्रित हो जाता है, तो इसके सिरों के पास जलस्रोत बहने लगते है। इस चट्टान के ऊपर ढाल की गहराई के समीप अभेद्य चट्टान को खोदकर कुआँ बना दिया जाय, तो कुएँ



चित्र ४१.

के छेद में होकर पानी उछलकर बहने लगेगा। क्योकि भेद्य चट्टान के ऊँचे भागों में भरा हुआ पानी उस पर दबाव डालता रहेगा। इन कुओं को पातालतोड़ कुएँ कहते हैं। ऐसे कुएँ आस्ट्रेलिया में बहुत हैं। हिमालय की तलहटी में भी ऐसे कुएँ बनाए जा सकते हैं। इस प्रकार भूमिगत जल से ही हमें झरनों, कुओं और आर्टीजन कुओं में पानी मिलता है।

१३३. भूमिगत जल का अपक्षरण कार्य (Erosion)—भूमि के भीतर भूमिगत जल इतनी धीमी गति से बहता है कि वह चट्टानों को तोड़-फोड़ नहीं सकता। इसका मुख्य कार्य चट्टानों के खनिजों को घुलाकर बहा ले जाना है। चट्टानों को घुलाते-घुलाते यह जल इतना पोला कर देता है कि धरातल नीचे की ओर धँसक जाता है। भूमिगत जल के दो महत्त्वपूर्ण कार्य होते हैं—चट्टानो को घुला-घुकाकर नष्ट करना तथा घुले अंशों को दूसरे स्थानों पर जमा करना और नवीन चट्टान की रचना करना।

वर्षा के जल में भूमि के अन्दर प्रवेश करने पर अधातुओं (कार्बन, गंधक और नाइट्रोजन आदि) की कुछ ऑक्साइड मिल जाती हैं जिसमे एक प्रकार का अम्ल बन जाता है जो चट्टानों में बहुत परिवर्तन कर देता है। उदाहरण के लिए, भूमिगत जल में कार्बन डाइऑक्साइड गैस घुल जाने से हल्का-सा कार्बोनिक अम्ल बन जाता है। अम्लमिश्रित भूमिगत जल कैलशियम (चूना) और मैगनेशियम मिश्रित चट्टानों में से इन तत्त्वों को घुला डालता है। घुलन क्रिया का सबसे अधिक प्रभाव चूने की चट्टानों (चूने का पत्थर, खड़िया और सेलखरी) पर होता है। ये सभी चट्टानें कैलशियम कार्बोनेट से बनी हैं। धीरे-धीरे भूमि खोखली हो जाती है और धरातल के धँस जाने से कुण्ड या निगिर छिद्र (Sink holes) बन जाते हैं। यदि खोखले स्थान की छत की चट्टान सख्त और मोटी होती है, तो धरातल नीचे को नही धँसता बल्कि खोखले स्थान की लम्बाई-चौड़ाई बढ़ती जाती है और भीतर-ही-भीतर कन्दरायें बन जाती हैं। जिन स्थानों पर चूने की चट्टानो की बहुलता है, वहाँ सौ फुट से आठ-दस मील लम्बी और दो-तीन मील तक चौड़ी कन्दरायें पाई गई हैं। जब कभी इन कन्दराओं की छतें टूट जाती हैं, तो एक बहुत बड़ा गड्ढा बन जाता है। ऐसे स्थलरूप को कार्स्ट तलरूप (Karst Topography) कहते हैं।

कार्स्ट तलरूप में धीरे-धीरे अपक्षरण की वृद्धि होती है। अपक्षरण के विकास से निम्न भूदृश्य बन जाया करते है—

(१) **कुण्ड या डोलाइन या निगिर छिद्र** (Dolines)—कार्स्ट मैदानों में भूमिगत जल पहले चट्टानो की सँधो को चौड़ा कर देता है। इस प्रकार के चौड़े छेदों को निगिर छिद्र कहते हैं। निगिर छिद्र या डोलाइन दो तरह के होते हैं—रंभाकार (Cylindrical) और फनल जैसे (Funnel Shaped)। इन कुण्डों में नदियाँ लुप्त हो जाती हैं।

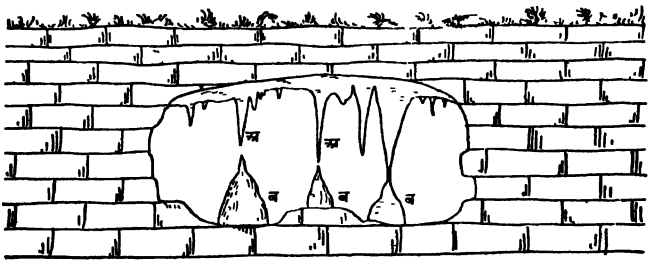
(२) **संकुण्ड** (Uvala)—जब परस्पर निकटवर्ती डोलाइन मिल जाते हैं तो एक बड़ा कुण्ड या सकुण्ड बन जाता है। संकुण्डों का व्यास एक मील तक पाया गया है। इन सकुण्डों में नदियाँ पूर्णतया लुप्त हो जाती हैं और धरातल की घाटियाँ सूख जाती हैं जिन्हे शुष्क घाटियाँ (Blind Valleys) कहते हैं।

(३) **राजकुण्ड** (Polje)—भूमिगत के घुलाव से संकुण्ड बहुत बड़े हो जाते हैं तो उन्हें राजकुण्ड कहते हैं। इन राजकुण्डो के बीच में कही-कहीं पर टीले जैसे ऊँचे स्थान रह जाते हैं जिन्हें चूर्णकूट (Hums) कहते हैं।

१३४. भूमिगत जल द्वारा जमाव या निक्षेपात्मक कार्य—जब पानी में खनिज तत्त्व बहुत अधिक घुल जाते हैं, तो उसमें इतनी शक्ति नहीं रहती कि घुले हुए पदार्थों

ं रूप से अपने में बनाए रक्खे। अतः यह जल घुले हुए तत्वों को जमा करने है। इसके दो मुख्य कारण है— (१) तापक्रम के बढ़ने पर कुछ जल भाप बन है, अथवा (२) तापक्रम के घटने पर पानी की घुलाने की शक्ति कम रह जाती न कारणों के अतिरिक्त कुछ कारण और भी हैं जैसे (१) कार्बन डाइऑक्साइड ा निकल जाना, (२) दबाव घट जाना, (३) कुछ चट्टानों पर जल की नेक प्रतिक्रिया होना अथवा कुछ अत्यन्त सूक्ष्म घास आदि (Algae) की या होना। इन कारणों से भी पानी को अपने अन्दर घुले हुए पदार्थों का कुछ मा करना पड़ता है।

कार्बोनिक अम्ल मिश्रित जल चट्टानों के चूना और मेगनेशियम को घुला ; जिससे कई प्रकार के बाइकार्बोनेट बन जाते हैं। इन बाइकार्बोनेटों से युक्त : जमाव से अनेकों विचित्र प्रकार के पिण्ड बन जाते हैं। धरातल से नीचे की ाता हुआ जल चट्टानों से रिस-रिसकर कन्दराओं की छत तक पहुँच जाता है छत से बूंद-बूंद करके टपकता है। जितनी देर बूंद छत से चिपकी हुई रहती है देर में पानी का कुछ अंश भाप बन जाता है, जिससे कुछ कार्बन डाइऑक्साइड भी निकल जाती है। फलतः पानी में घुला हुआ चूने का कुछ अंश छत पर ा रह जाता है। प्रत्येक बूंद कुछ-न-कुछ खनिज जमा करती है। इस क्रिया के ाल तक होते रहने के कारण कालान्तर में छत से लटकता हुआ चूने का ीय स्तम्भ बन जाता है जिसे **स्टेलेक्टाइट (आश्चुताश्म)** कहते हैं। टपककर



अ- स्टेलेक्टाइट या आश्चुताश्म
ब- स्टेलेग्माइट या निश्चुताश्म

चित्र ४२.

ोरी हुई बूंदों से भी इसी प्रकार कन्दरातल से ऊपर उठते हुए पिण्ड बन जाते हैं ो **स्टेलेग्माइट (निश्चुताश्म)** कहते हैं। ये पिण्ड कई रूपों के होते हैं। इनकी ता देखते ही बनती है। कभी-कभी छत से लटकने वाले और भूमि से ऊँचे

उठते हुए, दोनों पिण्ड, अधिक समीप आ जाने से जुड़ जाते हैं और एक **कन्दरा स्तम्भ** बन जाता है। न्यू मेक्सिको के कार्ल्सबाद नामक स्थान की कन्दराओं में भूमि से उठता हुआ एक पिण्ड ५० फुट ऊँचा है और उसका व्यास भूमि के समीप १५ फुट से भी अधिक है।

१३५. **प्रतिस्थापन** (Replacement)—कई बार भूमिगत जल बड़े विचित्र ढंग से खनिज जमा करता है। कुछ चट्टानो के खनिज भूमिगत जल में घुल जाने से जो स्थान खाली हो जाता है, वहाँ जल की प्रतिक्रिया से दूसरे खनिज जमा हो जाते हैं। एक खनिज का जितना भाग घुलता है उसके स्थान पर उतना ही दूसरा खनिज जमा हो जाता है। लोहे और चूने के खनिजों के स्थान पर बालू के कण जम जाते हैं। बालू की चट्टानों में चूना भर जाता है। इस क्रिया से धरातल के नीचे दबे हुए वृक्ष के तनों, हड्डियों और घोंघों आदि पर भी प्रभाव पड़ता है। तने आदि के एक-एक कण के स्थान पर बालू या चूने के कण जमा होते रहते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण तना पत्थर का बन जाता है परन्तु उसकी आकृति में कोई फर्क नहीं पड़ता। ऊपर की मोटी छाल भी वैसी की वैसी ही बनी रहती है। ऐसे वृक्ष को पाषाण वृक्ष (Petrified Tree) कहते हैं। इस प्रकार का परिवर्तन जिन हड्डियों या घोंघों में हो जाता है उन्हें पथराए हुए घोंघे या पथराई हुई हड्डी कहते हैं।

१३६. **भूमिगत जल के जमाव कार्य का आर्थिक महत्त्व**—उपर्युक्त प्रकार से खनिजों की अदला-बदली हमारे लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुई है। भूमिगत जल चट्टानों के भीतर से मूल्यवान् खनिजों को घुला-घुलाकर एकत्र करता रहता है और फिर उन्हें एक स्थान पर जमा कर देता है। चट्टानों की दरारों में बालू, चूना या लोहे के खनिज तो जमा होते ही हैं, परन्तु सोना, चाँदी आदि धातुएँ भी पाई जाती हैं। कभी-कभी खनिजों की अदला-बदली परतों में होती है। इस जल द्वारा बनने वाले नये खनिजों के परत एक के ऊपर दूसरे जमा हो जाते हैं। एगेट (Agate) नामक खनिज इसी प्रकार बनता है। बहुत से खनिज झरनों के साथ धरातलों पर आ जाते हैं और दबाव तथा गर्मी कम हो जाने से वहीं जमा हो जाते हैं जिसको हम बड़ी सरलता से प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न

1. Give a graphic account of the work of underground water with regard to erosion, transportation and deposition.
(*Agra B.A. 1947; 1951; Ajmer Inter 1952*)

2. Write an account of the behaviour of underground water and related phenomena in Dineric Karst.
(*Ban. M.A. & M.Sc. 1948*)

3. Write short notes on :—

Water table, Artesian wells, Springs, Petrification, Weathering.

4. Discuss the importance of weathering as an agent of gradation of land.

ग्यारहवाँ अध्याय

समतल-स्थापक शक्तियाँ (२)

प्रवाहित जल (Running Water)

१३७. नदी की उत्पत्ति—प्रारम्भ में जब कोई विशाल स्थलखण्ड सागरगर्भ से सिर निकालकर बाहर निकला होगा, उस समय तक संभवतया उस पर स्थलरूपों (Landforms) का अभाव रहा होगा। वर्षा होने पर कुछ जल पृथ्वी के भीतर समा जायगा और कुछ भाप बनकर हवा में मिल जायगा। जो जल धरातल के ऊपर बच रहेगा, उसे अतिरिक्त-जल (Surplus Water) कहा जायगा। यह अतिरिक्त-जल धरती के ऊपर बहने लगेगा। प्रारम्भ में यह जल छोटे-छोटे नालों के रूप में बहता है। धीरे-धीरे उसका बड़ा नाला बनता है। कई नाले मिलकर जलधारा बनती है और बहुत-सी जलधाराओं के मिलने से नदी बन जाती है। इस प्रकार स्थलखण्ड पर स्वाभाविक रूप से बहने वाली जलधारा और उसके मार्ग को नदी कहते हैं।

१३८. नदी की शक्ति और उसका कारण—नदी वर्षा के अतिरिक्त-जल को ऊँचे ढाल से नीचे के ढाल की ओर बहा ले जाती हैं। इस प्रकार गुरुत्वाकर्षण शक्ति ही जल के बहने का कारण है। बहने के कारण जल में शक्ति उत्पन्न होती है। इसी शक्ति के कारण जल में शिलाखण्ड बहते हैं और प्रवाह-प्रदेश में क्षरण-कार्य होता रहता है। भूमि के क्षरण तथा शिलाखण्डों को ढोने में बहता जल सब शक्तियों से अग्रणी है। सच तो यह है कि इस कार्य का अधिकांश भाग बहते जल के द्वारा ही सम्पन्न होता है।

१३९. नदी का कार्यक्षेत्र—ऊँचे ढाल से जितनी जलधाराएँ बहती हैं वे सभी स्वतन्त्र नदी का रूप नहीं धारण करतीं, किन्तु बहुत-सी धारायें किसी बड़ी धारा में जा मिलती हैं। इन छोटी-छोटी धाराओं को उपनदी या सहायक नदी कहते हैं। जितने भूभाग का अतिरिक्त-जल किसी नदी अथवा उसकी सहायक नदियों में बहकर आता है उस समस्त प्रदेश को उस नदी का प्रवाह-प्रदेश (Drainage Area) अथवा उसका बेसिन (River Basin) कहा जाता है। बहते जल का कार्य-क्षेत्र नदी के प्रवाह-प्रदेश में ही सीमित रहता है।

१४०. नदी के कार्य—बहता जल (अथवा नदी) अपनी प्रवाह-शक्ति से शिला-खण्डों को ढोता है। इस ढुलाई के कारण नदी दो प्रकार का काम करती है। प्रथम

तो नदी अपने ढोए हुए शिलाचूर्ण की सहायता से अपने प्रवाह के मार्ग को गहरा काटकर तलैटी (Channel) बनाती है और अपने दोनों किनारों को काटकर पाट को चौड़ा करती है। नदी के इस कार्य को घाटी बनाना कहते हैं। दूसरे, नदी अपने ढोए हुए पदार्थ को स्थान-स्थान पर जमा करके मैदान आदि अनेक स्थलरूपों की रचना करती है। नदी का यह कार्य उसका रचनात्मक कार्य है। चूंकि कई कारणों से प्रत्येक स्थान पर नदी के पानी की मात्रा और उसकी प्रवाह-गति में अन्तर होता रहता है, अतः उन्हीं के कारण स्थान-स्थान पर अनेकों प्रकार के विचित्र भू-दृश्य बन जाया करते हैं।

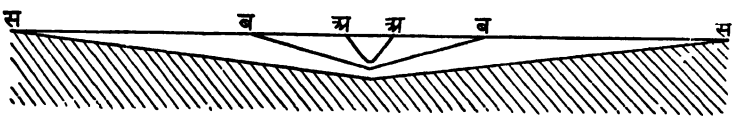
१४१. नदी का अपक्षरण या कटाव—बहते जल द्वारा चट्टानों का क्षरण कई प्रकार से होता है—

(१) मौसमी क्षरण (Weathering) के द्वारा चट्टानों के छोटे-बड़े अनेक रूप के टुकड़े हो जाते हैं। ये टुकड़े बहते पानी (नदी) की तेज धारा में पड़कर आपस में टकराते हैं और चूर-चूर हो जाते हैं। छोटे टुकड़े बड़े शिलाखण्डों के नीचे पिसकर चूर्ण हो जाते हैं और कुछ आपसी घर्षण से घिसघिसाकर नुकीले और पतली धार वाले बन जाते हैं। ये टुकड़े तली को काटने में बहुत सहायता देते हैं। धीरे-धीरे ये टुकड़े रोड़े और बजरी बन जाते हैं और अन्त में बालू के रूप में परिणित हो जाते हैं।

(२) पानी की घुलन-शक्ति अत्यन्त प्रभावशाली है। अधिक समय तक पानी में पड़े रहने पर सभी तत्त्व थोड़े या बहुत पानी में घुल ही जाते हैं। इस प्रकार नदी चट्टानों का कुछ-न-कुछ अंश घुलाकर बहाती रहती है।

(३) पैनी धार वाले रोड़े पानी में बहते समय मार्ग की चट्टानों से रगड़ खाते हुए जाते हैं जिससे धरातल की चट्टानें धीरे-धीरे घिसती रहती हैं और नदी की तलैटी गहरी होती जाती है। नदी के जल में मिले हुए सूक्ष्म रेत या बालू के कण किनारों को काटते व घिसते रहते हैं जिससे नदी का पाट चौड़ा होता जाता है।

१४२. घाटी निर्माण (Valley formation)—घाटी-निर्माण का कार्य तलैटी बनाने से प्रारम्भ होता है। शुरू में नाले का बहता जल अपने ढाल के सबसे



चित्र ४३.

निचले भाग के पास भूमि को गहरा काट देता है। यह कटान धीरे-धीरे ढाल के ऊपरी

भाग की ओर बढ़ती जाती है। यह कटान ज्यों-ज्यों ढाल के ऊपरी भाग की ओर बढ़ती जाती है, नीचे की ओर उसकी गहराई भी बढ़ती जाती है। इस प्रकार जल बहने के लिए एक लम्बी कटान बन जाती है जिसे वारिपथ या तलैटी (Channel) कहते हैं। निचले भाग में चारों ओर से वर्षा का जल बहकर आता है। अतः मुख्य कटान के दोनों किनारों पर छोटी-छोटी कटानें बनने लगती हैं और उनकी वृद्धि भी ऊपरी ढाल की ओर होती जाती है। इस प्रकार सहायक नदियों की तलैटी का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है।

नदी के अपक्षरण की मात्रा—नदी की क्षरण-शक्ति मुख्यतया उसमें बहने वाले जल की मात्रा, उसकी प्रवाह-गति तथा उसके ढोए हुए शिलाखण्डों के अनुसार होती है।

(क) **जल की मात्रा**—नदी के जल की मात्रा उसके उद्गम तथा उद्गम के आस-पास के प्रवाह-क्षेत्र में होने वाली वर्षा के ऊपर निर्भर होती है। हिमानियों (Glaciers) से निकलने वाली नदियाँ हिम के अधिक पिघलने पर अधिक जल प्राप्त कर लेती हैं। कहीं-कहीं भूमिगत जल भी नदी के जल की मात्रा को बढ़ा देता है। नदी में जल की मात्रा बढ़ने पर उसकी क्षरण-शक्ति ही नहीं बढ़ती, किन्तु उसकी प्रवाह-गति और उसके बोझ ढोने की शक्ति भी बढ़ जाती है। इसलिए क्षरण-कार्य में जल की मात्रा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(ख) **प्रवाह-गति**—नदी का बहाव जितना ही अधिक तेज होगा, नदी की क्षरण-शक्ति उतनी ही अधिक प्रबल होगी। बहाव की गति मुख्यतया जल की मात्रा, बहाव के ढाल तथा पाट की चौड़ाई पर निर्भर होती है। ढाल जितना ही अधिक प्रपाती (Steep) होगा, नदी उतनी ही अधिक तेज बहेगी। इसी तरह जिस नदी का पाट चौड़ा होता है, उसकी गति मन्द होती है और संकीर्ण पाट वाली नदी अपेक्षाकृत तेज बहती है।

(ग) **शिलाखण्ड**—स्वच्छ जल में काटने और घिसने की शक्ति नहीं के बराबर होती है। पानी मे बहने वाली चूरचार काटने और घिसने के कार्य में अपक्षरण के यंत्र की तरह काम करती है। स्पष्ट है कि नदी में जितनी अधिक चूरचार मिली होगी, कटाव (अपक्षरण) भी उतना ही अधिक होगा। परन्तु नदी भी अपरिमित मात्रा में चूरचार नहीं बहा सकती। प्रत्येक नदी का भार ढोने की एक निश्चित सीमा होती है। उस सीमा से अधिक भार ढोने में नदी असमर्थ होती है। जब नदी के भार

की मात्रा इस निश्चित सीमा से कम रहती है तभी नदी का अपक्षरण कार्य तेजी से होता है। उदाहरण से यह बात सरलता से समझ में आ जायेगी। मान लीजिए कोई नदी अपने साथ अधिक-से-अधिक ५०० टन भार बहा सकती है। यदि वह नदी ४०० टन भार बहा कर लाती है तो वह अपने मार्ग को काफी काटेगी। परन्तु यदि रास्ते में उसमें २०० टन भार और मिल जाता है तो नदी अपने भार को पटकना शुरू कर देगी और कटाव के स्थान पर जमाव ही अधिक होगा। मान लीजिए नदी में भार की मात्रा बहुत ही कम है, तब भी कटाव नहीं होगा। इस प्रकार कटाव की मात्रा चूरचार के अनुसार निम्न प्रकार होती है—

(१) जब नदी में भार नगण्य होता है तब नदी के काटने का कार्य भी नगण्य ही होता है।

(२) जब नदी में भार अधिक-से-अधिक होता है तब भी काटने का कार्य नगण्य ही रहता है क्योंकि कटाव के साथ जमाव भी चलता रहता है।

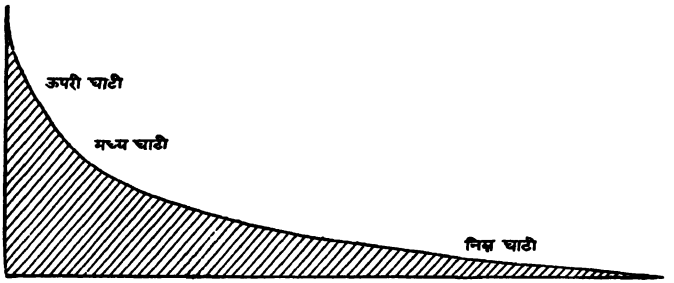
इन दोनों अवस्थाओं के बीच में कटाव होता है। अस्तु, नदी अपने साथ लाये हुए शिलाचूर्ण की सहायता से अपनी तलैटी को निरन्तर गहरा करती रहती है। नदी की प्रारम्भिक अवस्था में तलैटी को गहरा करने का कार्य बड़ी शीघ्रता से होता है क्योंकि सहायक धारायें थोड़ी होती हैं और बारीक मिट्टी या बजरी बहुत थोड़ी मात्रा मे बहकर आती है। ध्यान रहे कि बारीक मिट्टी किनारों को अधिक काट सकती है जब कि मोटे शिलाखण्ड तलैटी को गहरा करते हैं। यदि नदी की शरणक्रिया केवल तलैटी को ही गहरा करने में सीमित रहती है तो धीरे-धीरे बड़ी गहरी घाटियाँ बन जाती हैं जिनके पार्श्व (किनारे) एकदम सीधे ऊँचे बने रहते हैं। सामान्यतया घिसने और काटने की क्रिया तलैटी और कगारों (Sides) दोनों पर ही होती है। कगारों को काटने में मौसमी क्षरण निरन्तर सहायता करती रहती है। तलैटी और कगारों के कटने और घिसने से धारा का मार्ग गहरा तथा विस्तीर्ण हो जाता है जिसे नदी की घाटी (Valley) कहते हैं।

नदी अपनी तली को निरन्तर गहरी काटती रहती है। परन्तु इस गहराई की एक सीमा निश्चित है। यह सीमा नदी का आधार-तल (Base-level) होता है। किसी नदी की गहराई उसके मुहाने के तल से नीची नहीं हो सकती। नदी के मुहाने के तल को ही नदी का आधार-तल कहा जाता है। महासागरों का तल नदियों का

सबसे अधिक गहरा आधार-तल है। जो नदियाँ समुद्र में नहीं गिरतीं उनका आधार-तल समुद्रतल कैसे हो सकता है ? अस्तु, कुछ नदियों का अस्थायी आधार-तल भी होता है। जिन नदियों का संगम झीलों में होता है, उनका आधार-तल झीलों का तल ही रहता है। इसी प्रकार सहायक नदियों का आधार-तल उनकी मुख्य नदियों का तल रहता है।

ज्योंही कोई नदी अपनी तलैटी को काटते-काटते अपने आधार-तल तक पहुँच जाती है, त्योंही उसका घाटी को गहरा काटने का काम समाप्त हो जाता है, परन्तु उसकी चौड़ाई का विस्तार होता रहता है। घाटी को चौड़ा बनाने का अधिकांश काम मौसमी क्षरण द्वारा सम्पन्न होता है। मौसमी क्षरण द्वारा घाटी की दीवारें जल्दी नष्ट होती हैं।

१४३. घाटी के भाग—उद्गम से मुहाने तक नदी के तीन भाग किए जाते हैं : (१) ऊपरी घाटी, (२) मध्य घाटी, और (३) निम्न घाटी।



चित्र ४४.

(१) **ऊपरी घाटी या पर्वतीय भाग**—नदी का यह भाग स्थलखण्ड के पहाड़ी भाग में स्थित होता है। पहाड़ी भागों में भूमि अधिक ऊबड़-खाबड़ होती है और ढाल अधिक ऊँचा-नीचा रहता है। इसी कारण इस भाग में नदी की चाल काफी तेज रहती है और नदी अपनी तलैटी को गहरा करती रहती है। नदी का बहाव टेढ़े मेढ़े मार्ग में होकर जाता है तथा झीलों और प्रपातों की बहुलता रहती है। जब कभी घाटी के पार्श्व से टूटकर कोई भारी शिला नदी के जल का बहाव रोक देती है, तो वहाँ पर एक बड़ी झील बन जाती है। कुछ काल बाद मौसमी क्षरण आदि शक्तियों के प्रभाव से जब यह भारी शिला टूट जाती है तो नदी में बड़े ज़ोर की बाढ़ आ जाती है।

(२) **मध्य घाटी या मैदानी भाग**—पहाड़ी स्थानों के टेढ़े-मेढ़े, सँकरे और ऊँचे-नीचे मार्ग को छोड़कर जब नदी मैदान में प्रवेश करती है, तो उसकी चाल भी धीमी पड़ जाती है, घाटी के इस भाग में नदी का क्षरण-कार्य एवं उसका रचनात्मक कार्य

समान रूप से होता रहता है। छोटे-छोटे रोडे तली में बहते हुए तलैटी को गहरा काटते जाते हैं और नदी की बारीक मिट्टी किनारों पर छूटती जाती है जिससे जमाव का कार्य शुरू हो जाता है।

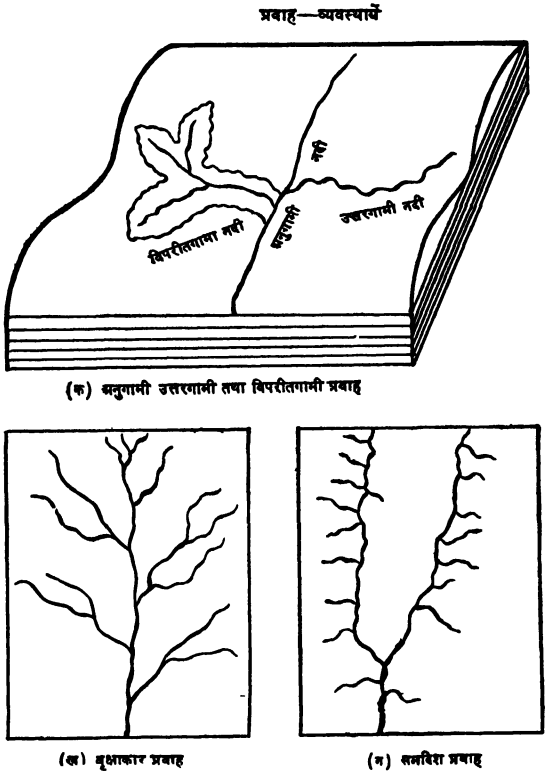
(३) **निम्न घाटी या डेल्टा भाग**—अपनी घाटी के इस भाग में नदी की चाल अत्यन्त धीमी होती है क्योंकि यहाँ पर भूमि का ढाल बहुत धीमा होता है। निम्न घाटी में बहते हुए नदी में अनेक घुमाव बनते हैं और नदी का रचनात्मक कार्य प्रारम्भ हो जाता है। इस भाग में नदी अपनी तली को गहरा नहीं कर पाती, किन्तु अपने किनारों को काटकर अपना मार्ग टेढ़ा मेढ़ा करती रहती है। जमाव के कारण अनेक प्रकार के दृश्य बन जाते हैं।

प्रवाह-प्रणाली या नदी-प्रणाली

(Drainage System or River System)

१४४. प्रारम्भिक प्रणालियाँ—नदियों की जो तलैटियाँ प्रारम्भ में बनती हैं उनमें कई बार परिवर्तन होता रहता है। प्रारम्भ में नदी को जिधर ढाल मिलता है उसी तरफ को वह निकलती है क्योंकि उसकी चेष्टा यथाशीघ्र निचले प्रदेश में पहुँचने की रहती है।

(१) **अनुगामी प्रवाह**—कभी-कभी प्रारम्भ में नदी को ऊंचे भागों पर थोड़े से भाग में भी मीलों का चक्कर काटना पड़ता है और तब कहीं उस प्रदेश से बाहर निकल पाती है। इस प्रकार प्रथम अवस्था में नदी उस मार्ग से बहती है



चित्र ४५.

जो उसके प्रवाह-प्रदेश के ढाल के अनुसार बनेगा। ऐसी नदियों को **ढाल के अनुरूप बहने वाली नदियाँ या अनुगामी नदियाँ** (Consequent streams) कहते हैं।

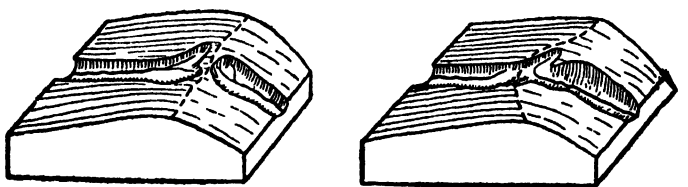
(२) **उत्तरगामी प्रवाह**—ढाल के अनुरूप बहने वाली मुख्य नदी के दोनों ओर दिशाओं से मिलने वाली सहायक नदियों को **ढाल के अनुरूप उप-धारायें** (Subsequent streams) कहते हैं। इनका नाम उत्तरगामी इसलिए पड़ा कि ये अनुगामी नदियों के बाद अस्तित्व में आईं।

(३) **प्रतिगामी प्रवाह**—उत्तरगामी धाराओं के दोनों किनारों पर भी अनेक जल धाराएँ आकर मिलती हैं। इन जलधाराओं का मार्ग मुख्य नदी के मार्ग की दिशा में अथवा उसके बिलकुल विपरीत दिशा में होता है। इन जल धाराओं को **प्रतिगामी धारायें** (Obsequent streams) कहते हैं।

१४५. विशेष परिवर्तन—उपर्युक्त तीनों प्रकार की धारायें प्रारम्भ में ढाल के अनुसार अस्थायी मार्ग बना लेती हैं। परन्तु बाद में घाटी निर्माण करते समय नदियों को अपना मार्ग बदलना पड़ता है। यह परिवर्तन कई प्रकार के विभिन्न कारणों से होता है—

(१) यदि नदी का मार्ग प्रारम्भ में अत्यन्त टेढ़ा-मेढ़ा है और उस घुमाव से एक ओर के किनारे को काटकर नदी सरलतापूर्वक सीधा मार्ग ग्रहण कर सकती है तो कुछ समय बाद नदी अधिक सीधा मार्ग अपना लेती है।

(२) मार्ग निश्चित होने के बाद नदी के किसी भाग के नीचे अत्यन्त सख्त चट्टान मिलती है जिसको वह नदी आसानी से नहीं काट सकती, परन्तु समीपस्थ भाग में चट्टान कमज़ोर है जिसका काटना आसान है। ऐसी अवस्था में नदी कमज़ोर चट्टान को काटना शुरू कर देगी और धीरे-धीरे नदी के मार्ग में परिवर्तन हो जायगा।



चित्र ४६.

(३) नदियों के घाटी बनाने के विचित्र दृश्य पहाड़ी भागों में देखने को मिलते हैं। कई बार एक नदी की सहायक नदी इतनी शीघ्रता से घाटी बनाती है कि दूसरी नदी की सहायक नदी का पानी हड़प लेती है। यह अत्यन्त विचित्र करिश्मा

सका कारण यह है कि जिस सहायक नदी में पानी अधिक होता है, ढाल अधिक होता है अथवा मुख्य नदी का तल अधिक नीचा होता है, तो सहायक नदी बड़ी ा से अपने उद्गम की ओर घाटी निर्माण करती जाती है। काटते-काटते यह क नदी किसी दूसरी नदी की सहायक नदी के पास तक पहुँच जाती है। चूंकि ; शीघ्रता से काटने वाली नदी की घाटी गहरी होती है, इसलिए दूसरी सहायक ा सारा पानी इसी सहायक नदी में बहने लगता है, और दूसरी की घाटी सूखी ह जाती है। इस करिश्मे को नदी का जीवनयापन के लिए **पानी हड़प लेना ही प्रगहण** (River capture) कहते हैं।

(४) कई बार दो नदियाँ अपने उद्गम की ओर काटते-काटते अपने बीच त को काटकर समाप्त कर देती है और दोनों नदियाँ मिल जाती है।

परिवर्तित प्रणालियाँ

(४) **पूर्वगामी प्रवाह** (Antecedent Drainage)—कई बार प्रवाह णाली के स्थापित होने के बाद उस क्षेत्र में भूमि भाग ऊँचा उठने लगता है। यदि भूमि के ऊँचे उठने की गति नदी की तलैटी को गहरा करने की गति से भी ; धीमी होगी, तो उस प्रदेश की प्रवाह-प्रणाली पर कोई भी प्रभाव नही पड़ेगा यहाँ की प्रवाह-प्रणाली पहले की तरह रहेगी और उस नदी की घाटी गहरी होती ो। कहा जाता है कि सिन्धु नदी का प्रवाह भी इसी प्रकार का है। नदी की बन जाने के बाद हिमालय पर्वत ऊँचे उठने लगे। परन्तु उनके ऊँचे उठने की इतनी धीमी थी कि सिन्धु नदी अपनी घाटी को गहरी करती रही और उसकी -प्रणाली पूर्ववत बनी रही। कुछ विद्वानों का मत है कि तिस्ता नदी और त्र नदी भी इसी प्रकार अपनी पहली घाटी में बहती रही है। इस प्रकार के प्रवाह र्वगामी प्रवाह (Antecedent Drainage) कहा जाता है।

(५) **अध्यारोपित प्रवाह** (Super Imposed Drainage)—पूर्वगामी की भाँति ही अध्यारोपित प्रवाह में नदी का प्रवाह उसकी तलैटी की चट्टानों रचना के अनुसार नही होता। मान लीजिए कोई नदी अपने प्रवाह-प्रदेश में की चट्टानों की संरचना के अनुसार अपना स्थायी मार्ग बना चुकी है। धीरे-धीरे ी अपनी घाटी का ऊपरी स्ट्रेटा घिसघिसाकर बहा डाला। इसके पश्चात् तली रे प्रकार की चट्टानें ऊपर हो गयीं। इन चट्टानों की संरचना बिलकुल भिन्न दि घाटी बनने के प्रारम्भ में इस प्रकार की चट्टानें धरातल पर ऊपर ही बिछी तो नदी इनसे हटकर ही बहती। परन्तु स्थायी घाटी बन जाने पर अब नदी भी काटने लगती है। इस प्रकार का प्रवाह अध्यारोपित प्रवाह कहा जाता है

क्योंकि इन चट्टानों के ऊपर आने से पहले जो भी प्रवाह-प्रणाली बन गयी थी वही इन चट्टानो पर भी आरोपित हो गई। अध्यारोपित प्रवाह और पूर्वगामी प्रवाह में यह अन्तर है कि एक तो पूर्वगामी प्रवाह में नदी को एक ही प्रकार की संरचना वाली चट्टानों को काटना होता है जबकि अध्यारोपित प्रवाहित प्रवाह में चट्टानों की संरचना पहले की चट्टानों से भिन्न होती है। दूसरे, पूर्वगामी प्रवाह में नदी को भूमि के ऊँचे उठते हुए भाग को काटना होता है जिससे घाटियाँ गहरी होती जाती हैं और नदी एक संकीर्ण गहरी घाटी में होकर बहती है। इसके विपरीत अध्यारोपित प्रवाह में नदी स्वाभाविक रूप से अपनी घाटी बना रही होती है। चट्टानों की किस्म बदल जाने पर उनमें भँवर, प्रपात आदि बन सकते हैं और पाट भी तंग हो सकता है।

(६) **अक्रमगामी प्रवाह**—प्रवाह-प्रदेश की चट्टानों की बनावट के अनुसार नदियों के विचित्र रूप बन जाया करते हैं। जिन स्थलखण्डों की चट्टानो की बनावट एक ही प्रकार की है वहाँ नदियो की कटान सर्वत्र एक-सी होगी और मार्ग में परिवर्तन नही होगा। इस प्रकार के स्थल भाग मे मुख्य नदी और उसकी सहायक नदियों का प्रसार वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं के समान (Dendric) होगा। इस प्रवाह को अक्रम-गामी प्रवाह (Insequent Drainage) कहते है।

(७) **समदिश प्रवाह**– जिन भागों मे चट्टानों की बनावट एक-सी नही होती, वहाँ नदियाँ कमज़ोर भाग को काट देंगी और सख्त भाग ऊपर उठ जायगा। इन सख्त भागो के कारण दो नदियाँ और उनकी सहायक धारायें अलग-अलग बँट जायेंगी। इन नदियो की घाटियाँ लगभग समानान्तर और सीधी (Trellic) होगी।

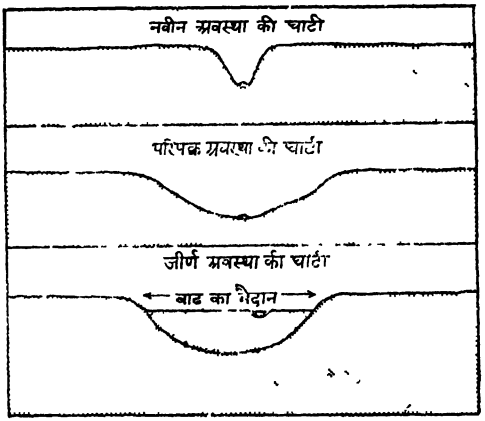
(८) **अरीय प्रवाह**—जब भूमि की रचना गुम्बद के तरह (Domelike) होती है तो उस पर वृत्त के व्यासार्ध की तरह चारो दिशाओं मे बहने वाली नदियाँ बन जाती हैं जिन्हें अरीय प्रवाह (Radial Drainage) कहते है।

(९) **अन्तःस्थलीय प्रवाह** (Inland Drainage)—जब किसी देश की नदियाँ समुद्र तक नही पहुँच पाती, किन्तु झील या दलदल मे गिर जातीं है तो उन्हें अन्तःस्थल नदियाँ कहते है।

(१०) **भूमिगत नदियाँ** (Underground Drainage)—चूने के पत्थर आदि में नदियाँ धरातल के ऊपर नहीं बहती किन्तु पृथ्वी के अन्दर प्रवेश कर जाती है, उन्हें भूमिगत नदियाँ कहते है।

१४६. नदियों का घाटी चक्र (River Valley Cycle)—क्षरणकार्य की मात्रा के अनुसार कई विद्वानों ने नदियों की कई अवस्थाये मानी हैं। नदियों की अवस्था का चक्र प्रस्तुत करने वाला वैज्ञानिक डेविस नामक एक अमेरिकन था। नदियों की अवस्था साधारण वर्षों के अनुसार नहीं नापी जाती। अधिकांश नदियाँ

मनुष्य की स्मृति के पूर्व ही जन्म ले चुकी थी। अतः नदियों की कार्य-प्रणाली के आधार पर ही उनकी अवस्था निश्चित की जाती है। इसी आधार पर इनकी तीन अवस्थाएँ निश्चित की गयी हैं—(१) नवीन अवस्था, (२) परिपक्व अवस्था, और (३) जीर्ण अवस्था।



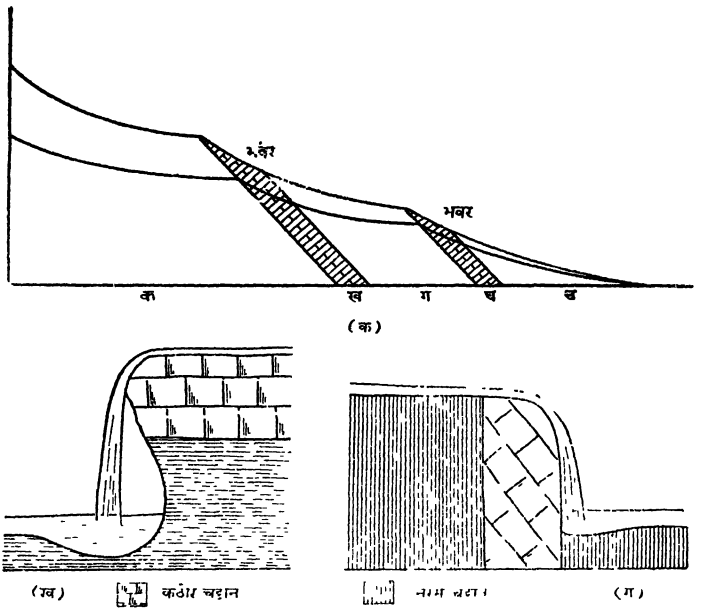
चित्र ४७. घाटी चक्र

१४७ नवीन अवस्था की नदियाँ और उनकी घाटियाँ—नवीन अवस्था की नदियों में चार मुख्य विशेषताएँ होती हैं—गहरी घाटियाँ, जलप्रपातो का बाहुल्य, झीलें और अविकसित जल-विभाजक।

ज्योंही कोई भूभाग जल-मण्डल से निकलकर ऊपर आता है, त्योंही उस पर नवीन अवस्था की नदियो का आक्रमण होता है। नई भूमि का ढाल अधिक प्रपाती (Steep) होता है, फलतः नदी की प्रवाह गति तेज होती है और तलैटी गहरी कटती जाती है। धारा के बीच में पानी की मात्रा और गति अधिक रहती है। इसीलिए किनारों की अपेक्षा बीच में तलैटी अधिक गहरी कट जाती है। किनारों की चट्टानों को मौसमी क्षरण और वर्षा का जल काटते रहते है, जिससे घाटी चौडी होने लगती है। इस प्रकार कटते रहने से घाटी की आकृति अंग्रेज़ी के अक्षर V के समान हो जाती है। जिन भागों में चट्टानें नरम होंगी, वहाँ पर V काफी चौड़ी और विस्तृत होगी; परन्तु जहाँ चट्टानें कठोर होंगी, वहाँ पर V गहरी और संकीर्ण होगी। मैदानी भागों में घाटी विस्तृत होती है, परन्तु पहाड़ी और पठारी भागो में कहीं-कहीं सैकड़ों फुट गहरी घाटी देखी गई है। यदि किसी पठारी भाग में धरातल पर चट्टानें आड़ी (Horizontal) बिछी हुई हैं और वहाँ वर्षा कम होती है, तो उस स्थान पर बहने वाली नदी की घाटी बहुत गहरी होगी। ऐसी गहरी घाटियों को केनयान (Canyon) कहते हैं। उत्तरी अमेरिका की कोलोरेडो नदी की गहरी घाटियाँ (Canyons) जगत्प्रसिद्ध हैं। कोलोरेडो की ग्राण्ड केनयान घाटी २०० मील से भी अधिक लम्बी है। इसकी चौड़ाई ५ से १२ मील तक तथा गहराई लगभग ६,००० फुट है। भारत में कृष्णा नदी ने बम्बई राज्य में महाबलेश्वर के पास लगभग २,०००

फुट गहरी केनयान घाटी बनाई है। अबीसीनिया देश में भी केनयान घाटियाँ पाई जाती हैं।

यदि नवीन नदी की तली में एक-सी चट्टानें बिछी हुई है तो घाटी एक-सी बनेगी। परन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता है। कहीं पर चट्टानें कठोर है और कहीं पर



चित्र ४८. भँवर और जलप्रपात

नरम। नरम भाग तो जल्दी कट जाते है, परन्तु कठोर के कटने मे अधिक समय लगता है। फलस्वरूप नदी के मार्ग में प्रपात (Waterfalls) बन जाते है। धरातल पर चट्टाने जिस क्रम से संयुक्त हो जाती है, उसी के आधार पर भँवर (Rapid) या प्रपात का बनना या न बनना निर्भर होता है। उदाहरण के लिए चित्र ४८ 'क' में कठोर और नरम चट्टाने एक दूसरी के बराबर बिछी हुई है। इस प्रकार की चट्टानों मे भँवर बनेगे। परन्तु यदि चित्र 'ख' में दिए हुए क्रम के अनुसार कठोर चट्टान धरातल के समानान्तर बिछी हुई कई चट्टानों के ऊपर स्थित है, तो बहाव के कारण नीचे की चट्टाने तो कट जायेंगी और कठोर चट्टान आगे निकली रहेगी, जिससे जलप्रपात बन जायगा। बहुत समय बाद कठोर चट्टान का कुछ भाग टूटकर गिर जायगा और जलप्रपात पीछे को हटने लगेगा। न्यागरा का प्रपात इसी प्रकार प्रतिवर्ष

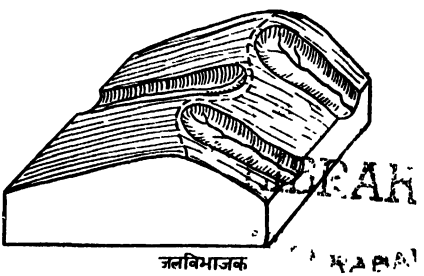
तीन फुट पीछे अर्थात् उद्गम की ओर हटता रहा है और अपने मूलस्थान लैविस्टन से ७ मील पीछे हट चुका है। प्रपात के पीछे हटने से घाटी की गहराई बढती जाती है।

चित्र ४८ 'ग' में चट्टानें एक दूसरे के अगल-बगल में धरातल पर लम्बाकार बिछी हुई है। ऐसी अवस्था में नरम चट्टानें कट जाती है, परन्तु कठोर चट्टानें काफी समय तक खडी रहती है। ऐसे प्रपात दीर्घकाल तक स्थायी-से बने रहते है।

हमारे भारत में नर्मदा, सोना, तमसा, केन, धसान और बेतवा नदियों के जल से सिचित विन्ध्य-प्रदेश जलप्रपातों का क्रीडाप्रांगण है। रीवाँ से १६६ मील दूर अमरकंटक में नर्मदा नदी 'कपिलधारा' नामक सुन्दर जलप्रपात है। इस प्रपात का जल १०० फुट की ऊँचाई से गिरता है। गर्मियों में इसका जल अत्यन्त शीतल रहता है। इस प्रपात की सुन्दरता से मुग्ध होकर भारत के सुप्रसिद्ध मनीषी, कपिल मुनि, ने महाभारत काल में अपना आश्रम बनाया था। इससे थोडी दूर पर नर्मदा नदी दूसरा दर्शनीय प्रपात बनाती है। यहाँ पर स्फटिक सदृश्य चट्टानों पर गिरने वाली जलराशि दूध की तरह दिखाई देती है। इसीलिए इसका नाम 'दुग्धधारा' प्रपात है।

रीवाँ से ३० मील दूर पर बीहर नदी ३७२ फुट की ऊँचाई से गिरकर 'चचाई' प्रपात बनाती है। रीवाँ से २३ मील पर महाना नदी ३३३ फुट की ऊँचाई से गिरकर 'केवटी' प्रपात बनाती है। इसी प्रकार यहाँ पर अनेक प्रपात है जो बहुत सुन्दर है।

पर्वतीय प्रदेशो में तथा स्थल के ऊँचे भागों में सबसे ऊँची वक्ररेखा को, जिसके दोनों तरफ दो अलग-अलग नदियों के प्रवाह-क्षेत्र हों **जल-विभाजक** (Divide) कहते है। नवीन नदियों के अलग जल-विभाजक नही बन पाते है क्योंकि स्थल पर कटान बहुत ही कम हो पाती है।



चित्र ४९.

१४८. मध्य अवस्था (Mature Stage) **की नदियाँ और उनकी घाटियाँ**—जब नदी अपनी तलैटी को काटने-काटते अपनी निश्चित् सीमा तक गहरा कर देती है, तो वह अपने आधारतल तक पहुँची हुई समझी जाती है। आधारतल तक पहुँचने पर नदी की मध्य अवस्था (Mature Stage) प्रारम्भ होती है। इस अवस्था की मुख्य विशेषता यह है कि नदी के काटने के ढंग में परिवर्तन हो जाता है। नदी अब तलैटी को गहरा काटने के स्थान पर घाटी चौड़ी करने लगती है। आधारतल पर पहुँचने के

कारण नदी का ढाल क्रमिक (Gradual) हो जाता है और ढाल के कम हो धारा की प्रवाह-गति मन्द हो जाती है। प्रवाह-गति मन्द हो जाने पर नदी व ढोने की शक्ति घट जाती है। धारा की प्रवाह-गति और बोझा ढोने की छठे घात (Sixth Power) का अनुपात है। इस नियम के अनुसार यदि प्रवाह-गति दूनी हो जाय, तो उसकी बोझा ढोने की शक्ति (२)^{६} २×२×२×२×२×२=६४ गुनी हो जायगी। इसी प्रकार यदि गति आ जाय तो नदी अपने भार को तुरन्त पटक देगी। जिस स्थान पर नदी अपन जमा कर देती है वहाँ पर पानी की गति रुकती है और नदी के मार्ग में मं लगता है। धीरे-धीरे नदी का मार्ग हंसिए के समान वक्राकार बनता जाता के मार्ग में प्रवाह-मोड़ (Meanders) पड़ जाने से घाटी में विचित्र दृश्य बन घुमाव के कारण नदी अपने तट की एक ओर अधिक घिसाई करती है। इ जब तट के एक ओर चट्टानों की जड तेजी से कट जाती है तो ऊपर का जाता है और तट पीछे की ओर हटने लगता है। मौसमी क्षरण इस कार्य सहायता पहुँचाता है। इस प्रकार अब घाटी की चौडाई में वृद्धि होने ल ज्यों-ज्यों किनारे की कटान में वृद्धि होने लगती है त्यों-त्यों नदी की सहायक भी बढने लगती हैं। सहायक नदियाँ भी अपनी घाटी को विस्तृत करने जिसमे दो धाराओं के बीच का विस्तृत ऊँचा भाग कम होता जाता है। काल केवल कुछ कठोर चट्टाने ऊँची पहाडियों के रूप में खड़ी रह जाती हैं। इस दो नदियों के प्रवाह प्रदेशों के बीच मे भी पहाड़ियाँ-सी खड़ी रह जाती है विभाजक (Divide) का काम करती है। इस अवस्था में नदी की कटान के प्रकार के स्थलरूप बन जाते है। कही पहाड़ियाँ बन जाती हैं और कहीं मैदान।

१४६. **जीर्णावस्था** (Old Stage) **की नदियाँ और उनकी घाटिय** अवस्था में नदियाँ और उनकी सहायक धाराएँ अपने अन्तिम तल तक पहुँच ज पानी की गति और अधिक मन्द हो जाती है जिससे उसमें बहा ले जाने व बिलकुल कम हो जाती है। बोझा ढोने का कार्य केवल नदी की ऊपरी घाटी रहता है। यह बोझा नदी अपनी मध्य घाटी में जमा करती रहती है। नदी व कार्य भी क्षीण हो जाता है। इस समय धाराओं के बीच की ऊँची भूमि मौसमी क्षरण से कटती रहती है। कटान की अन्तिम अवस्था में समस्त प्रव कट-कटकर लगभग समतल मैदान बन जाता है जिसे नदी द्वारा निर्मित मैदा

जब नदी घाटी को काट-काटकर अत्यन्त विस्तीर्ण और समतल मैदान बना चुकती है, तो वह इस मैदान में पतली गहरी धारा के रूप में धीरे-धीरे बहती है और ऐसी नदी को पुरानी नदी कहते हैं। जीर्णावस्था में मध्य अवस्था की नदी की भाँति इठलाते हुए इधर-उधर भटककर बहना समाप्त हो जाता है और पुरानी नदी अपने निश्चित मार्ग से ही बहती है। नई और पुरानी नदियों की अवस्था वर्षों के अनुसार नहीं नापी जा सकती। केवल उनकी कार्य-प्रणाली के आधार पर ही उनको नई या पुरानी संज्ञा दी जाती है।

१५०. नदी का पुनर्युवीकरण (Rejuvenation)—जीर्णावस्था में नदी अनन्त काल तक रह सकती है परन्तु धरातल की किसी उथल-पुथल के कारण प्रदेश के तनिक भी ऊँचा या नीचा हो जाने से अथवा जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण उद्गम स्थल में अधिक वर्षा होने पर नदी में जल की अधिक मात्रा हो जाने से नदी की अवस्था में परिवर्तन हो जाता है और वह पुनः अपना कार्य प्रारम्भ कर देती है। इस अवस्था को नदी में पुनर्योवन का संचार कहते हैं।

नदी के उत्तल (River Terraces)—जब नदी में पुनर्योवन का संचार हो जाता है तो वह नदी अपनी तलैटी को गहरा काटती है। फल यह होता है कि पुनर्योवन प्राप्त होने से पहले नदी के बाढ के मैदान नदी की वर्तमान तलैटी से काफी ऊँचे हो जाते हैं और वे नदी के दोनों तरफ मंच की तरह मालूम पडते हैं। इस प्रकार के ऊँचे तलों को हम नदी के उत्तल कहते हैं।

कालान्तर में नदी फिर अपनी तलैटी को गहरा काटना छोड़ देती है क्योंकि वह पुनः जीर्ण अवस्था को पहुँच जाती है। इस समय नवीन बाढ़ के मैदान बन जाते हैं। नदी के पुराने उत्तल और नवीन बाढ़ के मैदानों के धरातल से काफी ऊँचे होते हैं।

प्रवर्धित प्रवाहमोड़ (Incised Meanders)—यदि किसी ऐसी नदी को पुनर्योवन प्राप्त होता है जिसके बाढ़ के मैदान में घुमावदार प्रवाह या प्रवाहमोड़ (Meanders) हो, तो नदी पुनर्योवन प्राप्त करके मोड़ों को अधिक गहरे कर देती है। इस प्रकार प्रवाह मोड़ों की वक्र आकृति पहले की तरह बनी रहती है परन्तु वह घिसकर काफी गहरी हो जाती है। ऐसे गहरे प्रवाहमोड़ों को प्रवर्धित प्रवाहमोड़ कहते हैं।

नदी का रचनात्मक कार्य—नदी अपने साथ जो तलछट (Sediment) बहाकर लाती है उसको अपनी घाटी में बिछा देती है। उससे अनेक प्रकार के भूदृश्य बन जाया करते हैं।

१५१. पर्वत-प्रान्ती मैदान—पर्वतीय अंचल को छोड़कर ज्योंही नदी ए कदम रखती है त्योंही उसका ढाल बदल जाता है। धीमे ढाल पर बहने से नदी गति भी धीमी हो जाती है और उसे अपने साथ ढोकर लाये हुए शिलाचूर्ण सँभालना कठिन हो जाता है। पहले बडे आकार के शिलाखण्ड नदी की तली में जाते हैं। इनकी अधिक मात्रा होने पर नदी का बहाव रुक जाता है और नदी धाराओं में फैल जाती है। बहाव के रुकने वाले स्थान पर बारीक मिट्टी भी ज होने लगती है और नदी की धाराएँ एक त्रिभुजाकार आकृति में फैलती है जिस शीर्ष पर्वत-प्रान्ती भाग में होता है। धीरे-धीरे कॉप (Alluvium) जमा होने लग है जिससे पंखे के आकार का मैदान बन जाता है। इस प्रकार के मैदानों को भाव भावर कहते हैं। कुछ लोग इन्हे शंकु डेल्टा (Cone Delta) या (Alluvial fa भी कहते है।

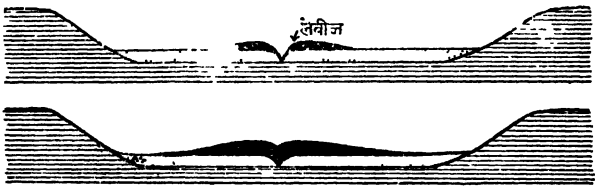
१५२. बाढ़ के मैदान (Flood Plains)—आगे चलकर नदी की ग बहुत धीमी हो जाती है। नदी की घाटी की चौड़ाई बढ़ जाती है। जब कभी न में बाढ़ आती है, तो नदी का पाट दूर-दूर तक फैल जाता है। मुख्य धार को छोड अन्य स्थानों पर बहाव की गति धीमी होती है अतः नदी की तलछट सभी ज जमती रहती है। प्रत्येक बाढ के अवसर पर नदी की घाटी ऊँची होती जाती है। इस प्रकार जो मैदान बन जाता है उसे बाढ़ निर्मित मैदान कहते है। मैदानो में नदी के दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे चौरस चबूतरे से बन जाते हैं। इन ऊँचे चौ चबूतरों का छोर बहुत ढालू होता है। इन्हे कॉप के ऊँचे मैदान (Alluvial Terrac कहा जाता है।



चित्र ५०.

१५३ लेवीज़ या पूरतट (Levees)—हम जानते हैं कि नदी का ब तली के पास और दोनो पार्श्वो पर अपेक्षाकृत धीमा रहता है क्योकि भूमि की र के कारण बहाव में रुकावट पैदा हो जाती है। जो नदियाँ बहुत-सी मिट्टी बहा ल हैं, उनकी मिट्टी तली और पार्श्वो पर जमने लगती है। जमाव नदी की निम्न घ में अधिक होता है। धीरे-धीरे नदी की तली ऊँची होती जाती है और अन्त में की तली आस-पास के भूभाग से ऊँची हो जाती है। नदी के पानी को रोकने के लि केवल उसके ऊँचे उठे हुए कगार ही रह जाते हैं। इन ऊँचे उठे हुए कगारों को लेव

की निम्न घाटियों में देखे जा सकते हैं। ये कगार नदी की लाई हुई मुलायम मिट्टी से बने होते हैं, अतः नदी में बाढ़ आने पर पानी के दबाव से टूट जाया करते हैं। इनके टूट जाने पर नदी का पानी सारे मैदान में फैल जाता है और धन-जन की अपार हानि होती है। चीन की ह्वाँगहो नदी में अनेकों बार बाढें आई हैं, अतः इस नदी को 'चीन का शोक' कहा जाता था। मिसीसिपी नदी की ऐसी बाढों को रोकने के लिए लेवीज (उन्नत कगारों) को सीमेन्ट के बाँध बनाकर दृढ कर दिया गया। परन्तु फिर भी नदी कई बार इन मजबूत बाँधों को तोडकर चारों ओर फैल गई। अतः मिसीसिपी की सहायक नदियों पर बाँध बनाकर उनका पानी मिसीसिपी में जाने से रोका गया और तब कही जाकर इन बाढ़ो का जोर कम हुआ है। इसी प्रकार भारत मे हुगली नदी की बाढ को रोकने के लिए दामोदर घाटी योजना कार्यान्वित की जा रही है।



चित्र ५१.

१५४. **डेल्टा**—डेल्टाओ का विस्तृत वर्णन हम मैदानों में करेंगे। यहाँ पर हम केवल डेल्टा बनने के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालेंगे।

डेल्टा बनने के कई कारण है—

(क) नदी का उद्गम किसी ऊँचे पर्वतीय प्रदेश में हो, जिसमे वह अपने क्षरण कार्य में शीघ्रता करे और अपने साथ काफी चूरचार बहाकर लाए। यदि नदी की बहुत-सी ऐसी सहायक नदियाँ है जो पर्याप्त मात्रा में चूरचार वहाकर लाती है, तो डेल्टा बनने में बडी शीघ्रता होती है।

(ख) नदी के मुहाने पर ज्वार की कोई प्रभावशील लहरें न पहुँच पाती हो। ज्वार की प्रभावशील लहरें डेल्टा-निर्माण के कार्य में कठिनाई उपस्थित कर देती है।

(ग) नदी के मार्ग में बहुत बडी झीले न आती हों। यदि नदी के मार्ग में झीलें होगी, तो नदी की ढोकर लाई हुई चूरचार झील की तली में ही जमा होती रहेगी और डेल्टा-निर्माण कठिन हो जायगा।

(घ) नदी की निम्न घाटी का विस्तार काफी बड़ा हो ताकि समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते नदी का बहाव बिलकुल ही धीमा हो जाय और नदी

की तलछट को उसके मुहाने के पास ही इकट्ठा होने का अवसर रहे। यदि निम्न घाटी में नदी का बहाव तेज होगा, तो नदी अपनी तलछट को ठोकर समुद्र में पटक देगी।

प्रश्न

1. Describe the chief characteristics of the three stages in the life-history of a river and the land forms associated with it.
(*Agra B.A. 1953*)

2. How are waterfalls formed ? Describe the process taking the Niagra falls as the example.
(*Allahabad B.A. 1948*)

3. Write short notes on :—
River capture, Delta formation, Meandering, Grade level of a river, Incised meanders, Recession of waterfall, Alluvial fan, River Terraces.

4. Write notes on :—
Super-imposed Drainage, Antecedent Drainage, Radial Drainage, Obsequent Streams.

बारहवाँ अध्याय

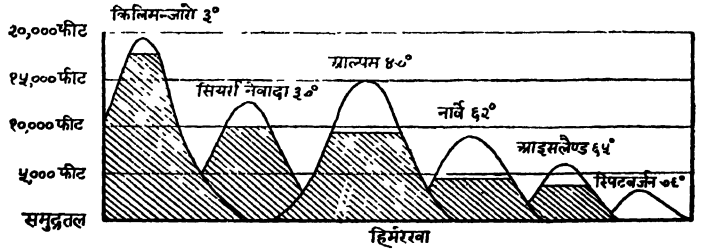
समतल-स्थापक शक्तियाँ (३)

हिम

१५५ तुषार वर्षा (Snowfall)—पृथ्वी के धरातल पर परिवर्तन करने वाली शक्तियों में जल का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है। जल के वायव्य, द्रव और स्थूल तीनों ही रूप महान् परिवर्तनकारी हैं। प्रथम दो रूपों के कार्य का विचार किया जा चुका है। अब उसके **स्थूल रूप पर विचार करेंगे।**

जलवायु के अधिक ठण्डे होने पर जलवृष्टि के स्थान पर हिमपात (Snowfall) होने लगता है। उष्णकटिबन्ध मे तो एक विशेष ऊँचाई से ऊपर ही तुषारवृष्टि होती है। शीतोष्ण कटिबन्ध मे मैदानो और घाटियो में भी तुषारवृष्टि होती है, परन्तु वह गर्मी में पिघलकर बह जाती है। लेकिन शीत कटिबन्ध में जो तुषारपात होता है वह सब का सब पिघल नही पाता। अतः इकट्ठा होने लगता है। अतु, अधिक ऊँचाई वाले भागो में और ऊँचे अक्षांशो में इतनी तुषारवृष्टि होती है कि गर्मी में सबकी सब पिघल नही पाती। जिन स्थानो पर इतनी अधिक हिमवृष्टि होती है कि गर्मी की ऋतु में पिघल जाने के बाद भी हिम प्रचुर परिमाण में शेष रह जाती है, वे स्थान सदैव ही हिमाच्छादित रहते हैं। इस प्रकार हिम से निरन्तर ढके रहने वाले प्रदेशों को **हिमक्षेत्र कहते हैं।**

१५६. हिमरेखा (Snowline) —जिन-जिन स्थानों से ऊपर की ओर निरन्तर हिमक्षेत्र बना रहता है यदि उन-उन स्थानों को किसी कल्पित रेखा से मिला दिया



चित्र ५२.

जाय, तो उस रेखा को हिमरेखा कहेंगे। दूसरे शब्दों में स्थल के किसी भाग की **सब से** कम ऊँचाई, जहाँ पर सदैव बर्फ जमी रहती हो, हिमरेखा कहलायेगी।

हिमरेखा की ऊँचाई अक्षांश, तुषार-पात की मात्रा, हवाओं की दिशा और भूमि की प्राकृतिक दशा पर निर्भर होती है।

(क) ज्यों-ज्यों हम भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर जायेंगे, त्यों-त्यों समुद्रतल से हिमरेखा की ऊँचाई कम होती जायगी। भूमध्यरेखा के ऊपर एण्डीज पर्वतों पर हिमरेखा की ऊँचाई १८,००० फुट है। कुछ उत्तर की ओर राकी पर्वतों पर ११,००० फुट है और ग्रीनलैण्ड में केवल २,००० फुट ही है।

(ख) यदि किसी स्थान पर इतनी कम हिम गिरती है कि सबकी सब पिघल सकती है, तो वहाँ हिमरेखा ऊँची होगी। परन्तु अधिक हिमपात होने पर हिमरेखा नीची होगी।

(ग) यदि कोई स्थान शुष्क हवाओं के मार्ग में पड़ता है, तो उस स्थान पर बर्फ जल्दी पिघलने लगेगी अतः हिमरेखा ऊँची होगी। परन्तु तर हवाओं के मार्ग मे पडने वाले स्थानों पर नीची होगी।

(घ) यदि हिमपात प्रपाती (Steep) ढालों पर होगा, तो वहाँ से फिसलकर हिम घाटी में पहुँच जायेगी और हिमरेखा ऊँची होगी। धीर ढाल (Gentle slope) पर हिमरेखा नीची होगी।

१५७. तुषार (Snow) से हिम में परिवर्तन—तुषार-पात के समय रूई के गालों के समान हल्का और फूला तुषार धरती को ढक लेता है। परन्तु कई बार तुषार गिरने से उसकी मोटाई अधिक हो जाती है, तो वह अपने ही भार से दबने लगता है। सूर्य की गर्मी से ऊपरी भाग का कुछ तुषार पिघलकर जल बन जाता है और तुषार के परतों में होकर नीचे की ओर बहता है, परन्तु बीच ही में ठण्ड से जम जाता है। जमते हुए जल की बूँदें तुषार को अधिक घना बना देती है। उधर तुषार का भार भी बढता जाता है जिससे निचला परत घना होकर हिम का पिण्ड बन जाता है। धीरे-धीरे हिम के परत मोटे होते जाते है और हिम के परत हिमशिलाओं का रूप धारण कर लेते हैं, हिमशिलाओ में हिम के जमे हुए परत स्पष्ट दीख पड़ते है। किसी-किसी परत में धूल-मिट्टी भी दिखाई देती है जिससे ज्ञात होता है कि दो तुषार-वृष्टियों के बीच में इतना अन्तर पड गया है कि धूल-मिट्टी को हिम परतों पर जमने का समय मिल गया है।

१५८. हिमानी (Glacier)—हिमक्षेत्र में तुषारवर्षा होते-होते हिमशिलाओं का भार इतना अधिक हो जाता है कि उनका स्थिर रहना असंभव हो जाता है। ऐसी दशा में तनिक भी अधिक भार बढ़ने पर हिमशिलाएँ गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से

नीचे ढाल की ओर खिसकने लगती है। नीचे की ओर खिसकते हुए हिमपिण्ड को हिमानी या ग्लेशियर कहते हैं। हमें यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि हिमानी हिमक्षेत्र का विस्तार मात्र है। जिस प्रकार जीभ को मुँह से बाहर निकाल देने पर भी उसका सम्बन्ध शरीर मे बना रहता है, उसी प्रकार हिमानी को भी हिमक्षेत्र का आगे बढ़ा हुआ भाग ही समझना चाहिए। जीभ को कम या अधिक बाहर निकालने की शक्ति जिस प्रकार शरीर में ही निहित है, उसी प्रकार हिमानी की आगे बढने की सीमा मुख्यतः हिमक्षेत्र में होने वाली तुषारवृष्टि पर निर्भर होती है। यदि मार्ग में नष्ट होने वाली हिम की मात्रा से अधिक हिम हिमक्षेत्र से आती रहती है तो हिमानी काफी दूर तक बढ़ती चली जाती है।

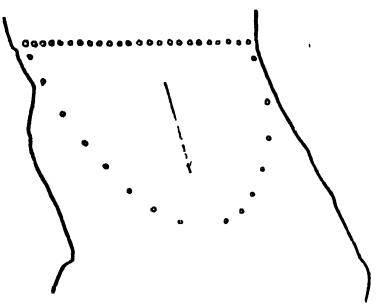
हिमानी की उत्पत्ति विस्तृत हिमक्षेत्र में होती है, अतः वहाँ यह बहुत चौड़ी होती है और उसकी प्रवाह-गति भी धीमी होती है। परन्तु धीरे-धीरे उसको सँकरी घाटियों में होकर बहना पड़ता है, अत. ज्यों-ज्यों हिमानी आगे बढ़ता है त्यों-त्यों उसको भी सकीर्ण होना पड़ता है। इन घाटियो मे इसकी चाल भी कुछ तेज हो जाती है। फिर भी इसकी प्रवाह-गति इतनी धीमी होती है कि बहुत दिनों तक लोग इसको स्थिर समझने की भूल करते रहे। हिमानी दो प्रकार की होती है—(क) महाद्वीपीय हिमानी और (ख) पर्वतीय हिमानी।

१५९. **महाद्वीपीय हिमानी** (Continental Glacier)—ग्रीनलैण्ड और एण्टार्कटिका जैसे शीत प्रदेशो मे जाडो मे बहुत अधिक मात्रा मे तुषारवृष्टि होती है और गर्मी में बहुत थोडी पिघल पाती है। अत. ऐसे प्रदेशो में प्रतिवर्ष बढते-बढ़ते इतनी अधिक मात्रा में हिम इकट्ठी हो जाती है कि वहाँ के पर्वतों, घाटियों और मैदानो सभी को ढक लेती है। चारो ओर हिम के अतिरिक्त कुछ भी नही दिखाई देता। इस प्रकार से छाये हुए हिम के आवरण को हिमावरण (Ice-sheet) कहते हैं। ग्रीनलैण्ड का अधिकाश भाग इसी प्रकार के हिमावरण से आच्छादित है। यह हिमावरण सात लाख वर्गमील में फैला हुआ है। इस हिमावरण की मोटाई सर्वत्र एक-सी नही है, परन्तु केन्द्रीय भाग में यह एक मील से भी अधिक मोटा परत है। यह हिमावरण सब दिशाओं में फैलता है जिससे तटीय भाग पर घाटियों में चलने वाले ग्लेशियर बन जाते हैं। इनमें से कुछ समुद्र तक पहुँच जाते हैं और समुद्र की लहरों से टूटकर हिमखण्डो (Icebergs) के रूप में समुद्र में तैरते रहते है। लैब्रोडोर की ठण्डी धारा इनको न्यूफाउण्डलैण्ड तक बहा लाती है। बहुत से जहाज़ इन हिमखण्डों से टकराकर टूट चुके हैं। एण्टार्कटिक महाद्वीप में पचास लाख वर्गमील से भी अधिक भाग हिमावरण से आच्छादित है।

प्राचीन काल में किसी समय उत्तरी अमेरिका का उत्तरी भाग और उत्तर-पश्चिमी यूरोप भी इसी प्रकार के हिमावरण से ढँका हुआ था। उत्तरी अमेरिका में हिमावरण का केन्द्र हडसन की खाड़ी के दोनों तरफ था। इन दो केन्द्रों से हिमानी चारो ओर को प्रवाहित हुई। परन्तु दक्षिण की ओर इसका प्रभाव अधिक रहा। इन्ही की रगड से उत्तरी अमेरिका की सुप्रसिद्ध झीलें निर्मित हुई। यूरोपीय हिमावरण का केन्द्र बाल्टिक प्रदेश और स्काटलैण्ड मे था। इस केन्द्र से हिमानी दक्षिण की ओर इंग्लैण्ड, हालैण्ड, जर्मनी, पोलैण्ड और रूस की तरफ प्रवाहित हुआ। इन हिमानियों का प्रभाव इन देशो की नदियों की दिशा पर स्पष्ट मालूम पड़ता है। कुछ लोगों ने इन हिमावरणों की उत्पत्ति का कारण जलवायु में विषम परिवर्तन माना है। परन्तु वर्तमान समय की अपेक्षा तुषारवृष्टि अधिक होने लगे अथवा तापक्रम थोडा और ठण्डा हो जाय, तो यह बिलकुल संभव है कि एक वर्ष की हिम के पूर्णतया पिघलने से पहले ही दूसरे वर्ष की तुषारवृष्टि प्रारम्भ हो जाय। यदि इस प्रकार की परिस्थिति वर्षों तक बनी रहे, तो कुछ वर्षो मे पर्याप्त हिम का आवरण छा सकता है। तुषारवृष्टि में कमी हो जाने से अथवा तापक्रम मे वृद्धि हो जाने से इन भागो का हिमावरण नष्ट हो गया होगा। इस प्रकार से हिमावरण के आच्छादित होने और उसके नष्ट होने में सहस्रो वर्ष लगते होगे।

१६०. **पर्वतीय हिमानी** (Mountain Glacier)—ऊँचे पर्वतों पर जो हिमक्षेत्र होते है उनमे निचले ढालों की तरफ हिमशिलाएँ आगे की ओर खिसकती है जिन्हें घाटियों में बहने वाली हिमानी कहते है। घाटी मे बहने वाली हिमानी का आकार घाटी के अनुसार बदलता रहता है। जहाँ घाटी चौडी होती है, वहाँ हिमानी भी फैल जाती है और जहाँ घाटी सँकरी होती है, वहाँ हिमानी को भी सिकुड़ना पडता है। हिमानी की लम्बाई एक-दो मील से लेकर पचास मील के लगभग तक होती है। हिमालय पर्वत में दो या तीन मील लम्बी बहुत-सी हिमानियाँ है। परन्तु लम्बे हिमनद भी बहुत है। हिमालय का सिआचन ग्लेशियर ४५ मील लम्बा है जो शीतोष्ण कटिबन्ध के ग्लेशियरो मे एक को छोड़कर सबसे अधिक लम्बा है। हिमालय के इन हिमनदों ने अनेकों नदियों और झीलों को जन्म दिया है। हिमानी की मोटाई भी दस-बीस फुट से लेकर हजारों फुट तक होती है। हिमानी के छोर पर मोटाई कम होती है। घाटियों में हिमक्षेत्र के खिसकने से जो हिमपिण्ड आता है उसके अतिरिक्त निम्न प्रकार से कुछ और हिम एकत्रित हो जाता है—(१) घाटी के ऊँचे ढालों पर जो तुषार गिरता है वह फिसलकर घाटियों में ही जमा हो जाता है; (२) स्वयं घाटियों में ही आकाश से तुषारवृष्टि होती है; (३) हवाएँ हिमक्षेत्र से तुषारकणों को अपने साथ उड़ा लाती हैं और उन्हें घाटियों में गिरा देती हैं।

१६१. हिमानी की चाल—सर्वप्रथम ह्यजी नामक एक स्विस विद्वान् ने १८२७ ई० में यह ज्ञात किया कि हिमानी गतिशील होती है। इससे पूर्व उन्हें स्थिर ही समझा जाता था। प्रो० ह्यजी ने आल्प्स के आर नामक ग्लेशियर पर एक कुटी बनाई। १४ वर्ष बाद यही कुटी ४,७०० फुट आगे पहुँच गई। इस प्रकार उसने प्रमाणित किया कि ग्लेशियर प्रति दिन एक फुट के हिसाब से आगे बढी। लुई अगासीज नामक दूसरे स्विस विद्वान् ने यह ज्ञात किया कि हिमानी किनारों की अपेक्षा मध्य में और तली की अपेक्षा सतह पर अधिक तेज़ी से बहती है। उसने १८३५ ई० में ग्लेशियर के आर-पार एक किनारे से दूसरे किनारे तक कई खूंटे गाढ़े। कुछ समय बाद देखा गया कि बीच के खूंटे किनारे के खूंटों से कुछ आगे निकल गए तथा वे घाटी के ढाल की ओर झुक भी गए थे। उसने स्पष्ट किया कि किनारो पर रुकावट पड़ने से तथा तली पर भूमि से रगड़ते हुए चलने से इन स्थानों पर चाल कुछ मन्द हो जाती है।

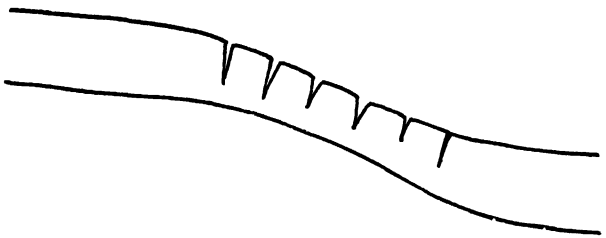


चित्र ५३. हिमानी की गति

विभिन्न हिमानियों की प्रवाह-गति में भी पर्याप्त अन्तर रहता है। गति का तीव्र या धीमा होना हिमानी के विस्तार, घाटी के ढाल तथा हिम के तापक्रम पर निर्भर है। छोटी हिमानी बहुत धीमी गति मे चलती है परन्तु विशाल आकार के हिमनद एक दिन में कई फुट तक चलते हैं। आल्प्स पर्वत के ग्लेशियरो की मन्द गति का वर्णन कर चुके । ग्रीनलैण्ड के विशाल ग्लेशियरों की प्रवाह-गति ६० फुट प्रतिदिन तक आँकी गई है। यदि ग्लेशियर का मार्ग अधिक ढालू होता है, तो उसकी प्रवाह-गति भी कुछ अधिक तीव्र हो जाती है। हिम के तापक्रम पर भी हिमानी की गति निर्भर होती है। यदि हिम का तापक्रम हिमांक (३२° फा) के समीप होता है, तो गति कुछ तेज़ होती है, परन्तु जब तापक्रम काफी नीचा होता है तो गति भी मन्द हो जाती है। इसी कारण जाड़ों की अपेक्षा गर्मी की ऋतु में हिमानी की चाल दुगुनी या तिगुनी तक हो जाया करती है।

१६२. हिमानियों में दरारें—घाटियों मे बहने वाले ग्लेशियरों को टेढ़े-मेढे रास्तों और ऊँचे-नीचे ढालों पर होकर चलना पड़ता है। हिम के स्थूल रूप और कड़ेपन के कारण भारत जैसे गरम देश के निवासी यह अनुमान नहीं लगा सकते कि हिमानी

परिस्थिति के अनुकूल अपने आपको मोड़ सकती है। यह अवश्य है कि हिम शीघ्रता के साथ नई परिस्थिति के अनुसार नही हो सकती। घुमावदार घाटी में बहते समय हिमानी को मुडना पडता है। मुडने के कारण उसके एक पार्श्व में भिचाव पड़ता है और दूसरे पार्श्व में खिचाव पड़ता है। फलत. हिमानी में कहीं-कहीं पर दरारें पड़ जाती हैं। ऐसे समय कही लम्बी और कही आड़ी दरारें पडती है। ढाल के एकदम ऊँचा या नीचा हो जाने से चौड़ाई के आर-पार दरारें उत्पन्न हो जाती है जिन्हें हिमविदर (Crevasses) कहते है। दबाव पड़ने पर ये दरारें अदृश्य हो जाती हैं।



चित्र ५४. हिमविदर

परन्तु ऊपरी सतह पर दरारों के निशान बने रहते है। दरारों की धार को सूर्य की किरणें पिघला-पिघलाकर गोल और चौडी बना देती है।

१६३. हिमानियों का समाप्त होना—हिमानी अधिक दूर तक नही बह सकती। कभी-न-कभी उसको समाप्त होना ही पड़ता है। ध्रुव-प्रदेशो के हिमनद टूट-टूटकर हिमखण्ड (Iceberg) बन जाते है। ये हिमखण्ड कुछ दिनों तक बहते रहते है और अन्त में पिघलकर नष्ट हो जाते है। ऊंचे अक्षांशों के हिमनद पिघलकर नदियो और झीलो को जन्म देते है। कुछ हिम गरमी से सीधे वाष्परूप में बदल जाता है। यों तो भाप बनने की क्रिया सीधे हिमक्षेत्र से हिमानी के अन्तिम छोर तक होती रहती है, परन्तु कहा जाता है कि कुछ छोटे हिमनदों का अन्त भाप बनने के कारण ही हो जाता है।

१६४. हिमानियों का पीछे हटना—हिमानियों का अन्तिम छोर कुछ समय तक आगे बढता है, परन्तु फिर कुछ समय को पीछे भी हट सकता है। ग्लेशियरो के आगे बढने और पीछे हटने का कारण जलवायु का परिवर्तन बताया जाता है। यदि हिमक्षेत्र में तुषारपात अधिक हो जाता है और मार्ग में हिम कम नष्ट होता है, तो हिमानी का अन्तिम छोर आगे बढ़ जाता है। परन्तु यदि हिमक्षेत्र में तुषार कम गिरता है और हिम अधिक नष्ट होता है, तो हिमानी का छोर पीछे हटता है।

सभी पीछे को हट रहे हैं। संयुक्त राज्य के रेनियर पर्वत का एक ग्लेशियर १९१८ ई० से पीछे हटने लगा और १९२९ ई० में यह ग्लेशियर पहले स्थान से ७४८ फुट पीछे हट गया। इसी प्रकार स्विटजरलैण्ड में आल्प्स पर्वत का एक ग्लेशियर १८५५ ई० के बाद पीछे हटने लगा। इसके पीछे हटने पर लोगों ने एक सगमरमर की खान देखी जो पहले इसके नीचे दबी पडी थी; कहते हैं इसी खान के सगमरमर से बर्न नगर के मकान बने थे। इसका अर्थ यह हुआ कि बर्न नगर बनने के पश्चात् ग्लेशियर आगे बढ आया था और अब फिर पीछे हट गया।

१६५. **हिमानियों द्वारा शिलाखण्डों का हटाया जाना**—मौसमी क्षरण के द्वारा पर्वतों के खण्ड टूटते रहते हैं। ये शिलाखण्ड हिमानियो में मिल जाते है। घाटियों में बहने वाले ग्लेशियरो में नीचे से ऊपर तक शिलाखण्ड जमे रहते है। मार्ग में बिखरे हुए शिलाखण्ड ग्लेशियर की तली में घुस जाते हैं अथवा हिम की शीतलता से हिम-मण्डित होकर ग्लेशियर का अंश बन जाते हैं। घाटी के दोनों पार्श्वों से चट्टानों की चूर और बडे-बडे टुकड़े ग्लेशियर के ऊपर गिरते रहते है और उस पर तुषार भी गिरता जाता है। इस प्रकार कुछ शिलाचूर्ण हिमपिण्ड के परतों में जम जाता है। हवायें भी कुछ शिलाचर्ण को ग्लेशियर के ऊपर डाल देती हैं। इस प्रकार शिलाचूर्ण ग्लेशियर की तली में, परतो के बीच मे और ऊपरी सतह पर लदा हुआ चलता है। हिमानियो द्वारा बहाए हुए शिलाचूर्ण मे बारीक चूर से लेकर बडे विशाल शिलाखण्ड तक रहते हैं।

ग्लेशियरों द्वारा शिलाखण्डो को हटाने की क्रिया नदियों की क्रिया से भिन्न होती है। बडे-बडे शिलाखण्ड नदियो मे अधिक दूर नही बह सकते। परन्तु हिमानियों के ठोस होने के कारण बड़े-मे-बड़े शिलाखण्ड ऐसे स्थान पर पाए जाते हैं जहाँ दूर-दूर तक कोई ऐसा पर्वत दिखाई नही पड़ता जिसमें इस प्रकार की चट्टाने हों।

१६६. **हिमानियों का अपक्षरण कार्य**—बहुत दिनों तक लोग ग्लेशियर के क्षरणकार्य की महत्ता नही समझ पाए। इसके बहुत से कारण थे—(१) ग्लेशियरों का क्षरणकार्य मुख्यतः ऊँचे पर्वतीय भागों मे सम्पन्न होता है। (२) इनका क्षरणकार्य हिमशिलाओ के नीचे छिपा रहने के कारण साधारण तौर से दृष्टिगोचर नही होता। १८३७ ई० में आगासीज ने देखा कि आल्प्स पर्वतों की निचली घाटियों में पड़े हुए शिलाखण्डों के निशान हिमानियों द्वारा ऊपरी घाटियों में जमा किये हुए शिलाखण्डों के निशानों से बिलकुल मिलते-जुलते हैं। इस अनुसन्धान के आधार पर उसने यह अनुमान लगाया कि इन निचली घाटियों में भी किसी समय हिमनदियों का विस्तार था और उन्होंने ही इन शिलाखण्डों को निचली घाटियों में डाल दिया होगा।

आगासीज के इस निष्कर्ष ने हिमानियों के क्षरणात्मक कार्य का अध्ययन करने में पर्याप्त सहायता पहुँचाई। हिमानियों द्वारा क्षरणात्मक कार्य का अध्ययन करते समय हमें दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। प्रथमतः इनका कार्य बहुत ही सीमित क्षेत्र में होता है और दूसरे, किसी युग में इनका कार्य अधिक होता है और कभी नहीं भी होता।

अकेली हिमशिलाएँ चट्टानों को नहीं घिस सकती, परन्तु हिमानियों की तली और पार्श्व में जमे हुए शिलाखण्डो की सहायता से चट्टानें बड़ी जल्दी घिस जाती है। चट्टानों की घिसाई होने के लिए यह आवश्यक है कि हिमानी की तली चट्टानों मे रगडती रहे। परन्तु इस सम्बन्ध में ग्लेशियर की परिस्थितियाँ जलधारा से सर्वथा भिन्न होती हैं। एक तो जल की तुलना में हिम की गति बहुत ही नगण्य होती है। दूसरे, ग्लेशियर की तली धरातल से पूरी तरह रगड नहीं खाती। घाटी के ढाल के अनुसार ग्लेशियर की गति, मोटाई और धरातल मे रगड खाने में अन्तर पड़ता रहता है। ज्योंही भूमि अधिक ढालू होने लगती है, ग्लेशियर की प्रवाह-गति तीव्र हो जाती है, उसकी मोटाई कम हो जाती है और घाटी की तली मे उसकी तली पूरी तरह रगड नहीं खाती। अधिक ढालू स्थानों पर ग्लेशियर में दरारें उत्पन्न हो जाती है जिनके कारण दबाव घट जाता है और तली से पूर्ण सम्बन्ध नहीं हो पाता। ग्लेशियर के क्षरणात्मक कार्य के सम्बन्ध में डी मार्टोनी ने एक नियम निर्धारित किया था कि ढाल के परिवर्तन होते ही तली का सबसे अधिक घिसाव ग्लेशियर की दरारों से ऊपर या नीचे के स्थानो पर होगा।

जो शिलाखण्ड हिमानी की तली में दब जाते हैं या उसके दोनों किनारो मे फँस जाते है, मार्ग की चट्टानो से उनकी निरन्तर रगड होती रहती है। इस रगड से वे पतले और चिकने होते रहते है। जब कभी हिम की पकड़ कुछ ढीली हो जाती है तो ये शिलाखण्ड उलट जाते है और दूसरी ओर से घिसने लगते हैं। इस तरह सभी ओर से इनकी घिसाई हो जाती है। कभी-कभी घिसाव से इनके कोने भी घिस जाते है और इनका आकार गोल हो जाता है। फल यह होता है कि इन शिलाखण्डों के अनेक विचित्र रूप और आकार बन जाते हैं। खरोचों और घिसाव के निशान इतने गहरे होते है कि प्राकृतिक शक्तियाँ भी उनको अनेक वर्षो तक नहीं मिटा पाती।

अपने साथ लाये हुए शिलाखण्डो के अतिरिक्त ग्लेशियर अपनी घाटी की तली और किनारों को भी घिसता चलता है। उसके इस कार्य में हिम से पिघला हुआ जल बहुत सहायता पहुँचाता है। जिस प्रकार रेती की रगड़ से खरोंचें बन जाती है, उसी प्रकार की अनेकों धार वाली खरोंच ग्लेशियर की रगड़ से धरातल की चट्टानों पर

बन जाती हैं। इन खरोचों के कारण ग्लेशियर द्वारा कटी हुई चट्टानों को स्पष्ट पहचाना जा सकता है। कई बार हिम के पिघलने से बना हुआ जल चट्टानों के जोड़ों और छिद्रों मे भर जाता है और उनको तोड़-तोड़कर खोखला करता रहता है। इस प्रकार की खुदाई (Quarrying) घाटी के पार्श्व की चट्टानो मे भी होती रहती है। तुषारवृष्टि इस कार्य में पर्याप्त सहायता पहुँचाती है। हिम के कटान मे अनेक प्रकार के विचित्र और मनोरम दृश्य बन जाया करते है जिनमें से प्रमुख नीचे दिए जा रहे है।

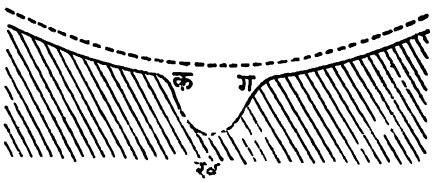
१६७. हिमागार या हिमगह्वर (Cirques)—कभी-कभी हिम की कटान से घाटी के किसी पार्श्व में चट्टानें कट-कटकर खोखली हो जाती है, जिससे इस पार्श्व पर एक गड्ढा बन जाता है। दूर से देखने पर यह गड्ढा अर्द्ध गोल मच के समान (Amphi-theatre-like) दिखाई पड़ता है। इस गड्ढा से ग्लेशियर उसी प्रकार निकल पड़ता है जिस प्रकार किसी झील से एक नदी निकल जाती है। इसी गर्त को हिमगह्वर या हिमागार कहते हैं। इसकी उत्पत्ति के विषय में जॉनसन और मालथेज नामक दो विद्वानों का कथन है कि पर्वतों के ढालों पर जो हिम गिरता है उसका कुछ भाग पिघलकर चट्टानो की सँधों और दरारा मे भर जाता है। रात्रि की ठण्ड से यह जल फिर हिम बनता है, तो इसके आयतन मे वृद्धि हो जाती है जिससे चट्टान टूटने लगती है। जब चट्टान काफी खोखली हो जाती है, तो उसमें हिम स्थायी रूप से एकत्र हो जाती है और चट्टान के टूटने की क्रिया बड़े पैमाने पर होने लगती है। धीरे-धीरे छोटा-सा छिद्र एक विशाल गर्त के रूप में परिवर्तित हो जाता है जिसमें हिमशिलाएँ एकत्रित होती रहती हैं और उसमे से हिमानी वह निकलती है। हिमालय पर्वत पर अधिक ऊँचाई पर ऐसे बहुत से हिमगह्वरा या हिमागार है जिनमें से निकली हुई हिमानी ऐसी मालूम देती है मानो किसी ने उनको वहाँ पर लटका दिया हो।

गिरिशृङ्ग (Horn)—कभी-कभी किसी पर्वत पर बराबर ऊँचाई पर दो हिमगह्वरायें एक दूसरे से ठीक विपरीत दिशा में बनने लगती हैं। कालान्तर मे दोनों के बीच की दीवार टूट जाने से एक विशाल खड्ड पर्वत के आर-पार बन जाता है जिसे हिमखड्ड या कोल (Col) कहते हैं। इसी प्रकार समान ऊँचाई पर बहुत से हिमागार पर्वत के चारों ओर बनने लगते है और कालान्तर में सब मिल जाते हैं तो उससे तीन या चार पार्श्व वाले पिरामिड की तरह एक गिरिशृङ्ग (Horn) बन जाया करता है। आल्प्स पर्वतमाला का मैटरहार्न इसका एक सुन्दर नमूना है।

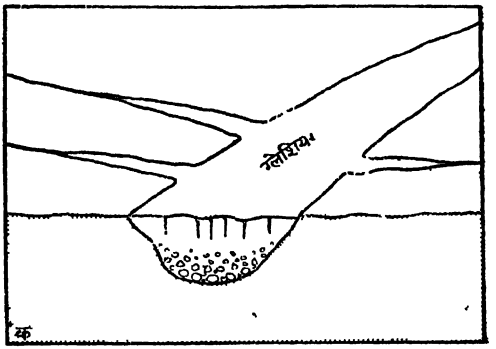
हिमस्था (Nunatak)—बहुत से शिलाखण्ड दो हिमानियों के बीच में स्थित होते हैं। ये दोनों हिमानियाँ इस शिलाखण्ड के पार्श्वों को घिसती रहती हैं।

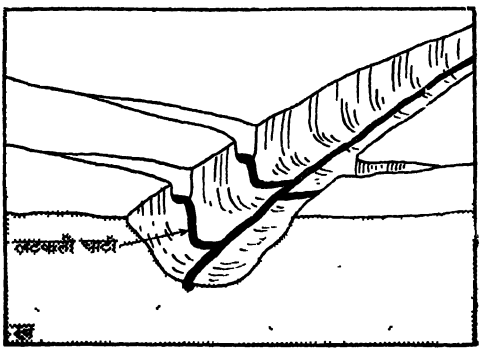
इसके अतिरिक्त पाला और हिमधाव (Avalanche) भी इसको काटते रहते हैं। धीरे-धीरे ये शिलाखण्ड एक छोटे टीले से बने रह जाते हैं जिन्हें हिमस्था कहते हैं।

१६८. अंग्रेजी के U अक्षर के समान घाटियाँ—नदियों की तरह हिमानी नई घाटी नहीं बना सकती, परन्तु पुरानी घाटियों को काट या घिसकर उसका रूप बदल देती है। हिमानी जब किसी नदी की टेढ़ी-मेढ़ी और सँकरी घाटी में होकर बहती है, तो अपने कठोर और स्थूल रूप के कारण किनारे की चट्टानों से टकराती है। फलतः किनारों पर होने वाला घिसाव तल की अपेक्षा अधिक होता है। नित्यप्रति की घिसान और खुरचन से किनारे की आगे को निकली हुई नोकदार चट्टानें घिस-घिसकर चिकनी और सीधी हो जाती हैं। जितने अधिक काल तक हिमानी उस घाटी में रहती है, उतनी ही अधिक वह घाटी को चौड़ी बनाती रहती है। इस प्रकार पहले की V के आकार की घाटी घिस-घिसाकर U के आकार जैसा रूप धारण कर लेती है।



चित्र ५५ हिमानी की घाटी



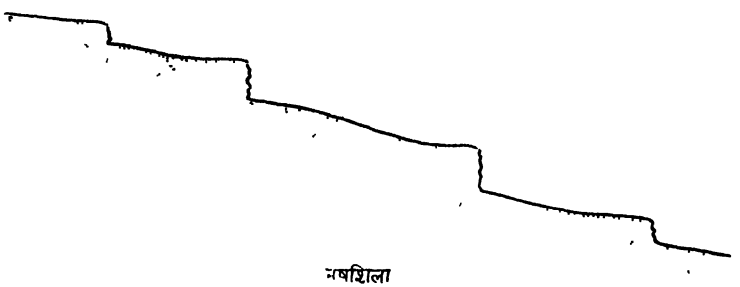


चित्र ५६. लटकती घाटी

१६९. लटकती हुई घाटियाँ (Hanging Valleys)—घाटियों में बहने वाला ग्लेशियर नदियों की पुरानी घाटियों को काफी गहरी और चौड़ी बना देता है। इस कटान के कारण मुख्य घाटी तो काफी गहरी

हो जाती है, परन्तु उसकी सहायक नदियों की घाटियों का रूप बड़ा विचित्र हो जाता है। मुख्य घाटी के चौड़े होने से सहायक घाटी का मुहाना या प्रवेश-द्वार घिसते-घिसते पीछे हटता जाता है। परन्तु उसमें बहने वाली सहायक नदी इतनी शीघ्रता से अपनी तली को नही घिस पाती। फलस्वरूप कुछ काल के बाद सहायक नदी की घाटी के मुहाने का ढाल घिसकर नष्ट हो जाता है। साथ-ही-साथ मुख्य घाटी की गहराई भी अधिक बढ़ती है जिससे सहायक घाटी कुछ ऊँची हो जाती है। बाद में जब हिम पिघलकर ग्लेशियर समाप्त हो जाती है, तो सहायक नदी का जल झरने के रूप में मुख्य नदी में गिरता है। इस प्रकार की झरने वाली घाटी को लटकती हुई घाटी कहते हैं। इस सहायक घाटी का तल मुख्य घाटी के तल से ऊंचा टँगा हुआ-सा प्रतीत होता है। नार्वे, चिली, अलास्का आदि देशों के फियोर्ड संभवतः इसी प्रकार की घाटियों के प्रवेश-द्वार हैं।

१७०. मेषशिलाएँ (Sheep Rocks)—ग्लेशियर मार्ग में पड़ने वाली बाधाओ से अलग हटकर टेढ़ा-मेढ़ा बहने का प्रयत्न नहीं करता, किन्तु मार्ग की समतल अथवा ऊबड़-खाबड़ सभी प्रकार की चट्टानों को घिस डालता है। हिमानियों द्वारा आल्प्स पर्वत की डोलोमाइट चट्टानों को घिस डालने के फलस्वरूप उन घाटियों में अण्डे के आकार की छोटी-छोटी पहाड़ियाँ बन गई है। ये छोटे-छोटे टीले दूर से देखने पर भेड़-जैसी आकृति के दिखाई पड़ते है, अतः इनको मेषशिलाएँ (Sheep Rocks) कहते हैं। फ्रेंच भाषा में इन टीलों को (Roches Mountonnees) कहते है।



मेषशिला

चित्र ५७.

मेषशिलाओं की उत्पत्ति के विषय में ओटो पलकीजर नामक विद्वान् का मत है कि ऊबड़-खाबड़ चट्टानों के मिलने पर हिमानी उनके ऊपर चढ़ने लगता है। चढ़ाव के समय उसकी तली का चट्टानों से पूर्ण सम्पर्क स्थापित हो जाता है। फलतः घिसाव पूरे जोर से होता है और चढ़ाई वाला भाग नीचे से ऊपर तक घिसकर चिकना बन

जाता है। साथ ही हिमनद की तली में फँसे हुए नुकीले शिलाखण्डों की रगड़ से उसमें बहुत-सी खरोंचें भी बन जाती हैं। उतार के समय परिस्थिति बदल जाती है। उतार के समय हिमनद की तली का धरातल से पूर्ण सम्पर्क नहीं रह पाता। फलतः धरातल पर ग्लेशियर की रगड़ थोड़ी-थोड़ी दूर के पश्चात् ही लग सकती है। ऐसी दशा में चट्टान की कटान एक समान नही होगी और चट्टानों के बिना कटे भाग सीढ़ियों की पँक्ति के रूप में दिखाई देंगे। इस प्रकार कटे हुए टीलों का एक ढाल तो समतल और चिकना होगा, परन्तु दूसरी ओर संकीर्ण सीढ़ियों की पंक्ति-सी बन जायगी। ये टीले अथवा मेषशिलाएँ हिम की बहती हुई धारा मे ऊँची उठी हुई लहरों के सदृश दिखाई देती हैं।

फियोर्ड (Fiord)—ये गहरी घाटियाँ सम्भवतः प्रारभ में नदी के कटाव (अपक्षरण) से अथवा चट्टानों के टूट जाने (Faulting) से बनती है। परन्तु बाद में हिमानियाँ गहरी घाटियों के रूप में घिस डालती है। अन्त में जब ये घाटियाँ जलमग्न हो जाती है तो इनसे फियोर्ड तट बन जाता है।

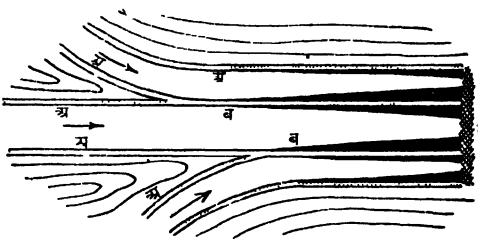
१७१. हिमानियों का निक्षेपात्मक कार्य- -हिमानी अपने साथ विभिन्न आकार के शिलाखण्ड बहा लाती है। इन शिलाखण्डो में सूक्ष्म रेत से लेकर ४० या ५० फुट व्यास के भारी शिलाखण्ड तक होते हैं। नदियो की तरह हिमानी इनकी छँटनी नहीं करती, बल्कि सभी आकार के टुकडे साथ-साथ मिले रहते है। हिमानियो द्वारा बहाए हुए इस शिलाचूर्ण को गण्डमृद (Till) कहते है। हिमानी इन शिलाखण्डो की राशि को अपने पार्श्व भाग में अथवा अन्तिम छोर पर जमा कर देती है। जमा किए हुए शिलाखण्ड एक टीले के रूप में दिखाई देते है जिन्हें हिमोढ़ या 'मोरेन' (Moraine) कहते हैं। बनने के स्थान के अनुसार मोरेन कई प्रकार के होते हैं—पार्श्ववर्ती मोरेन, मध्यवर्ती मोरेन, स्थलीय मोरेन, अन्तिम मोरेन आदि।

१७२. पार्श्ववर्ती मोरेन (Lateral Moraine)—हिमरेखा (Snowline) से नीचे उतरते ही हिमानी का हिम पिघलने लगता है। ज्यों-ज्यों हिमानी घाटी से नीचे उतरती है वैसे ही वैसे हिम अधिकाधिक मात्रा में पिघलकर जल रूप में बदलता जाता है। सबसे पहले धूप या गर्मी के प्रभाव से ऊपरी तल का हिम पिघलता है। जैसे-जैसे इस जल की मात्रा बढ़ती है, यह जल छोटी-छोटी नालियों के रूप में बहता रहता है। यह नालियाँ जल की कटान से हिमानी के ऊपरी तल पर बन जाती हैं। ऊपरी तल पर लदे हुए शिलाखण्डों के बोझ का कुछ भाग हिमानी के दोनों पार्श्वों पर भी गिरता जाता है। तली का हिम भी धरातल की गर्मी का स्पर्श पाकर पिघल जाता है। फलतः पार्श्व के कंकड़, पत्थर और रोड़े वहीं छूट जाते हैं। इस

प्रकार हिमानी के दोनों पार्श्वों में सैकड़ों फुट ऊँची शिलाखण्डों की राशि जमा हो जाती है जिसे **पार्श्ववर्ती मोरेन** (Lateral Moraine) कहते हैं। पार्श्ववर्ती टीले अकेली श्रेणी के रूप में होते हैं और इनके शिलाखण्डों की राशि बिखरी हुई रहती है।

मध्यवर्ती मोरेन (Medial Moraine)—जब दो हिमानियाँ एक स्थान पर मिल जाती हैं, तो उनके संगम पर दोनों के पार्श्ववर्ती टीले मिल जाते हैं। उनके मिलने से बने हुए टीले को **मध्यवर्ती मोरेन** (Medial Moraine) कहते हैं।

अन्तिम मोरेन—धरती की गर्मी से तली का हिम भी अधिकाधिक मात्रा में पिघलने लगता है। यह जल हिमानी के भीतर-ही-भीतर सुरंगो की तरह मार्ग बनाता हुआ बहता है और हिमानी के अन्तिम छोर पर उससे बाहर निकल जाता है। अन्तिम छोर पर बहुत कम हिम रह जाता है और हिमानी का लाया हुआ बोझ यहीं पर जमा हो जाता है। शिलाखण्डों की राशि जमा होने से जो पहाड़ी-सी बन जाती है उसे **अन्तिम मोरेन** (Terminal Moraine) कहते हैं। यदि बहुत लम्बे समय तक हिमानी एक ही स्थान पर पिघलती रहती है, तो शिलाखण्डों की बहुत बडी राशि इकट्ठी हो जाती है। जब कभी हिमानी पीछे हटती है, तभी वह पहले अन्तिम टीले से कुछ पीछे हटकर दूसरा अन्तिम टीला बना देती है। यदि हिमानी एक ही दिशा में पीछे नहीं हटती, तो अलग-अलग दूरी पर अनियमित टीले बन जाया करते हैं। प्रत्येक टीले का मध्य भाग आगे की ओर निकला हुआ रहता है। उत्तरी जर्मनी में इन अन्तिम टीलों की पंक्तियाँ ऐसी सुन्दर लगती हैं मानों धरती का कण्ठहार हों। कभी-कभी इन टीलों के पीछे हिमानी का पिघला हुआ पानी एकत्र हो जाने से सुन्दर झील बन जाती है। यदि किसी समय झील के पानी से कट-कटकर टीला फूट जाता है, तो निचले भाग में बाढ़ आ जाया करती है। कभी-कभी हिमानी भी आगे बढ़ने लगती है और इन टीलों को आगे की ओर ठेल देती है।



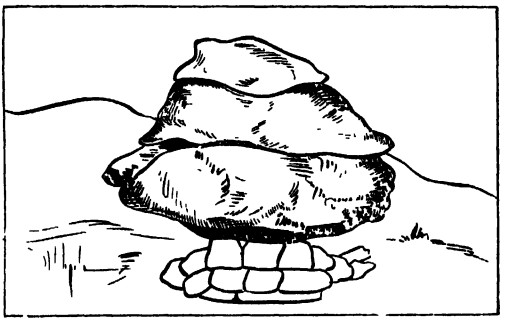
चित्र ५८.
अ-अ—पार्श्ववर्ती मोरेन। ब-ब—मध्यवर्ती मोरेन
स—अन्तिम मोरेन

स्थलीय मोरेन (Ground Moraine)—हिमानी की तली में चट्टानों की चूरचार छूट जाती है तो वह पिसकर चूर्ण हो जाती है। इस प्रकार बने हुए मोरेन को भूमि मोरेन कहते हैं।

दीर्घकूठिका (Drumlin)—जब हिमानी द्वारा जमे हुए शिलाखण्डों का रूप उल्टी नाव की तरह हो जाता है तो उसे दीर्घकूठिका कहते हैं।

ऊखा मोरेन (Kettle Moraine)—जब हिमानी द्वारा जमाए हुए पदार्थ की आकृति ओखली की तरह हो जाती है तो उसे ऊखा मोरेन कहते है।

अपोढ़ (Erratic)—हिमानी अपने साथ अनेक विशाल शिलाखण्डो को बहा लाती है। ये विशाल शिलाखण्ड सैकड़ों मील की यात्रा करने के बाद ऐसे स्थान पर रह जाते है जहाँ की चट्टानों की संरचना से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इन विशाल शिलाखण्डों को अपोढ (Erratics) कहा जाता है।



अपोढ (Erratic)

चित्र ५९.

१७३. नदी-हिम्य निक्षेप (Flurio-glacial Deposits)—जब हिमानियाँ बहकर काफी नीचे आ जाती है तो वे पिघलने लगती है। इस प्रकार हिमानियों के अन्दर अनेक धाराओं के रूप में छोटी-छोटी जल-धाराएँ बहने लगती है। इस समय हिमानी के नीचे बहने वाली धारायें हिम को पिघलाकर अपने लिए सुरग-सी बना लेती है। इन्हीं सुरंगों में पदार्थ जमा होते रहते है। ऐसी हिमानी जो पदार्थ जमा करती है उसे नदी हिम्य निक्षेप कहा जाता है। इसके भी कई भेद है—

(१) **कूटिका** (Esker)—पर्वतीय भागों में हिमानी का प्रवाह घुमावदार होता है। अतः हिमानी एवं उससे निर्मित जलधाराओ के जमाए हुए पदार्थ से लम्बे और घुमावदार टीले से बन जाते हैं। इनको कूटिका कहते है क्योकि ये काफी ऊँचे नही होते जिससे इन्हे 'कूट' की संज्ञा मिल सके। ये अधिक चौडे भी नही होते अतः टेढ़े-मेढे बाँध जैसे प्रतीत होते है। इनकी चौड़ाई केवल २० से ५० फुट तक होती है। परन्तु इनकी लम्बाई ५ से २० मील तक फैली होती है। इनके कारण लहरदार लम्बा बाँध बन जाता है जो कभी ढाल के ऊपर चढते दिखाई देते है तो कभी ढाल से नीचे की तरफ उतरते। कूटिकायें एक दूसरी से जुडी हुई नही होती।

(२) **कंकतगिरि** (Kame)—ये बालू और ककर मे बनी गोलाकार पहाड़ियाँ होती हैं। ये प्रायः हिमानी से निकली धाराओं के निकास पर बन जाती है। इनके

निर्माण में पार्श्व मोरेन तथा स्थल मोरेन का मिला-जुला कार्य रहा करता है। इनकी ऊँचाई १०० फुट से २०० फुट तक होती है।

(३) **उत्क्षालित स्थली** (Outwash Plain)—हिमानी से निकली जलधारायें तथा हिमानी मिलकर स्थल के विस्तृत भाग में चूरचार जमा कर देती हैं। इस जमाव में अन्तिम मोरेन का भी जमाव शामिल हो जाता है। इस प्रकार पंखे की आकृति का मैदान जमा हो जाता है। इसको उत्क्षालित स्थली कहते हैं। जब नदियाँ ऐसा मैदान बनाती हैं तो उसे कछारी मैदान (Alluvial fan) कहते हैं।

प्रश्न

1. Give a graphic account of the work of glaciers with regard to erosion, transportation and deposition.
(*Agra B.A. 1947, 1953, 1955*)

2. Give an illustrated account of the typical features of a glaciated landscape.
(*Agra B.A. 1951, 1954; Nagpur Inter. 1952; Ban B.A. & B.Sc. 1950, 1951*)

3. Write short notes on :—
Cirque, Terminal Moraine, Roche Mountonnees.

4. Comment on :—
Nunatak. Medial Moraine, Corrie, Fiord.

तेरहवाँ अध्याय

समतल-स्थापक शक्तियाँ (४)

समुद्री लहरें और वायु

१७४. लहरें—हवा तथा अन्य प्रभावों के कारण समुद्र का पानी गतिशील हो जाता है जिससे उसमें लहरें उत्पन्न हो जाती हैं। यह तरंगे तट के स्थानीय भाग के आकार में निरन्तर परिवर्तन किया करती हैं। तरंगों द्वारा समुद्र के आक्रमण का उद्देश्य स्थलमण्डल का विध्वंस करके समतल-स्थापन होता है। समतल स्थापन के अन्य साधकों के समान सागर की तरंगें भी स्थल को काटती हैं, कटे हुए भूपदार्थ को बहा ले जाती हैं तथा उसे अन्यत्र जमा कर देती हैं।

१७५. लहरों का कार्यक्षेत्र—समुद्री लहरों का क्षरणात्मक कार्य समुद्रतट की भूमि तक ही सीमित रहता है। समुद्रतल से ऊपर ज्वार के सर्वोच्च स्थान के आस-पास तक लहरों का आक्रमण हो सकता है। समुद्रतल से नीचे की ओर जल की गहराई बढने के साथ-ही-साथ लहरों की क्रियाशीलता भी नष्ट होती जाती है, अत. इनका प्रभाव कम गहरे भागों तक ही सीमित रहता है। अनुमान है कि ६०० फुट से अधिक गहराई पर इनका प्रभाव नहीं होता। इन कम गहरे भागों में भी लहरों का प्रभाव कुछ फुटों की गहराई तक ही अधिक होता है। परन्तु चूँकि संसार के समुद्रतट की लम्बाई हजारों मील है, इसलिए लहरों का परिमित कार्य भी काफी महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

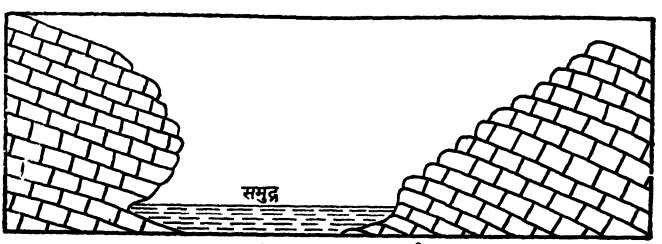
१७६. लहरों का क्षरणात्मक कार्य (अपक्षरण)—समुद्र की लहरों के आक्रमण से तट भाग कटकर नष्ट होता रहता है और तटरेखा स्थल की ओर हटती जाती है। तटरेखा का पीछे हटना लहरों की शक्ति तथा अन्य परिस्थितियों पर निर्भर होता है। इन परिस्थितियों में लहरों के साथ बहाए हुए कंकड़-पत्थरों की मात्रा, चट्टानों की बनावट एवं उनके स्तरों के क्रम (Arrangement) आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

समुद्र द्वारा स्थल को क्षरण करने की गति मुख्यतया लहरों की शक्ति के अनुसार होती है। वायु द्वारा उत्पन्न लहरें हमेशा तट से टकराया करती हैं। इनकी शक्ति विभिन्न परिस्थितियों के कारण सब स्थानों पर एक समान नहीं होती। ऋतुओं के अनुसार हवाओं की गति और दिशा में अन्तर होने पर इनकी शक्ति में भी अन्तर पड़ जाता है। स्काटिश लाइट हाउस बोर्ड ने अटलाण्टिक महासागर की लहरों के दबाव का अध्ययन किया। बोर्ड ने पाया कि गर्मी की ऋतु में लहरों की शक्ति

६११ पौण्ड प्रति वर्गफुट रहती है, परन्तु वायु-विक्षोभ वाली जाड़े की ऋतु में यह शक्ति २०८६ पौण्ड प्रति वर्गफुट हो जाती है। सबसे अधिक शक्ति की नाप ६०८३ पौण्ड प्रति वर्गफुट पाई गई थी। इतनी शक्ति वाली लहरों की चोट से तटवर्ती स्थल खण्ड-खण्ड हो जाता है। स्काटलैण्ड के उत्तर-पूर्वी कोने पर स्थित विक (Wick) बन्दरगाह को लहरों की चोट से बचाने के लिए ककरीट का लगभग ३८,००० मन भारी एक विशाल स्तूप बनाया गया था। १८७३ ई० के दिसम्बर मास मे यह विशाल स्तूप समुद्र की लहरो के थपेडे खाकर उखडकर गिर गया। उसके स्थान पर उससे लगभग दुगुना भारी दूसरा स्तूप बनाया गया। परन्तु १८७७ ई० मे वह भी उखडकर गिर पडा। इस एक उदाहरण से लहरो की शक्ति का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

लहरों की प्रचण्ड शक्ति से चट्टानें टूट-टूटकर लहरो के साथ बह जाती है। काफी बडे शिलाखण्ड भी समुद्र की विकराल तरगो द्वारा गेद की तरह उछल जाते हैं और फिर तटभूमि से टकराते हैं। नदियों द्वारा बहाकर लाए हुए शिलाचूर्ण भी लहरो के साथ बहकर किनारे से रगड खाते हैं। इस प्रकार लहरो के साथ बहकर आये हुए शिलाखण्ड स्थल पर चोट करके उसे तोडते रहते हैं और स्वय भी टकराकर घिसते रहते है। जब लहरे तट से टकराती है, उसी समय निचले भाग से पानी समुद्र की ओर लौटता रहता है तथा अपने साथ लाए हुए शिलाखण्डों से तट के निचले भागों को खुरचता जाता है। यह टूटे हुए टुकडे फिर लहरों के साथ उछलकर किनारो से टकराते है। यह क्रम चलता रहता है और स्थल पीछे की ओर हटता जाता है।

तट प्रदेश के नष्ट होने की गति चट्टानो की बनावट पर बहुत निर्भर रहती है। यदि तट के पास चट्टानो की बनावट एक-सी है, तो लहरों की कटान भी समान



लहरों का क्षयात्मक कार्य

चित्र ६०.

रूप से बढ़ेगी। परन्तु यदि तट पर नरम और कठोर दो प्रकार की चट्टानें हैं, तो

नरम चट्टानें शीघ्र कट जायेंगी और कठोर चट्टान समुद्र की ओर निकली रहेंगी जिससे तट पर खाडियाँ बन जायेंगी। ज्यों-ज्यों खाड़ियों का विस्तार भीतर की ओर होता जायगा, त्यों-त्यों नरम चट्टानों पर लहरों का प्रभाव घटता जायगा और फिर कठोर चट्टानो पर लहरों का आक्रमण होने लगेगा। कालान्तर में कठोर-से-कठोर चट्टान भी लहरो के थपेडों और पत्थरो की बौछार के आगे हार मान लेती है। भारत का पश्चिमी तट समान रूप से कटा हुआ है, परन्तु आयरलैण्ड का पश्चिमी तट बहुत कटाफटा है।

चट्टान के परतो की रचना-विधि से भी क्षरणकार्य की गति में शीघ्रता या सुस्ती आ सकती है। यदि चट्टानों के परत खड़े रूप में (Vertical) स्थित हैं, तो लहरों को उनके काटने में कठिनाई पड़ेगी। परन्तु यदि परत आडे-तिरछे (Horizontal) बिछे हैं, तो उनका विनाश शीघ्रता से होगा।

लहरों के आक्रमण की दिशा भी क्षरणकार्य पर प्रभाव डालती है। यदि लहरें चट्टान पर टेढी टकराती हैं, तो उनकी चोट का अधिक प्रभाव नही होगा। परन्तु यदि वे सीधी आकर टकरायेंगी, तो कटान शीघ्रतापूर्वक होगी।

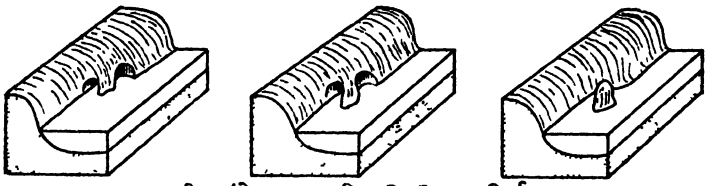
१७७. लहरों की कटान द्वारा उत्पन्न दृश्य—लहरों की कटान से तटरेखा पर बड़े विचित्र दृश्य बन जाया करते है। लहरो की कटान से चट्टानों का निचला भाग क्षीण होता रहता है और ऊपर का भाग समुद्र की ओर लटकता रह जाता है। धीरे-धीरे मौसमी क्षरण के प्रभाव मे लटका हुआ भाग भी कटकर गिर पड़ता है।

कभी कभी लहरों की कटान से चट्टानों के निचले भाग खोखले होकर गुफा-सी बन जाती है। जब कभी लहरों का जल इस प्रकार की गुफ़ा में अचानक भर जाता है, तो गुफा की हवा सिकुड़ती है। यदि चट्टान में कोई सँध या दरार होती है, तो हवा उसमे बडी तेज़ी से घुसती है। सँध के बड़े हो जाने पर हवा के साथ जल भी उसमें होकर फौव्वारे की तरह बहने लगता है। कालान्तर में चट्टान के आर-पार एक सुरंग बन जाती है और चट्टान का ऊपरी भाग पुल की तरह ऊपर बना रहता है।

तट प्रदेश के क्षय होते-होते कहीं-कहीं पर संकीर्ण मैदान तैयार हो जाता है। नार्वे के पश्चिमी तट, स्पेन के उत्तरी तट और भारत के पूर्वी तट पर इसी प्रकार के संकीर्ण मैदान बन गये हैं।

कही-कही सागर तट का नरम भाग कट जाता है और कठोर तट एक टीले के रूप में खड़ा रह जाता है। इस प्रकार के **पिरामिड जैसे टीले** आयरलैण्ड के पश्चिमी तट पर बहुनायत से पाये जाते हैं। स्काटलैण्ड के पश्चिमी तट पर भी ऐसे प्राकृतिक पिरामिड देखने में आते हैं।

१७८. **लहरों का निक्षेपात्मक कार्य**—लहरों द्वारा चट्टानों के विखण्डित भाग को वहीं पड़े रहने दिया जाय, तो धीरे-धीरे उनका मोटा परत चट्टानों के ऊपर



समुद्र की तरंगों द्वारा प्राकृतिक पिरामिड का निर्माण

चित्र ६१.

एकत्रित हो जायगा और फिर चट्टानों का क्षयकार्य बन्द हो जायगा। परन्तु प्रकृति को ऐसी परिस्थिति स्वीकार नहीं है। आक्रमणकारी लहरें पीछे हटते समय अपने साथ चट्टानों की चूर को बहा ले जाती है। इसी प्रकार भाटे की लहरें भी शिलाचूर्ण को अपने साथ बहा लाती हैं। चूंकि लहरों का प्रभाव बहुत कम गहराई तक ही सीमित है, अतः अधिक गहराई की चूर को नहीं हटाया जा सकता है। यद्यपि लहरें कभी तो कम गहरी तली से चूरचार को उठाकर तट पर दे मारती है और कभी तट की चूर को हटाकर अस्थायी रूप से छिछले समुद्र में छोड़ देती हैं, फिर भी अधिकांश चूरचार समुद्र में जमा होने लगती है। इस जमा होने वाले चूरचार का अधिकाश भाग महाद्वीपीय जलमग्न तट (Continental Shelf) पर ही जमा हो जाता है। इसके जमा होते समय छटनी होती है। भारी और बड़े टुकड़े पहले जमा होते हैं और फिर आकार के अनुसार जमा होते जाते है। इनके परत पर परत जमा होते रहते है और इस प्रकार परतदार चट्टानों का जन्म होता है। लहरों के वेग में परिवर्तन होने पर इस जमाव में अन्तर पड जाता है तथा ककड, पत्थर, मिट्टी आदि एक ही स्थान पर जमा हो जाती है।

वायु (Wind)

१७९. **वायु का महत्त्व**—मौसम और जलवायु मे परिवर्तन करके तथा समुद्र में लहरें आदि उत्पन्न करके हवा अप्रत्यक्ष रूप से धरातल पर प्रमुख परिवर्तन करती है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप से भी हवा का यह कार्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अन्य बाह्य शक्तियों के समान हवा भी शिलाचूर्ण के बारीक कणों की ढुलाई करती है। ढलाई के साथ-ही-साथ हवा में उड़ते हुए धूल के कण परस्पर टकराते हैं और छोटे होते रहते हैं। इन्हीं कणों की सहायता से हवा धरती की चट्टानों को रगड़कर घिसती रहती है।

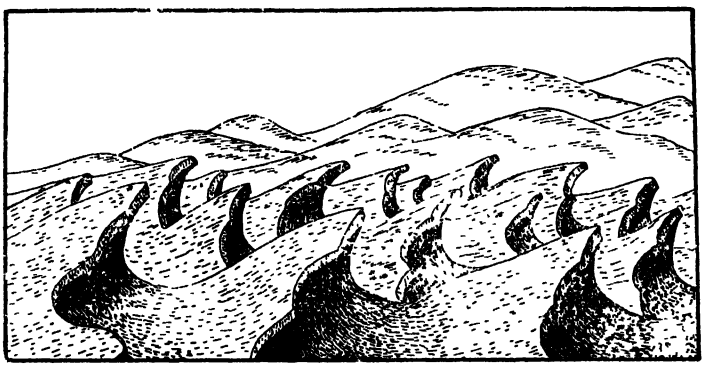
१८०. वायु का कार्यक्षेत्र—जिन स्थानों पर वर्षा पर्याप्त होती है वहाँ भूमितल पर तरी रहती है। यह सील उन स्थानों पर धूलकणों को जमाये रहती है जिससे अधिक धूलकण हवा में नहीं उड़ सकते। दूसरे, उन स्थानों पर जहाँ घास या पेड़-पौधे धरती को ढँक लेते हैं, हवा का प्रभाव कम पड़ता है। इसके विपरीत जिन स्थानों पर वनस्पति कम होती है, जो भाग शुष्क होते हैं और जो भाग समुद्र के रेतीले तटों के समीप होते हैं, उन भागों में वायु धूल और रेत के कण उठा लेती है और ऐसे भागों में वायु का कार्य अधिक शीघ्रता से होता है। नदियों के कछारों से भी हवा धूल के कण उड़ा ले जाती है।

१८१. वायु में धूलकणों की मात्रा—हवा कितने अधिक और कितने बड़े आकार के कण उड़ा पाती है, यह उसकी गति पर निर्भर रहता है। मन्द गति से चलने वाली हवा में बहुत बारीक कण उड़ सकते हैं और उनकी मात्रा भी कम होती है। परन्तु प्रचण्ड गति से चलने वाली आँधी में बड़े-बड़े ककड़ भी उड़ जाते हैं तथा धूलकण इतने प्रचुर परिमाण में होते हैं कि दिन की रात हो जाती है। भारत के थार मरुस्थल में चलने वाली आँधियों के कारण अनेक बार इतना अँधेरा हो जाता है कि यातायात रुक जाता है। गर्मी में चलने वाली 'लू' इस प्रकार बालू के बादल उड़ाती है कि मार्ग में चलना कठिन हो जाता है। धूलकणों को हटाने के लिए यह आवश्यक नहीं कि आँधी ही चले। कई बार जब हवा बन्द हो जाती है, तब भी दोपहर की तेज गर्मी से धरातल की हवा गर्म होकर ऊपर की ओर फैलती है और जोर से भँवर की तरह घूमती है। इस घूमने के कारण धूलकण बड़ी तेजी से नाचते हुए एक स्तम्भ की तरह आगे बढ़ते हैं। ऐसे धूलस्तम्भ राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में गर्मी की ऋतु में दोपहर के समय बहुत बार देखने में आते हैं।

प्रतिवर्ष मरुस्थलों से उड़ने वाली धूल की मात्रा का अनुमान लगाना बहुत कठिन है। यद्यपि जल द्वारा हटाए गए शिलाखण्डों की तुलना में वायु द्वारा हटाई हुई धूल-मिट्टी की मात्रा नगण्य-सी है, परन्तु वायु की एक विशेषता जल से बढ़कर है। जल ऊँचे स्थानों से काटकर लाया हुआ पदार्थ निचले प्रदेशों में जमा करता है तथा उसका प्रभाव जलधाराओं के प्रवाह-क्षेत्र तक सीमित रहता है। इसके विपरीत वायु धूलकणों को उड़ाकर संसार के किसी भी दूरस्थ भाग में पहुँचा सकती है। सहरा मरुस्थल से उड़ाई हुई धूल को भूमध्यसागर के पार दक्षिणी यूरोप में पहुँचा दिया जाता है।

१८२. वायु का क्षरणात्मक कार्य (अपक्षरण)—हवा के साथ उड़कर आये

रगड़ से चट्टानें उस प्रकार घिस जाती हैं जैसे रेती से लकडी आदि घिस जाती है। आँधी की धूल में स्फटिक पत्थर (Quartz) के कण मिले रहते है। स्फटिक के कण बहुत ही कठोर और तीक्ष्ण धार वाले होते हैं। अतः आँधी में चट्टानों को घिस डालने की प्रचण्ड शक्ति होती है। कमजोर चट्टानें इन कणों की रगड़ से आसानी से घिस जाती हैं, परन्तु कठोर चट्टानों के घिसने में पर्याप्त समय लगता है। समुद्रतट के पास मकानों की खिडकियों के काँच एक ही आँधी से धुँधले पड जाते हैं और उन पर अनेकों खरोंचें पड जाती हैं। कई रेगिस्तानों में आँधी की चोट से रेल की पटरियाँ भी घिसी हुई देखी गई है। मिस्र देश की सुप्रसिद्ध स्फिन्क्स मूर्ति को आँधियो ने बुरी तरह घिस डाला है। लीबिया देश में मरुस्थल की परिस्थितियाँ पूर्ण रूप से मिलती हैं। अतः इस देश में आँधियो के क्षयकार्य ने विचित्र दृश्य उपस्थित कर दिए है।



चित्र ६२. लीबिया मरुस्थल का एक दृश्य

लीबिया के दक्षिणी भाग में धरातल पर चूने के पत्थर की अधिकता है। चूने का पत्थर अपेक्षाकृत **नरम** होता है, अतः इन चट्टानो को घिसकर चिकना तथा नालीदार बना दिया है। इस देश के उत्तरी भाग मे बालुका-प्रस्तर (Sandstone) की अधिकता है। आँधियो ने इन चट्टानो को घिस-घिसकर ऊबड-खाड़ब बना दिया है।

धूलकण हवा में नीचे की ओर अधिक रहते है, परन्तु ज्यो-ज्यो ऊपर की ओर जाते हैं धूलकणों की मात्रा घटती जाती है। फलतः ऊपर की ओर निकली हुई चट्टानों का निचला भाग अधिक घिसता है और ऊपर का भाग कुछ कम घिसता है। इस प्रकार के कटान से नीचे की ओर पतले और ऊपर की ओर मोटे प्राकृतिक स्तम्भ बन जाते हैं। धीरे-धीरे इन विचित्र स्तम्भो की जड़ बिलकुल क्षीण हो जाती है और तब ये स्तम्भ धराशायी हो जाते हैं।

यदि लम्बे समय तक हवा एक ही दिशा में चलती है, तो कटान एक ही त
होती है। परन्तु यदि हवा के रुख में परिवर्तन होता है, तो घिसाव दूसरी त
भी होता है। इस तरह के घिसाव से शुष्क प्रदेशो में विचित्र आकृतियों के गो
नुकीले, कई धार वाले और चिकने पाषाण-खण्ड पाये जाते हैं। ये पाषाण-खण्ड
लगते हैं मानों किसी ने छेनी से घिसघिसाकर तैयार किए हों। ऐसे पाषाण-खण्डों
वायु-विरचित पाषाण-खण्ड कहते हैं। वायु-विरचित पाषाण-खण्डों की एक मोटी प
स्काटलैण्ड के उत्तर-पश्चिम में मिली है जिसके कारण यह अनुमान लगाया गया
कि किसी युग में यह प्रदेश शुष्क जलवायु का अनुभव कर चुका है।

१८३. **वायु का निक्षेपात्मक अथवा रचनात्मक कार्य**—वायु की गति में क
होते ही उसमे धूल के कणों को उड़ा ले जाने की शक्ति कम हो जाती है। अतः
अपने बोझ को पटकने लगती है। इस प्रकार वायु द्वारा जमा की हुई धूल-मिट्
स्थायी भी जमा रह सकती है अथवा अस्थायी भी रह सकती है। अस्थायी जमा
हुई धूल-मिट्टी को हवा के झोंके एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर पटक देते हैं
वायु के रचनात्मक कार्य का सुन्दर नमूना बालू के टीलों और लोयस मैदानों
निर्माण है। कुछ बालू की चट्टानें भी वायु द्वारा बालू के परतों को जमा करने
बनी हैं।

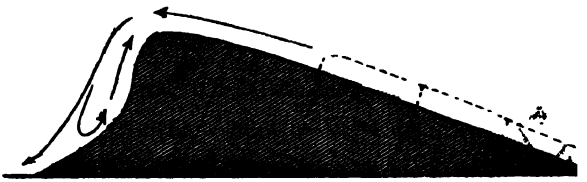
१८४. **बालुका-स्तूप** (Sand Dunes)—हवा जिन बालू के कणों को उ
ले जाती है वे जब अनेक प्रकार के अनिश्चित आकार वाले टीलों के रूप में जमा
जाते हैं, तो उन्हे बालू के टीले या बालुका-स्तूप कहते है। बालुका-स्तूपों की रचना
लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है—(१) प्रचुर परिणाम में सूक्ष्म कणो
होना, (२) बालू के कणो को उडाने की क्षमता रखने वाली प्रचण्ड गति की आँ
तथा (३) वायु को रोकने वाले अवरोधक।

सर्वप्रथम बालुका-स्तूपों के निर्माण के लिए प्रचुर परिणाम में बालुका-कर
का होना आवश्यक है। ऐसी अनंत रजराशि मरुस्थलों और सागर के उन त
पर मिल सकती है जहाँ बालू अधिक जमा होती है। अतएव मरुस्थलों और बालुक
आच्छादित सागर-तटों पर ही बालू के टीलों का साम्राज्य है। परन्तु हमें यह न
समझ लेना चाहिए कि ऐसे प्रदेशों में समस्त भूमि पर टीले-ही-टीले फैले होंगे। वि
में सबसे अधिक बालुका-स्तूपों वाले अरब देश में धरातल के एक-तिहाई भाग पर
बालू के टीले हैं। विशाल सहरा रेगिस्तान के केवल नवें भाग पर ही बालू के ढेर है
इन मरुस्थलों के शेष भाग पर शिलाखण्ड, वायु-विरचित पाषाण-खण्ड अं

की बनावट पर निर्भर है। जिन शुष्क प्रदेशों में धरातल पर बालुका-प्रस्तर (Sandstone) की अधिकता होगी, वहाँ बालुका-कणों की प्रचुरता होगी। संयुक्त राज्य के यूटा और अरीजोना राज्यों में बालू की चट्टानें अधिक हैं। अतः इन राज्यों में बालू के टीले भी अधिक बन गए हैं। परन्तु जहाँ चूने की चट्टानें अधिक होती हैं अथवा जहाँ शेल पत्थर का बाहुल्य होता है, वहाँ बालुका-कणों की कमी से टीलों का अभाव रहता है। यही कारण है कि दक्षिणी नेवेदा राज्य में शुष्क जलवायु होते हुए भी टीले नहीं हैं।

शुष्क प्रदेशों में गर्मी की अधिकता से वायु-भार में बहुत अन्तर पड़ जाया करता है। अतः इन भागों में तेज़ आँधियाँ चला करती हैं जो धूलकणों को हटाती रहती हैं।

बालुका-स्तूपों के निर्माण के लिए तीसरी आवश्यकता आँधी के मार्ग में बाधा उपस्थित होना है। शुष्क प्रदेशों मे सूर्य के ताप से चट्टानों से टूटे हुए बालुका-कण आँधी से उड़ तो जाते हैं, परन्तु स्तूपों का निर्माण वही होता है जहाँ वायु को रोकने के लिए कोई अवरोधक हो। जब धूल से भरी आँधी चल रही हो, उस समय किसी



चित्र ६३. बालुका-स्तूप

झाड़ी या पेड़, ऊँचे उठे हुए शिलाखण्ड, ऊँची-नीची भूमि अथवा कभी-कभी घनी घास के मार्ग में आजाने से आँधी का वेग उस स्थान पर कम हो जाता है। फलतः, वायु सम्पूर्ण धूल को उड़ा ले जाने में असमर्थ होती है और कुछ धूल वहीं गिरकर जमा हो जाती है। जब यह बालू का ढेर काफी ऊँचा हो जाता है, तो वह स्वयं भी वायु का रास्ता रोक लेता है और उसके ऊपर निरन्तर थोड़ी-बहुत धूल जमा होती रहती है। इस प्रकार टीले की ऊँचाई बढ़ती रहती है।

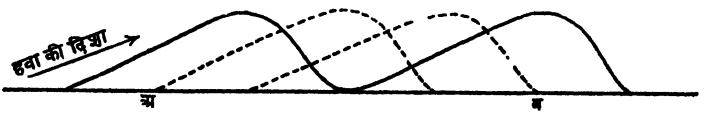
१८५. स्तूपों का आकार—बालुका-स्तूप विचित्र प्रकार के अनेक आकार वाले होते हैं। कहीं गोल, कहीं नवचन्द्राकार या चपटे, फैले हुए अथवा एक दूसरे से सटे हुए आदि अनेक रूपों में उनके दर्शन होते हैं। इनके विभिन्न रूप मुख्यतः वायु की प्रवाह-दिशा पर निर्भर होते हैं। जिस दिशा से हवा चलती है, उस ओर बालू गिरकर जमा होती रहती है जिससे इस तरफ टीले का ढाल लम्बा और धीमा

(Gentle) होता है। परन्तु दूसरी तरफ बालू खिसककर जाती है, अतः उधर बालू के कण जितना संभव होता है उतने ही एक दूसरे पर सीधे स्थित हो जाते हैं जिससे इस ओर का ढाल प्रपाती होता है। यदि हवा निरन्तर एक ही दिशा में बहती है, तो वह स्तूपों की दोनों बगलों पर कुछ आगे तक रेत जमा कर देती है जिससे किनारों पर दो सींग से बन जाते हैं। वायु की विपरीत दिशा से देखने पर स्तूप का आकार नवचन्द्र-सा दिखाई पड़ता है। यदि आँधी चारों तरफ से चलती है, तो टीले का आकार गोल बन जाता है। परन्तु यदि आँधी की कोई निश्चित दिशा नहीं होती, तो आकार भी विचित्र प्रकार के बन जाया करते हैं।

स्तूप की विशालता बालू की प्रचुरता पर निर्भर होती है। जिन प्रदेशों में बालू की अधिकता होती है और आँधियाँ भी अधिक आती रहती हैं, उनमें स्तूपों की ऊँचाई साधारणतया १०० फुट तक हो जाती है। भारतीय थार मरुस्थल में ५० फुट से २०० फुट तक की ऊँचाई के स्तूप मिलते हैं। अधिक ऊँचे स्तूप थार के पश्चिमी भाग में हैं। कुछ स्तूपों की लम्बाई २ मील तक देखी गई है और कुछ ४०० फुट ऊँचे हैं। सहारा मरुस्थल में भी ४०० फुट ऊँचे स्तूप पाये जाते हैं।

स्तूपों का ऊपरी तल रेत की पतली लहरों से युक्त होता है। इसकी उपमा उस तालाब के जल से दी जा सकती है जिसमें हवा चलने से हिलोरें उठ रही हों। लगभग सभी स्तूपों के तल में यह विशेषता मिलती है। जिन भागों में हवा की दिशा बदलती रहती है, उन भागों के स्तूपों में लहरों के निशान स्पष्ट नहीं रहते बल्कि कहीं आड़े, कहीं तिरछे और कहीं एक दूसरे को काटते रहते हैं।

१८६. स्तूपों का स्थान परिवर्तन—इन बालुका-स्तूपों की बालू जब तक स्वतन्त्रतापूर्वक उड़ सकती है, तब तक इनका स्थान बदलता रहता है। स्तूप के शिखर की बालू धीरे-धीरे हवा से उड़कर कुछ आगे गिरती रहती है। ढाल की बालू खिसकती हुई शिखर तक पहुँचती है और वहाँ से आगे को लुढ़क जाती है। अन्त में धीरे-धीरे



चित्र ६४. स्तूपों का स्थान परिवर्तन

सारा टीला ही आगे पहुँच जाता है। टीलों की आगे बढ़ने की गति अधिक-से-अधिक एक वर्ष में १०० फुट होती है। टीलों की इस प्रकार की यात्रा से रेगिस्तान अपना विस्तार किया करता है। अनेकों उपजाऊ खेत बालू फैल जाने से उजाड़ बन जाते हैं।

रेगिस्तान बढ़ने से मिस्र और सीरिया के बड़े-बड़े नगर रेत के नीचे दब गए थे। भारत की सैन्धव सभ्यता का अभिमान, मोहनजोदड़ो नगर संभवतः रेत मे दबकर नष्ट हो गया। फ्रांस के पश्चिमी तट पर समुद्री बालू की बाढ़ से सैकड़ों गाँव नष्ट हो गए। इस बाढ़ को लाण्डीज प्रदेश में वनस्पति उगाकर ही रोका जा सका था। भारत का थार मरुस्थल भी निरन्तर धीरे-धीरे आगे को बढ़ रहा है जिससे उत्तर प्रदेश का पश्चिमी भाग उजाड़ खण्ड बन जायगा। इसकी वृद्धि को रोकने के लिए भारतीय सरकार वृक्षों की पंक्तियाँ लगाने की योजना बना रही है।

कई विशाल स्तूप गतिविहीन भी होते है। इनकी ऊपरी बालू बहुत थोड़ी मात्रा में इधर-उधर उड़ जाती है। इनके गतिविहीन होने के दो कारण हैं। प्रथम तो इन टीलों पर घास या झाड़ियाँ उगकर उनकी बालू को स्थिर बना देती है। दूसरे, वर्षा का जल इनके भीतर पहुँचकर बालू के कणों को नम बना देता है जिससे कणों में स्थिरता आ जाती है।

१८७. **स्तूपों की उपयोगिता**—मरुस्थलो में ये बालुका-स्तूप पानी को सोख लेने के कारण उपयोगी सिद्ध होते हैं यद्यपि मरुस्थलों में बहुत कम वर्षा होती है परन्तु उसका अधिकांश भाग बालू के असंगठित कणों में होता हुआ पृथ्वी में समा जाता है जिससे केटीलों नीचे जलरेखा (Water Table) ऊँची उठ जाती है। इन भागों में जलरेखा टीलों के आकार के अनुसार ऊँची-नीची होती रहती है। जहाँ भी जलरेखा ऊँची होती है, वहाँ थोड़ी-सी निचाई पर ही काफी जल मिल जाता है और वहीं नखलिस्तान बन जाता है।

१८८. **लोयस**—हवा द्वारा जमा की हुई बारीक मिट्टी को लोयस (Loess) कहते हैं। मध्य यूरोप, उत्तरी चीन तथा मिसीसिपी की घाटी में हवा ने बारीक कण वाली मिट्टी बिछा दी है। उत्तरी चीन में इस मिट्टी की गहराई कही-कही २०० फुट तक पहुँच गई है। अन्य भागों में इसकी गहराई २० फुट से ४० फुट तक और कहीं-कहीं १०० फुट तक है। इस मिट्टी में दो विशेषताएँ पाई जाती हैं। एक तो इसमें अन्य चट्टानों के समान परत नही होते, बल्कि ढेर के रूप में एकत्र हुई प्रतीत होती है। दूसरे, इस मिट्टी के कण बहुत ही बारीक होते हैं। इन विशेषताओं से ज्ञात होता है कि अतीत में निरन्तर चलने वाली आँधियों ने इस मिट्टी को स्थायी रूप से निचले भागों में जमा किया होगा और महाद्वीपीय ग्लेशियरों द्वारा घिसे हुए भागों से बारीक मिट्टी को हवायें उड़ा लाई होंगी। यह मिट्टी पानी को जल्दी सोख लेती है और ऊपरी तल बड़ी जल्दी सूखा-सा हो जाता है। नदियाँ इसको बड़ी

आसानी से काट देती है। अतः इस मिट्टी में घाटियाँ बहुत गहरी होती हैं। इस मिट्टी में बहुत से स्थल के जीवों के अवशेष मिले हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि इसका जमाव समुद्र में नहीं हुआ।

प्रश्न

1. Describe the work of waves as agents of denudation.
2. What are the characteristics of wind erosion ?
(*All. M.A. 1950, Ajmer Inter. 1951*)
3. Compare and contrast the work of wind with that of running water.
(*Ban. B.A. & B.Sc. 1949*)
4. Write short notes on :—
Burkhan, Dunes, Loess, and Desert scenery.

चोदहवाँ अध्याय

मैदान (Plains)

१८९. स्थलरूपों में मैदान का महत्त्व—पृथ्वी के धरातल पर अनेक प्रकार के विचित्र दृश्य हैं। कहीं पहाड़ है तो कही घाटियाँ; कहीं समतल मैदान है तो कहीं ऊबड़-खाबड़ पठार। पृथ्वी के इन रूपो को तीन मुख्य भागों में विभाजित कर सकते हैं—मैदान, पर्वत-प्रदेश तथा पठार। स्थलरूपों के विभिन्न भेदों में मैदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्षेत्रफल के विचार से भी मैदानों का स्थान सर्वप्रथम है क्योंकि स्थल के अधिकांश भाग पर इन्हीं का विस्तार है। दूसरे, मैदान अति प्राचीन काल से ही मानव के क्रीड़ास्थल रहे हैं। संसार की विभिन्न सभ्यतायें और संस्कृतियाँ मैदानों में ही जन्मीं तथा पल्लवित हुईं। आज भी संसार की जनसंख्या का अधिकांश भाग मैदानों में ही निवास पाता है। खेती के लिए अनुकूल वातावरण तथा आवागमन की सुख-सुविधा होने के कारण ही मैदान मानव के लिए आकर्षण के प्रधान केन्द्र रहे हैं।

१९०. मैदान किसे कहते हैं—मैदान उस विस्तृत समतल भूभाग को कहते हैं जिसके ऊँचे-से-ऊँचे और नीचे-से-नीचे भागों में ५०० फुट से अधिक अन्तर न हो और जिसका ढाल क्रमिक (Gradual) हो अर्थात् जो धीरे-धीरे ऊँचा या नीचा होता गया है। कुछ लोगों के अनुसार मैदान स्थल के वे विस्तृत भूभाग हैं जो समुद्रतल से ५०० फुट तक ऊँचे हों। मैदानों की यह परिभाषा ठीक नहीं है। कई मैदान समुद्रतल से सकड़ों फुट ऊँचे हैं जैसे उत्तरी अमेरिका का बड़ा मैदान। परन्तु बहुत से ऐसे भी हैं जो समुद्रतल से नीचे हैं जैसे जोर्डन नदी की घाटी (फिलिस्तीन)। ऊँचाई-निचाई के अनुसार मैदानों की निश्चत पहचान नहीं हो सकती। कई मैदानों की ऊँचाई पठारों या पर्वतों से अधिक है। परन्तु ऊँचे-से-ऊँचे मैदान भी अपने निकटवर्ती पठारों और पर्वतों से नीचे ही होते हैं क्योंकि ऊँचे मैदान भी पठारों या पर्वतीय प्रदेशों के घिसने से बने हैं। मैदानों की मुख्य पहचान उनका ढाल है। मैदानों का ढाल क्रमिक होता है। चूँकि मैदान समतल-स्थापक शक्तियों के परिश्रम के फल हैं अतः इनका ढाल क्रमिक होना स्वभाविक है।

१९१. मैदानों के भेद—निर्माण-विधि के अनुसार मैदानों के तीन भेद हैं—

(क) अपक्षरण से बने हुए मैदान (Erosional Plains)।

(ख) निक्षेप निर्मित या जमाव के द्वारा बने हुए मैदान (Depositional Plains)।

(ग) भूपटल की गतियों द्वारा बने हुए मैदान (Plains of crustal movements)।

अपक्षरण द्वारा निर्मित मैदान

भूमि की क्षरण-क्रिया के दो भेदो के अनुसार इन मैदानो के भी तो भेद है। जो मैदान भूमि के कटाव या घिसाव से बने है उन्हें अन्तरास्थलीय मैदान (Interior Plains) कहते है। (१) जलधाराएँ अथवा हिमानियाँ (Glaciers) स्थल को घिस-घिसाकर इन मैदानों का निर्माण करती है। (२) जो मैदान जल की घुलनशीलता के कारण स्थल के क्षरण होने से बने हैं उन्हें कार्स्ट मैदान कहते है। कार्स्ट मैदानों का निर्माण भूमिगत जल (Ground Water) की प्रतिक्रिया से हुआ है।

१९२. **अन्तरास्थलीय मैदान** (Interior Plains)—इन मैदानों को नदियाँ और ग्लेशियर बनाते हैं। अत. इनके दो उपभेद है—

(अ) नदी-घर्षित स्थलीप्राय मैदान (Peneplains)—नदियो ने स्थल के भीतरी भागों में विशाल भूखण्डों को काट-छाँटकर सपाट मैदान बना डाला है। रूस, कनाडा, सयुक्तराज्य, ब्राजील, अर्जेण्टाइना तथा आस्ट्रेलिया के भीतरी भागों में नदियों के बनाए हुए मैदान फैले हुए है। इन मैदानों के धरातल पर परतदार चट्टानें बिछी हुई हैं। जो मैदान कटान की प्रारम्भिक अवस्था में होते हैं, वे समुद्रतल से काफी ऊँचे होते है। इन मैदानों को नदियाँ स्थान-स्थान पर काट देती है। नदियों की घाटियाँ सँकरी और तट सपाट होते है। घाटियों के संकीर्ण होने से नदियों में प्राय: बाढ़ आती रहती है। घाटियों के दोनो किनारे एकदम सीधे खडे रहते है। संयुक्तराज्य के दक्षिणी डकोटा राज्य में बैड लैण्डस् (Bad lands) कटान की प्रारम्भिक अवस्था में हैं। यहाँ नदियों के बीच की ऊँची समतल भूमि में ही खेती होती है तथा वे ही आवागमन के प्रधान मार्ग है।

कुछ मैदान कटान की मध्य अवस्था में होते हैं। ऐसे मैदानों में नदियों के बीच की ऊँची समतल भूमि कट-कटकर घाटी के रूप में परिवर्तित होती जाती है और इस प्रकार घाटी चौडी होती जाती है। नदियों के बीच की समतल ऊँची भूमि कटते-कटते ऊँचे पहाडी टीलों (Monadnocks) के रूप में रह जाती है। इस अवस्था में ऊँची समतल भूमि के स्थान पर घाटियाँ ही मनुष्य के आवास-स्थल तथा आवागमन के मार्गों की केन्द्र बन जाती हैं। अमेज़िन बेसिन का दक्षिणी भाग, उत्तरी भारत का दिल्ली के पश्चिम का अरावली प्रदेश तथा यूरोपीय रूस का मध्यवर्ती भाग इस प्रकार के मैदानों के कुछ उदाहरण हैं।

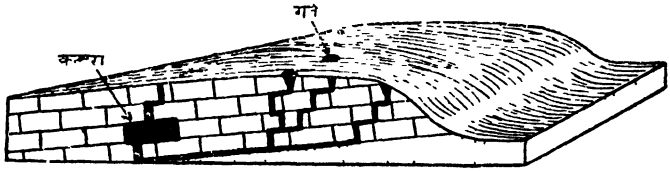
कटान की अन्तिम अवस्था में ऊँची पहाडियों की घिसाई होने से उनकी ऊँचाई घटती जाती है। नदियों की घाटी पूर्णतया विस्तृत हो चुकती है, अतः अब वे अवशेष ऊँची पहाडियों को काट-काटकर सपाट मैदानों में बिछा देती है। बहुत ही सख्त चट्टानें कुछ झुकी हुई पहाडियों के रूप में दिखाई देती है। ऐसे मैदानों को क्वेस्टा मैदान (Cuesta Plain) कहते हैं। फ्रांस देश का पेरिस बेसिन इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

(ब) **हिमानी-घर्षित स्थलीप्राय मैदान**—आज से सहस्रो वर्ष पूर्व महाद्वीपीय ग्लेशियर ने उत्तर-पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका के उत्तरी भाग को घिसकर मैदान बना डाला। इन मैदानों के कुछ सुन्दर नमूने फिनलैण्ड, स्वीडन और कनाडा के पूर्वी भाग में देखे जा सकते है। बहती हुई हिमशिलाओं के भारी बोझ के घर्षण से पूर्ववर्ती पहाड़ियाँ और घाटियाँ बिलकुल बदल गई। घाटियों के पार्श्व मे आगे की तरफ निकले हुए कोने घिसकर चिकने और गोल बन गये तथा घाटियों की तली पर बारीक बजरी फैल गई। हिमानी ने पहाड़ियों को भी घिस-घिसाकर चिकना और गोल बना दिया। धरातल के कट जाने से बहुत-सी झीलें बन गयीं। इन मैदानों की धरती खेती के योग्य नही है अत. यहाँ पर अधिकांश भाग जगलो से ढँके है। भूमि के ऊबड़-खाबड बन जाने से इन भागों में जलविद्युत उत्पन्न की जाती है।

१९. **कार्स्ट मैदान**—संसार के जिन भागो में भूपटल चूने की चट्टानों से बने हैं और ऊपरी सतह पर अन्य प्रकार की पतली चट्टानें बिछी है, उन भागो में भूमिगत जल धरातल के नीचे पहुँचकर उन चट्टानों को घुलाता रहता है। इस घुलन-क्रिया से विचित्र प्रकार के मैदान बन जाते है। ऐसे मैदानो को कार्स्ट मैदान कहते है। चूने की चट्टानों में चूने का पत्थर, खडिया और हरसोंठ (Gypsum) प्रमुख है। इन चट्टानों की रचना में केलशियम कार्बोनेट मुख्य होता है जो चूने का ही एक रूप है। चूने की चट्टानें काफी सख्त होती है और वर्षा के जल का इन चट्टानों पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। परन्तु जब यह जल भूमि में प्रवेश करता है, तो इसमें कार्बन डाईऑक्साइड मिल जाता है। कार्बन डाईऑक्साइड मिला जल चूने को बड़ी जल्दी घुला डालता है। चूने की चट्टानें भूतल पर बहुतायत से पाई जाती है और लगभग सभी स्थानों पर इनका क्षेत्रफल काफी विस्तृत है। यूगोस्लेविया, दक्षिणी फ्रान्स, फ्लोरिडा प्रायद्वीप, यूकटन प्रायद्वीप और क्यूबा द्वीप में ये चट्टानें धरातल के निचले भाग में स्थित हैं और इनके नीचे अन्य प्रकार की अभेद्य चट्टानें बिछी हुई हैं। यूगोस्लेविया में एड्रियाटिक समुद्र के सहारे-सहारे ५० मील चौड़ी पट्टी पर चूने के पत्थर बिछे हैं। इस पट्टी का नाम कार्स्ट है। इसमें कार्स्ट मैदान

का सर्वोत्तम उदाहरण मिलता है। अतः इसी के नाम पर इस प्रकार के सभी मैदानों का नाम कार्स्ट मैदान पड़ गया है।

चूने की चट्टानों में क्षरणक्रिया धरातल के नीचे-ही-नीचे होती है और यही इन मैदानो की प्रमुख विशेषता है। कार्स्ट मैदानो मे धरातल पर घाटियाँ नहीं होती। कहीं-कही पर पास के भूखण्डो से बहकर आने वाली नदियों की घाटियाँ बनी होती है। बहुत से स्थानों पर सैकडों वर्गमील के क्षेत्रफल मे एक-दो नदियाँ भी बड़ी कठिनाई से मिलती है। यूगोस्लेविया के कार्स्ट मैदान में नारेन्ता नदी के अतिरिक्त धरातल पर कोई भी नदी नही है। वर्षा का सारा जल भूमि के अन्दर चला जाता है और वहाँ पर अपना-कार्य करता रहता है। धरातल पर बने हुए बड़े-बडे जल सोखने



चित्र ६५. कार्स्ट मैदान

वाले गर्त (Sink Holes), कन्दराये तथा कन्दराओं की छत टूट जाने से बने हुए प्राकृतिक पुल कार्स्ट मैदानों के धरातल की विशेषताएँ है।

कार्स्ट मैदान भूमिगत जल की प्रतिक्रिया द्वारा धीरे-धीरे विकसित होता है। इसके विकास के सम्बन्ध मे स्विजिक नामक विद्वान का मत है कि कार्स्ट मैदान के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि चूने की चट्टाने अभेद्य चट्टानो के ऊपर स्थित हों तथा यह चट्टानें जलपटल से ऊँची भी हो। धरातल की ऊपरी चट्टानों के सँधो मे होकर पानी नीचे पहुँचने लगता है। यदि दो परतो के बीच में कुछ स्थान खाली होता है, तो पानी को बहने की स्वतन्त्रता मिल जाती है और घुलाने की क्रिया भी अधिक वेग से होती है। ज्यों-ज्यो चूना घुलने से जोड़ अधिक चौड़े होते जाते हैं, त्यों-त्यों पानी की प्रवाह-गति भी अधिक तेज़ होती जाती है तथा सन्धिस्थान अधिक शीघ्रता से चौड़े होते जाते है। धीरे-धीरे सँधों का मुँह बढ़कर धरातल पर जल सोखने वाले छोटे-छोटे गर्त (Swallow Holes) बन जाते है जिनमें वर्षा का कुछ पानी भर जाता है। यही छोटे-छोटे गर्त कार्स्ट मैदान की मंज़िल के प्रथम सोपान हैं। इन गर्तो की संख्या और विस्तार में निरन्तर वृद्धि होती रहती है और धरातल के नीचे खोखला स्थान बनने लगता है। धीरे-धीरे नदी की धारा के नीचे ऐसा गर्त बन जाता है कि पूरी नदी का पानी उसी गर्त में विलीन हो जाता है। अब नदी की धरातल के

ऊपर की यात्रा समाप्त हो जाती है तथा नदी की पूर्व-निर्मित तलैटी पानी न बहने से सूख जाती है। अतः अब उसे शुष्क तलैटी (Blind Valley) कहते हैं।

धरातल से जलधाराओं के विलुप्त होते ही कटान की दूसरी अवस्था प्रारंभ होती है। स्विजिक से मतानुसार भूमिगत जल के तीन अलग-अलग स्तर विकसित हो चुकते हैं—

१) **अभेद्य चट्टानों के ऊपर जल का निम्नतम स्तर**—इस भाग में चट्टानों के बीच में बने हुए जलाशय और जलधाराएँ सभी ऋतुओं में जल से परिपूर्ण रहती हैं।

(२) **मध्य स्तर**—यह भाग निम्नतम भाग से ऊपर स्थित होता है। इस भाग की कन्दराओं और अन्य गर्तों में साल के अधिकांश भाग में पानी भरा रहता है। परन्तु पानी की कमी के समय यह भाग सूखा रहता है।

(३) **धरातल के ठीक नीचे का सबसे ऊपरी स्तर**—इस भाग में केवल अधिक वर्षा के समय पानी भरा रहता है और बाकी समय प्रायः सूखा रहता है।

यह आवश्यक नही है कि उपर्युक्त तीनों जल-स्तर सभी कार्स्ट मैदानों में मिल ही जायें। विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार इनमें बहुत परिवर्तन हो जाता है।

इस अवस्था में पानी का क्षरणकार्य चूने की चट्टानो में अदृश्य रूप से चलता रहता है और परत-के-परत घुलकर खोखले स्थान बढ़ते जाते हैं। चूने की चट्टानों के नीचे अभेद्य चट्टानों के बिछे रहने के कारण इस क्षयकार्य की निचली सीमा निर्धारित हो जाती है। पानी की अधिक मात्रा अभेद्य चट्टनों को भेदकर नहीं जा पाती, फलतः ऐसे भागों में जलपटल पर्याप्त नीची पहुँच जाती है। धीरे-धीरे खोखले स्थान की छत घुल-घुलकर पतली होती जाती है और कुछ दिन बाद नीचे को धँस जाती है। इस प्रकार एक विशाल गर्त बन जाता है। कहीं-कहीं गर्त के ऊपर छत का कुछ भाग लटका रह जाता है जो प्राकृतिक पुल जैसा बना रह जाता है।

यदि खोखले स्थान की छत की चट्टान काफी सख्त और मोटी होती है, तो वह नीचे नहीं धँसती। ऐसी अवस्था में खोखले स्थान के विस्तार में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। कहीं-कहीं इनका विस्तार इतना अधिक हो जाता है कि इनको गुफायें कहने लगते हैं। ये गुफायें इतनी सुन्दर लगती हैं मानो किसी ने इन्हें खोद-खोदकर बनाया हो। इन गुफाओं की लम्बाई-चौड़ाई कई-कई मील तक होती है। संयुक्त राज्य के केन्टुकी राज्य के दक्षिणी भाग के मध्य में धरातल पर चारों ओर जल सोखने

वाले गर्त और ऊँचे टीले ही दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ पर एक ऐसी विशाल गुफा पाई गई है जिसकी लम्बाई ८ मील से भी अधिक और चौडाई तीन मील के लगभग है। इस जगत्प्रसिद्ध गुफा की अगल-बगल में बहुत-सी गलियाँ भी हैं जिनकी चौड़ाई ५० गज और ऊँचाई २५ गज के लगभग है। न्यू मैक्सिको राज्य में कार्लबाद स्थान पर एक गुफा की एक गली आध मील लम्बी, २०० फुट चौड़ी और १,००० फुट गहरी है।

१९४. निक्षेप-निर्मित मैदान (Depositional Plains)—मौसमी क्षरण द्वारा तोड़े हुए शिलाखण्ड नदियो, हिमानियो तथा वायु के द्वारा ऊँचे भागो से हटाये जाते हैं और निचले भागो मे जमा होते रहते है। इस प्रकार जमा होने से जो मैदान बनते हैं उन्हें निक्षेप-निर्मित मैदान कहा जाता है। अपनी उत्पत्ति के अनुसार इनके भी कई उपभेद हो सकते हैं : (१) नदी द्वारा निर्मित, (२) हिमानी द्वारा निर्मित, (३) वायु द्वारा निर्मित (४) झीलों के भरने मे बने मैदान तथा (५) ज्वालामुखी के जमाव से बने मैदान।

(१) **नदी-निक्षेप-निर्मित मैदान**—नदी समतल-स्थापन की सबसे महत्त्वपूर्ण साधक है। कटे हुए पदार्थ को हटाने का सबसे अधिक भार नदियों के ही ऊपर है। इस हटाए हुए भूपदार्थ को नदियों की कछार (Alluvium) कहते हैं। नदियाँ अपनी कछार को मार्ग में जमा कर देती है जिससे मैदान बन जाते हैं। इस प्रकार बने हुए मैदानों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है : (१) डेल्टा, (२) बाढ़ के मैदान, (३) पर्वत-प्रान्ती मैदान या भावर।

१९५. डेल्टा के मैदान (Delta Plains)—जब नदी समुद्र या झील में प्रवेश करती है, तो अपने साथ बहाकर लाई हुई मिट्टी अपने सगम पर जमा कर देती है। नदी की मिट्टी के जमते रहने से धीरे-धीरे सागर का कुछ भाग पट जाता है और स्थल के साम्राज्य में वृद्धि हो जाती है। स्थल के इस नवीन सहयोगी की आकृति ग्रीक लिपि के एक त्रिभुजाकार अक्षर से मिलती-जुलती है जिसका नाम डेल्टा है। ग्रीक लोगों ने नील नदी के मुहाने पर डेल्टा वर्ण की आकृति का स्थलखण्ड देखा और उसका नाम डेल्टा रख दिया। तब से सभी नदियों के मुहाने पर जमाए हुए मैदानों को डेल्टा कहते हैं। संसार की सभी नदियाँ डेल्टा नही बनाती, परन्तु सभी डेल्टा नदियों ने ही बनाए हैं। नील, पो, गंगा और ह्वांग-हो आदि नदियों के डेल्टा इस प्रकार के मैदानों के सुन्दरतम उदाहरण हैं। डेल्टा बनने के लिए यह आवश्यक है कि नदियाँ अपने साथ काफी मिट्टी लाती हों तथा मुहाने पर बिछी हुई मिट्टी को भाटे की लहर अथवा समुद्री धाराएँ अपने साथ न बहा ले जाती हों। यदि नदी की जमा

मट्टी लहरों या धाराओं द्वारा हटती रहती है, तो नदी का मुहाना जहाजों के
के योग्य बना रहता है जिसे ऐश्चुअरी कहते हैं।

नदियाँ अपने साथ लाई हुई चूरचार को सागर में डालकर स्थलखण्ड की
ओर बढ़ाने का अनवरत प्रयत्न करती रहती हैं। इस भाग में नदियों की
त बहुत धीमी होने के कारण डेल्टा की वृद्धि भी धीमी होती है। जब कभी
ाढ़ आ जाती है, तभी डेल्टा भूमि की ऊँचाई में कुछ वृद्धि हो जाती है तथा
ओर उसका कुछ विस्तार हो जाता है। इस प्रकार शनैः शनैः डेल्टा का
ोता है। डेल्टा का धरातल प्रायः समतल होता है। किसी भी स्थान पर
से ऊँची भूमि नहीं मिलती। डेल्टा भूमि के तल की मुख्य विशेषता वहाँ के
त प्राकृतिक ऊँचे कगार हैं जिनको पूरतट या लेवीज़ (Levees) कहा जाता
ट नदियों की लाई हुई मिट्टी के बने हुए ऊँचे टीले होते है जो नदी के दोनों
र बन जाते हैं। नदी के तट के पास इनकी ऊँचाई सबसे अधिक होती है।

इन पूरतटों (Levees) के बनाने का मुख्य कारण नदी का अपनी तलैटी में
त्र करते रहना है। डेल्टा भाग में नदी की प्रवाह-गति अत्यन्त मन्द होती है
अपनी सूक्ष्म कणों वाली कछार (Alluvium) को अपनी तलैटी में जमा
। नदी के मध्य भाग की अपेक्षा तट के पास पानी की प्रवाह-गति अधिक
ी है, अतः वहाँ पर काँप अधिक जमा होती है जिससे ऊँचे कगार बन जाते
ोसिपी नदी के डेल्टा में १५-२० फुट की ऊँचाई के पूरतट प्रकृति के अद्भुत
। तलैटी में मिट्टी जमा होते रहने से जल के प्रवाह में बाधा उपस्थित होती
दी बहुत-सी धाराओं में बँट जाती है। गंगा नदी के डेल्टा में नदी की अनेकों
छूट गई हैं जिनमें हुगली अति प्रसिद्ध है। कुछ काल बाद इन शाखाओं के भी
ज़ बन जाते हैं और इस प्रकार शाखा-प्रशाखाओं की संख्या बढ़ती जाती है।
ण डेल्टा भूमि त्रिभुज के आकार में फैलती जाती है और भूमि की अँगुलियाँ-सी
ओर फैल जाती हैं।

धाराएँ और लहरें डेल्टा की आकृति में बहुत परिवर्तन कर देती हैं। धारायें
ो हटाकर नदी की दो शाखाओं के बीच में जमा कर देती हैं तो नदी का पानी
एकत्र होने लगता है और एक झील-सी बन जाती है। नील नदी के मुहाने
प्रकार की बोरोलौस झील बन गई है।

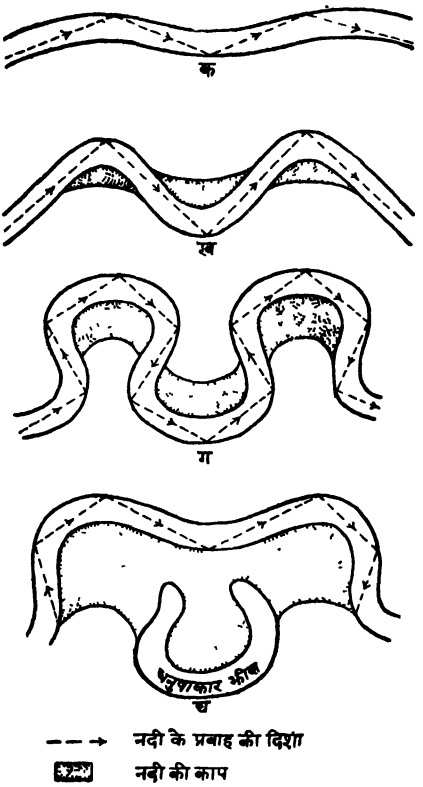
डेल्टा भूमि में प्रतिवर्ष नई मिट्टी जमा होती रहती है, अतः डेल्टा भाग बहुत
होते हैं। इसी कारण यहाँ अच्छी फसलें उत्पन्न होती हैं। डेल्टा भाग प्रायः
आबाद हैं। क्योंकि ऊँचे लेवीज़ पर पानी इकट्ठा नहीं रह सकता, इसलिए

लेवीज़ के भाग हा प्रमुख नगरों और रेलों आदि के केन्द्र हैं। प्राय: रेलें इन्हीं के सहारे-सहारे जाती है। नदी की बाढ़ से रक्षा करने के लिए प्राकृतिक बाँधों या लेवीज़ के ऊपर ही ऊँचे-ऊँचे बाँध बना दिए जाते हैं।

१९६. बाढ़ द्वारा निर्मित मैदान (Flood Plains)—नदियाँ अपने साथ कुछ पदार्थ बहाकर लाती हैं। यह पदार्थ पानी के थपेडे खाकर घिसता रहता है और छोटा होता जाता है। धीरे-धीरे इसके बारीक कण बन जाते हैं। नदी में बाढ़ आने के तथा घाटी के चौड़े होते समय यह सूक्ष्म कण वाली मिट्टी घाटी के बढे हुए भाग में बिछ जाती है। इस प्रकार मैदान का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। बाढ़ द्वारा निर्मित मैदान के बनने का श्रीगणेश तभी और उसी स्थान से होता है जब और जहाँ नदी अपने आधार-तल से समतल ढाल की स्थापना कर लेती है। इस स्थान से नदी के उद्गम-स्थान की ओर ज्यो-ज्यों क्रमिक ढाल या लगभग समतल की स्थापना करती जाती है, त्यों-त्यों इस मैदान का विस्तार भी ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। इस प्रकार के मैदानों की चौड़ाई नदी की घाटी की चौड़ाई के अनुसार होती है। कहीं-कहीं ऐसे मैदानों की चौड़ाई कुछ सौ गज़ों तक सीमित रहती है तथा कही पर यह चौड़ाई मीलो तक फैल जाती है। सामान्यतया नदी के मुहाने से उद्गम स्थान की ओर इनकी चौडाई कम होती जाती है।

नदी ज्यो-ज्यों पुरानी होती जाती है उसकी घाटी भी चौड़ी होती जाती है। धीरे-धीरे घाटी की चौड़ाई इतनी बढ़ जाती है कि घाटी का एक किनारा दूसरे किनारे से मीलों दूर हो जाता है और बीच के भाग में नदी बाढ़ के समय लाई हुई मिट्टी बिछाकर समतल मैदान बना देती है। नदियों में कई कारणों से बाढ़ आया करती है। अधिकतर नदियों के उद्गम स्थान पर वर्षा ऋतु में अधिक वर्षा होने से बाढ़ आती है। कुछ नदियों में ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ में हिम पिघलने से बाढ़ आ जाती है। भारत की सिन्धु नदी में हिमालय की बर्फ पिघलने मे गर्मी में बाढ़ आया करती है। बहुत-सी नदियों के उद्गमस्थान पर वनस्पति के कट जाने से वर्षा का जल स्वच्छन्द गति से बहकर नदी में मिल जाता है और नदी में बाढ़ आ जाती है। इन्हीं कारणों से नदी में जल की मात्रा बढ़ जाती है और जल किनारों के दोनों ओर बहुत दूर तक फैल जाता है। इन स्थानों पर जल की गति मन्द हो जाती है। फलत:, नदियों के द्वारा बहाकर लाई हुई मिट्टी इन किनारों पर जमा हो जाती है। इस प्रकार बाढ़ द्वारा अत्यन्त उपजाऊ मैदानों का निर्माण होता है। जब कभी मुख्य नदी और उसकी सहायक नदियों के बीच का भूमिभाग नष्ट होकर एक बड़ी घाटी का रूप धारण कर लेता है तो इस प्रकार समतल बने हुए मैदान को दोआब कहते हैं।

इन विस्तृत समतल मैदानों में नदी का मार्ग घुमावदार (Meandering) होता है। जब नदी की तली (Channel) चौड़ी हो जाती है तो नदी की प्रवाह-गति धीमी हो जाती है। ऐसी अवस्था में नदी की मिट्टी का कुछ भाग तली में जमा होने लगता है और नदी की गति में बाधा उत्पन्न होती है। फलतः, नदी सीधे बहने की अपेक्षा किनारों की ओर अधिक झुकने लगती है। चूँकि नदी के किनारे उसी की लाई हुई मिट्टी के बने होते हैं अतः जल्दी कट जाते हैं और नदी के बहाव में थोड़ा-सा घुमाव उत्पन्न हो जाता है। जब कटान नदी के एक किनारे पर अधिक बढ़ जाती है तो उसकी वृद्धि होना स्वाभाविक है। धीरे-धीरे प्रवाह-मोड़ के दोनों अन्तिम सिरे समीप आने लगते हैं और नदी का घुमाव नव-चन्द्रकार बन जाता है। किसी बाढ़ के समय नदी इन दोनों सिरों की बीच की भूमि को काट देती है और उस घुमाव को छोड़कर सीधी बहने लगती है। घुमाव वाली नवचन्द्राकार एवं जलभरी शाखा को धनुषाकार झील (Ox-bow lake) कहते हैं। इस प्रकार की धनुषाकार झीलें संयुक्त राज्य के दक्षिणी भाग में मिलती हैं। बाढ़ के समय काँप के जमा होने तथा वर्षा के पानी के साथ किनारे की बही हुई मिट्टी के भर जाने से ये झीलें कालान्तर में विलुप्त हो जाती हैं।



चित्र ६६.
नदी की प्रवाह-मोड का विकास

इस प्रकार के कई बाढ़ प्रदेशों में एक विशेषता और भी पाई जाती है। धरातल के किसी उथल-पुथल के परिणामस्वरूप जब कभी ऐसा प्रदेश कुछ ऊँचा उठ जाता है, तो पुरानी नदी में नवजीवन का संचार हो जाता है और नदी अपनी घाटी को गहरा काटने लगती है। इस कटान के कारण नवीन घाटी का निर्माण होने लगता है और पुराना मैदान ऊँचे चबूतरों के रूप में इस घाटी से स्पष्ट अलग दिखाई

पड़ता है। इन ऊँचे-ऊँचे चबूतरों को नदी उत्तल या बेंच (Alluvial Terraces) कहते हैं। इन ऊँचे चबूतरों पर बाढ़ का पानी नहीं पहुँच पाता क्योंकि ये नवीन घाटी से काफी अधिक ऊँचे होते हैं।

१६७. पर्वत प्रान्ती काँप के मैदान या भावर (Piedmont Alluvial Plains)—जब नदी पर्वतीय प्रदेश को छोड़कर मैदान में पहुँचती है तो उसको पहले की अपेक्षा धीमे ढाल पर बहना होता है जिससे उसकी गति में परिवर्तन हो जाता है। पर्वतीय प्रदेश में तीव्र गति से बहने के कारण उसके साथ बड़े आकार के शिलाखण्ड भी बहते चले आये थे। परन्तु गति में परिवर्तन होते ही वे नदी के मार्ग में ही जमा होने लगते हैं। धीरे-धीरे इनकी मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि नदी का प्रवाह अवरुद्ध होने लगता है और नदी कई धाराओं में फैलने लगती है। इन अवरुद्ध स्थानों पर नदी की मिट्टी जमा होने लगती है और धीरे-धीरे पंखे के आकार की तरह मैदान फैलने लगता है। इस प्रकार के मैदानो को भारतवर्ष में भावर के मैदान कहा जाता है।

पर्वत-प्रान्ती मैदान का विस्तार नदी के जल की मात्रा और उसके साथ बहाये हुए पदार्थों के परिमाण पर निर्भर रहता है। ऐसे मैदान प्रायः मोटी बजरी और मोटी बालू के बने हुए होते हैं। इनका ढाल पर्वततल के समीप अधिक होता है, परन्तु आगे की ओर कम होता जाता है। ढालू मैदानों में पानी जल्दी बह जाने के कारण इनमें सिंचाई की बड़ी समस्या बनी रहती है। अतः सामान्यतया इन मैदानों में खेती करने में बड़ी कठिनाई पैदा होती है। पर्वततल से कुछ आगे की ओर मैदान बारीक मिट्टी से बने होने के कारण खेती के उपयुक्त होते है। संसार के प्रसिद्ध पर्वत-प्रान्ती मैदानों में चिली की घाटी, स्पेन का वैलेनेशिया प्रदेश, तारिम बेसिन, समरकन्द प्रान्त तथा केलीफोर्निया में सैक्रेमैन्टो और सैन जोवाक्विन घाटियाँ सम्मिलित है।

१६८. हिमानी द्वारा निर्मित मैदान (Drift Plains)—हिमानी के अन्तिम सिरे पर हिम पिघल-पिघलकर जल के रूप में बहता जाता है। इस प्रकार की जलधारा में छोटे-छोटे शिलाखण्ड, बजरी, बालू, कीचड़, मिट्टी आदि मिले रहते हैं। कहीं-कहीं यह जल को इतना गँदला बना देते हैं कि जल दूध-जैसा श्वेत प्रतीत होता है। हिमालय में कई जगहों पर लोग इन्हें दुग्धाधराओं के नाम से पुकारते है। ये पदार्थ धीरे-धीरे तलैटी में जमा होने लगते हैं। पहले बड़े-बड़े शिलाखण्ड और फिर बड़े और छोटे रोड़े और फिर बालू आदि जमा होते हैं। इस प्रकार बहुत से मैदानों का निर्माण हुआ है।

महाद्वीपीय हिमावरण ने प्राचीन काल में उत्तरी अमेरिका और यूरोप के विशाल विस्तृत भाग में पत्थरो के टुकड़ों, मिट्टी, बालू आदि की मोटी परत बिछा दी जिससे बहुत बड़े मैदानों का निर्माण हुआ। ये मैदान मानव के उपयोग की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये मैदान विश्व के सबसे अधिक घने बसे हुए भागों में हैं और इनकी अत्यधिक उन्नति हुई है।

१९९. हवा के जमाव द्वारा निर्मित मैदान—हवा के निक्षेप द्वारा एशिया, यूरोप, उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिकाओं में लोयस मैदान बन गए हैं। इन मैदानों में चीन का उत्तर-पश्चिमी मैदान सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इन मैदानो का वर्णन हवा के निक्षेपात्मक कार्य में किया जा चुका है।

२००. झीलों के भराव से बने मैदान (Lacustrine Plains)—झीलों में नदियों की लाई हुई मिट्टी भर जाती है और मैदान बन जाते हैं। उत्तरी अमेरिका के प्रेरी मैदान एक प्राचीन झील 'अगासीज़' के भर जाने से बने हैं। कैस्पियन सागर का उत्तरी भाग सूख रहा है और वहाँ मैदान बन रहा है।

२०१ ज्वालामुखी के उद्गार से बने मैदान (Volcanic Plains)—ज्वालामुखी के उद्गार के समय जो लावा निकलता है वह धरातल पर फैलकर मैदान बना डालता है। नेपिल्स नगर के पास विसूवियस पर्वत ने ऐसा ही एक मैदान बना डाला है।

२०२. भूपटल की हलचल से बने मैदान—इस प्रकार के मैदान समुद्रतट के समीप होते है अतः उन्हें तटीय मैदान (Coastal Plain) कहते हैं। भौगर्भिक शक्तियों की उथल-पुथल के कारण जब कोई महाद्वीपीय निमग्न तट (Continental Shelf) जल से बाहर निकलकर महाद्वीप का अंग बन जाता है तो यह नवीन भूभाग तटीय मैदान बन जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका (U.S A.) का दक्षिण-पूर्वी तट इसी प्रकार समुद्र से निकलकर तटीय मैदान के रूप में परिणित हुआ था। समुद्री लहरें भी अपने साथ मिट्टी लाकर तट के पास जमा करती रहती हैं और कालान्तर में तटीय मैदान बन जाता है। दक्षिण भारत का दक्षिण-पश्चिमी तट इसी प्रकार बना था।

२०३. मैदानों से लाभ : (१) खेती की सुविधाएँ—मैदानो में खेती की पूर्ण सुविधाएँ है। अन्य प्राकृतिक भागों के विपरीत मैदान समतल होते हैं, अतः इनकी मिट्टी वर्षा के साथ घुलकर बह नहीं पाती। नदियाँ इन मैदानों में उपजाऊ मिट्टी बिछाती रहती हैं। दूसरे, यदि मैदानो में वर्षा की कमी होती है तो नहरों द्वारा सिंचाई करके इन्हें उपयोगी बनाया जा सकता है। भूमि समतल होने के कारण सिंचाई के साधन सरलतापूर्वक और कम खर्च में बनाए जा सकते हैं।

(२) **यातायात की सुविधाएँ**—मैदानों में रेलें और सड़कें सरलता से बन जाती हैं तथा आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होती हैं। मैदानों में नदियों का बहाव धीमा होता है, अतः उनमें नावें और जहाज़ चल सकते हैं। उदाहरण के लिए ब्रह्मा की इरावदी नदी में भामो तक जहाज़ जा सकते हैं।

(३) **मनुष्य को बसने की सुविधायें**—जैसा कि पहले कहा जा चुका है मैदान प्राचीन समय से मनुष्य के क्रीड़ाक्षेत्र रहे है। आज भी संसार की तीन चौथाई से अधिक जनसंख्या मैदानों में ही निवास करती है। मैदानों में उत्तम जलवायु और उपजाऊ मिट्टी मिलती है जिससे अधिकांश लोग वही रहते हैं। मैदान आर्थिक जीवन की धुरी होते हैं अतः वहीं पर बड़े-बड़े नगर बस जाते हैं।

प्रश्न

1. Describe the formation of plains and give the types formed under various conditions. Give their uses also.
(*All. B.A. 1952, Agra B.A. 1948, 51, 54, Ajmer Inter 1949, U.P. Inter1944*)

2. What distinctive forms are produced by weathering in Karst Regions.
(*Agra B.A. 1955; All. B.A. 1952; Ban. B.A. & B.Sc. 1949*)

3. What factors make the hydrology and topography of limestone districts peculiar ? Give a concise account of the topography and drainage of a limestone district preferably in India.
(*I. A. S. 1953*)

पन्द्रहवाँ अध्याय

पर्वत (Mountains)

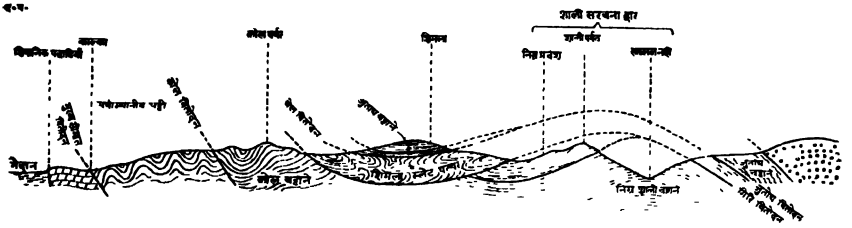
२०४ **महत्त्व**—स्वच्छ धवल हिम-मण्डित गिरिशृंगो द्वारा उच्च नीलाम्बर से सदर्प बाते करते, हरो-हरी घास और विविध भाँति की पुष्पमयी वृक्षावली का परिधान धारण कर मानव की कौतूहलजन्य जिज्ञासा को जाग्रत करते, अपूर्व सौन्दर्य-शालिनी झीलो एव कलकलनिनादिनी नदियो को काँख मे दबाए, विश्वमोहिनी छटा से दर्शको को विमुग्ध करते, पर्वत प्रदेश पृथ्वी के रहस्यमय पिटारे है । प्रकृति की कौन-सी लीला ने सहस्रो फुट ऊँची इन लम्बाकार दीवारो को धरातल पर खडा किया होगा, यह आज भी रहस्य ही है । इस रहस्य को जानने के जो प्रयत्न हुए है उनसे कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का पता चला है । इन्ही तथ्यो की सहायता से प्रकृति की अज्ञात व्यवस्था की एक झाँकी मिली है ।

२०५. **प्रथम विशेषता (परतदार चट्टाने)**—पर्वतीय प्रदेशो के अध्ययन से एक अत्यन्त महत्त्व की बात प्रकट हुई है । इन प्रदेशो मे प्रायः सर्वत्र ही परतदार चट्टाने (Sedimentary Rocks) पाई गयी है । जैसा कि हम पहले पढ चुके हैं परतदार चट्टानो का जन्म समुद्र के भीतर होता है । आल्प्स पर्वतमाला मे चूने का पत्थर विशाल मेहराबो (Arch) के रूप मे इस प्रकार मुड गया है मानो मोम का बना हुआ हो । हिमालय पर्वतमाला मे स्लेट-पत्थर आशिक रूप से रूपान्तरित होकर दूसरे प्रकार की चट्टानो के बीच मे फँसा हुआ है । इस प्रकार सभी पर्वतो में समुद्र में बनी हुई परतदार चट्टानो का बाहुल्य है । इससे प्रकट होता है कि पर्वतो का जन्म समुद्र में ही हुआ है ।

२०६. **द्वितीय विशेषता (पर्वतों की वक्राकृति)**—ससार के मानचित्र में पर्वत-प्रणालियो के अध्ययन से दूसरे महत्त्वपूर्ण तथ्य का पता चला है । संसार के प्रमुख पर्वतो की स्थिति समुद्रतट के समानान्तर दिखाई पड़ती है । दोनो अमेरिकाओं में पर्वतश्रेणियाँ पश्चिमी तट के समानान्तर उत्तर से दक्षिण तक चली गई हैं और यूरेशिया में ये श्रेणियाँ दक्षिणी तट के समानान्तर पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई हैं । इन पर्वतश्रेणियों की आकृति टेढ़ी-मेढ़ी है । आश्चर्य तो यह है कि यह टेढ़ी-मेढ़ी आकृति इन पर्वतो से पहले बने हुए भूभागो की आकृति से हूबहू मिलती है । उदाहरण-स्वरूप हिमालय की आकृति तलवार की तरह है जो दक्षिण भारत की उत्तरी आकृति से मिलती-जुलती है । पश्चिम में अरावली और नमक की पहाड़ियों के कारण हिमालय का पश्चिमी भाग कुछ उत्तर की ओर झुक गया है और फिर दक्षिण-

पश्चिम की ओर चला गया है । पूर्व में यह पर्वत आसाम में होते हुए दक्षिण को फैल गया है । इसी प्रकार यूरोप में आल्प्स पर्वत फ्रांस के पठार और बोहेमिया के पठार की आकृति के अनुरूप टेढा हो गया है । कारपेथियन पर्वत बोहेमिया के पठार और रूमानिया के पठार के अनुसार टेढ़ा हो गया है । इन नवीन मोड़दार पर्वतों (Young Folded Mountains) की कई श्रेणियाँ है । हिमालय में तीन श्रेणियाँ हैं । तारीफ तो यह है कि इन पर्वतों की सभी श्रेणियाँ अपनी प्रधान श्रेणी की तरह ही टेढी हो गयी हैं । विश्व की पर्वत-प्रणालियो में कही भी इस नियम का उल्लघन नही हुआ है । इन पर्वतों का इस प्रकार लहरो की तरह टेढ़ा हो जाना एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है । इस तथ्य के आधार पर ही यह अनुमान किया गया कि धरातल पर अगल-बगच अथवा क्षितिजोत्तर (Horizontal) भिचाव पडने से ही इन लहरदार पर्वतमालाओ का जन्म हुआ होगा । इसी अनुमान के आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि यूरेशिया महाद्वीप में भिचाव का जोर दक्षिण दिशा से आया होगा । इसी प्रकार उत्तरी और दक्षिणी अमेरिकाओ मे भिचाव का प्रभाव पश्चिम दिशा से आया होगा । इस अगल-बगल के (क्षितिजोत्तर) भिचाव की सत्यता के प्रमाण में एक ओर तथ्य का पता चला है । यह तथ्य मोडदार पर्वतों में प्रच्छद-क्षेत्र या नेप-क्षेत्र (Nappe Zone) का पाया जाना है । जब धरातल पर भिचाव का जोर अधिक होता है, तो भंजचाप (Anticline) का ऊपरी भाग (जिसे उसका प्रच्छद कहते है) टूटकर सैकड़ों मील दूर जा पहुँचता है । इस स्थान की चट्टानो की संरचना (Structure) मे इस नए आए हुए प्रच्छद (Nappe) का कोई सम्बन्ध नही होता । यदि भिचाव की हलचल कई बार होती है, तो एक प्रच्छद के ऊपर दूसरा आरोपित हो जाता है । उदाहरण के लिए निर्माणकाल की दृष्टि से गढवाल प्रच्छद क्रोल प्रच्छद से पुराना है, अत क्रोल के नीचे स्थित होना चाहिए । परन्तु हिमालय पर्वत में वह क्रोल प्रच्छद के ऊपर आरोपित है । जिस भाग में ऐसे प्रच्छद पाए जाते है उसको प्रच्छद-क्षेत्र कहते है । एपेलेचियन जैसे एकाध पर्वत में चाप और द्रोणी के रूप में साधारण मोडें और साधारण स्तर भंग भले ही हों, किन्तु आल्प्स और हिमालय-जैसे पर्वतों में तो मोड की अनेकों जटिलतायें मिलती है जिनमे प्रच्छद-क्षेत्र एक प्रमुख जटिलता है । कई स्थानों पर अपेक्षाकृत नई चट्टानों के ऊपर आरोपित पुरानी चट्टानों का कुछ भाग घिस-घिसाकर हट गया है और नीचे की नई चट्टान दिखाई देने लगी है जिसमे उस भाग की सरचना का कुछ सूत्र हाथ आ जाता है । इस प्रकार दिखाई देने वाले नई चट्टान के भाग को संरचना-द्वार (Structural Window) कहते हैं । नवीन मोड़दार पर्वतों में इस प्रकार की अनेकों जटिलतायें पहिचानी जा चुकी हैं । उदाहरण के लिए हिमालय के एक भाग का परिचय देना असंगत न होगा—

२०७. **हिमालय के शिमला क्षेत्र की संरचना** (Structure)—पिल्ग्रिम और वैस्ट नामक वैज्ञानिको ने शिमला क्षेत्र का अध्ययन करके पता लगाया है कि इस



चित्र ६७. हिमालय के शिमला क्षेत्र की संरचना

क्षेत्र मे स्ट्रेटा चार या पाँच रेखाओं पर टूट गया है । इस तरह टूट जाने से विभिन्न स्थानों पर अलग-अलग युग की चट्टानें मिलती है । काल के अनुसार चट्टानो को अलग करने वाली रेखा को यहाँ सभग (Thrust) नाम से पकारा जायगा । शिमला क्षेत्र में सबसे पहले मुख्य सीमान्त सभग (Main Boundary fault) मिलता है जो शिवालिक पर्वत को हिमालय की मुख्य चट्टानो से अलग करता है । यह मुख्य चट्टानें प्राचीन नवकल्प अथवा टरशरी काल में बनी थी । इन चट्टानो की पट्टी को यथा-स्थानीय पट्टी (Autochthonous Belt) कहा जाता है । यह नाम इसलिए पडा है कि जो चट्टाने इस स्थान पर बनी थी वे धक्के के कारण लहरो के रूप में टेढी जरूर हो गई है परन्तु अपने स्थान से हटकर दूर नही गई है । पुरानी चट्टानें चाप और द्रोणियो (Anticline and Syncline) के रूप मे ज्यों की त्यो यथास्थान मौजूद है । इस पट्टी को क्रोल सभग ने तोड दिया है । इस दरार से आगे क्रोल चट्टानें मिलती है । क्रोल चट्टानों के बाद प्रच्छद क्षेत्र (Nappe Zone) आता है जिसकी दोनो तरफ जुतोध और गिरि संभग है । इस क्षेत्र मे जुतोध और चेल चट्टाने पाई जाती है । उत्तर की ओर शाली शिखर के पास चेल सभग (Chail Thrust) ने एक सरचना-द्वार खोल दिया है जिसमें टरशरी कोल का स्लेट-पत्थर और चूने का पत्थर मिलता है । इस सरचना-द्वार (Structural Window) ने हिमालय पर्वत के निर्माण-काल का साफ-साफ पता दिया है ।

ऊपर के उदाहरण में सरचना सम्बन्धी जिन जटिलताओ का वर्णन किया गया है उनसे यह पता चलता है कि पर्वतों को निर्माण करने वाले ये धक्के कितने भयंकर होते होगे । इन प्रभावशाली धक्कों के कारण ही मोडों में अनेकों जटिलतायें पैदा होती है ।

२०८. **तीसरी विशेषता (स्ट्रेटा की मोटाई)**—पर्वत प्रदेशों के अध्ययन से एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य का पता चला है । सबसे पहले संयुक्त राज्य अमेरिका

(U.S.A.) के पूर्वी भाग मे इस तथ्य की ओर लोगों का ध्यान गया । इस भाग में धरातल पर सर्वत्र समुद्र में पैदा होने वाली परतदार चट्टानें बिछी हुई थीं । परन्तु इन चट्टानो की मोटाई सब जगह एक समान नही थी । मिसीसिपी के बेसिन में इन चट्टानों का स्ट्रेटा (स्तर) अधिक-से-अधिक ४,००० फुट मोटा निकला । इसके विपरीत एपेलेचियन क्षेत्र मे इन चट्टानो का स्तर ४०,००० फुट मोटा पाया गया । मिसीसिपी के क्षेत्र में इन चट्टानो मे मोड नही थे किन्तु एपेलेचियन क्षेत्र मे स्ट्रेटा में मोड थे । इसका अर्थ यह हुआ कि **जिस क्षेत्र मे स्ट्रेटा (स्तरों) में मोड़ पड़े हैं वहाँ के स्ट्रेटा की मोटाई उस स्थान के स्ट्रेटा की मोटाई से कई गुनी अधिक है जहाँ पर उसमें बिल्कुल मोड़ें नहीं पड़े है** । यह बात काफी महत्त्वपूर्ण है । इसके बाद यूरोप के पर्वतों की भी खोज की गई तो पता चला कि आल्प्स क्षेत्र की परतदार चट्टानो का स्ट्रेटा अपने उत्तर वाले स्ट्रेटा से दुगुना या तिगुना मोटा है । यह अनुसन्धान मे यह भी पता चला कि **अधिक मोटे स्ट्रेटा वाले क्षेत्र की लम्बाई तो अधिक है परन्तु उसकी चौड़ाई बहुत कम है** । इसका अर्थ यह हुआ कि किसी लम्बे परन्तु सकीर्ण या कम चौडे गड्ढे मे स्थल की छीलन भरने से ही स्तर के मुड़ाव वाले क्षेत्र का निर्माण हुआ होगा । डाना नासक वैज्ञानिक ने १८७३ ई० में इस प्रकार के लम्बे और सकीर्ण गड्ढों का नाम ज्योसिनक्लिनल रक्खा और अब उन्हे ज्योसिनक्लाइन या भूद्रोणी कहते है । अब आप समझ गए होंगे कि पर्वत-निर्माण के लिए सबसे पहली आवश्यक शर्त यह है कि उपर्युक्त प्रकार की लम्बी और सकीर्ण भूद्रोणियाँ (Geosoncline) बने और उनमें स्थल की चूरचार भरती जावे ।

भूद्रोणियाँ

हाल और डाना नामक विद्वानो को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने जिओसिनक्लाइन या भूद्रोणी का विचार संसार को सिखाया । परन्तु वास्तव में 'हाग' (Haug) ने ही इस सिद्धान्त को विकसित किया । उसने पुराकल्प के भौगोलिक नक्शे (Palaeogeographical Maps) बनाये और उसी ने सबसे पहले भूद्रोणियों और पर्वतश्रेणियों के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला ।

२०९. **भूद्रोणियाँ** (Geosyncline) **उथले समुद्र है**—स्तर के मुड़ाव वाले क्षेत्रो मे परतदार चट्टानों की मोटाई की विशालता भी विचारणीय है । इस विशाल मोटाई से यह अनुमान हो सकता है कि मोड़दार पर्वतों का निर्माण गहरे समुद्रो में हुआ होगा । परन्तु अधिकांश चट्टानों के अध्ययन से बिलकुल उल्टी ही बात सिद्ध होती है । इन चट्टानो को खुरचने से जो चूर अलग होती है उसके कण बहुत मोटे होते है । इन कणो को देखने से यह प्रतीत होता है कि परिवहन की शक्तियों (Transporting Agents) ने पास के ही स्थल भाग से इस चूर को बहाकर उथले

सागर में पटक दिया होगा । हिमालय आदि पर्वतों की परतदार चट्टानों में सामुद्रिक वनस्पतियों की अथवा जीवों की जो छाप या अवशेष अस्थिपंजर (Fossils) मिले हैं उनसे भी यही प्रमाणित होता है कि इन पर्वतों की निर्माण-सामग्री उथले समुद्रों में ही एकत्रित हुई है । परन्तु अब दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है । इतनी अधिक सामग्री उथले समुद्रों में किस प्रकार एकत्र हो सकती है । इसके कुछ अंश के जमा होने से ही उथला समुद्र पट जाना चाहिए । ४०,००० फुट मोटा स्ट्रेटा उथले समुद्र में किस प्रकार जमा हो सकता है ? इस समस्या का एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि ज्यों-ज्यों उथला समुद्र शिलाचूर्ण से पटता गया, त्यों-त्यों समुद्र की तली भी नीचे की ओर धँसती गई और उसमें अधिकाधिक चूर जमा होती गई । दूसरे शब्दों में भूद्रोणी उन लम्बे और संकीर्ण गड्ढों को कहते हैं जिनकी तली धीरे-धीरे नीचे धँसती जाती हो ।

२१०. **भूद्रोणी की तली का नीचे धँसना**—हाग (Haug) ने यह बताया था कि यदि किसी पर्वत श्रेणी का विश्लेषण किया जाय और उसकी शिलाओं को मौलिक क्रम के अनुसार रखा जाय, तो वे सब मिलकर समुद्र को पाट ही न देंगी किन्तु कुछ ऊँची भी उठ जायेंगी । इससे उसने यह नतीजा निकाला कि 'सागर की तली भी शिलाचूर्ण के साथ ही साथ नीची धँसती जाती है ।' हाग ने दो बातों पर विशेष बल दिया---(१) भूद्रोणियाँ गहरे जल के क्षेत्र थे। (२) भूद्रोणियों की चौड़ाई अपेक्षाकृत कम थी परन्तु उनकी लम्बाई बहुत थी । हाग (Haug) के मतानुसार पहले यह समझा जाता था कि शिलाचूर्ण के भार से ही तली नीचे धँसती है । अर्थात् ज्यों-ज्यों शिलाचूर्ण का भार बढ़ता गया, त्यों-त्यों तली भी धंसती गई । इस प्रकार शिलाचूर्ण की तह एक फुट ऊँची हो गई, तो समुद्र की तली भी एक फुट नीचे धँस गई । हम समतुलन के सिद्धान्त पर विचार करते समय यह स्थिर कर चुके हैं कि भूपटल का समतुलन स्थानीय नहीं होता किन्तु प्रादेशिक होता है । इससे तो यही सिद्ध होता है कि केवल समुद्र की तली ही नीचे की ओर नहीं धँसती, बल्कि सन्तुलन स्थापित रखने के लिए सम्पूर्ण प्रदेश या क्षेत्र ही ऊँचा-नीचा होता है । इससे यही मानना पड़ेगा कि समुद्र की तली धीरे-धीरे परन्तु निरन्तर नीचे की ओर धँसती जाती है ।

२११. **तली के नीचे धँसने के कारण**—भूपटल की तली के नीचे धँसने के कई कारण बताये जाते हैं जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(क) कुछ विद्वानों के मत से इसका कारण धरातल पर तनाव (Tension) का उत्पन्न होना है । तनाव के कारण स्थान विशेष पर भूपटल की लम्बाई बढ़ती

जाती है और मोटाई घटती जाती है । मोटाई घटते-घटते कोई भाग इतना पतला हो जाता है कि वह नीचे को लचक जाता है और इस प्रकार भू-द्रोणी का निर्माण हो जाता है ।

(ख) दूसरे विद्वानों के मत से इसका कारण भिचाव (Compression) है । भिचाव से कुछ भाग नीचे की ओर धँस जाता है और कुछ ऊँचा उठ जाता है । ऊँचे उठे हुए भाग से चट्टानों की छीलन धँसते हुए भाग में एकत्र हो जाती है । यह नीचे धँसता हुआ भाग भिचाव का जोर पड़ते रहने के कारण अधिकाधिक नीचे की ओर धँसता जाता है, परन्तु साथ-ही-साथ ऊपर उठते हुए भाग की छीलन से उठता भी जाता है ।

(ग) होम्स प्रभृति विद्वानो के अनुसार अध.स्तर (Substratum) से सवाहन-धारायें ऊपर की ओर चलती है । ये धारायें ऊपरी ठोस परत के नीचे पहुँचने के बाद इधर-उधर ध्रुवों की तरफ चल पडती हैं । ये धारायें ऊपरी ठोस परत के नीचे से उसके कुछ भाग को भी बहा ले जाती है । जिससे वहाँ एक गड्ढा-सा बन जाता है । इसी को भू-द्रोणी कहते हैं ।

२१२. **भूद्रोणी की विभिन्न परिभाषायें**—भूद्रोणी की परिभाषा के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद हैं । 'शुशर्ट' नामक विद्वान ने तीन प्रकार की भूद्रोणियाँ मानी हैं—

१. **एक-भूद्रोणी** (Mono-geosyncline)—ये महाद्वीपो के किनारो पर लम्बे और सँकरे है । ये अनेक बार नीचे धँस चुके है । हाल और डाना ने इसी प्रकार की भूद्रोणियों की कल्पना की थी ।

२ **बहु-भूद्रोणी** (Poly-geosyncline)—ये पहली की अपेक्षा अधिक चौड़ी और अधिक जटिल होती है । इन भूद्रोणियों के बीच में एक या अधिक भूचाप (Geo-anticline) रहा करते है । शकी और हिमालय आदि पर्वतमालाओ की भूद्रोणियाँ इस प्रकार की बहु-भूद्रोणी के सुन्दर उदाहरण है ।

३. **मध्य-भूद्रोणी** (Meso-syncline)—दो महाद्वीपो के बीच में लम्बे और सँकरे समुद्र ही मध्य भूद्रोणी होती है । आज की भूमध्य सागर मध्य-भूद्रोणी का उदाहरण है ।

इवान्स (Evans) ने भूद्रोणी के सम्बन्ध में विचार प्रगट करते हुए बताया है कि भूद्रोणी को 'तलछट का धँसाव' (Subsidence of Sedimentation) कहना चाहिए, चाहे भूद्रोणी की आकृति में थोडा बहुत अन्तर भले ही हो । भूद्रोणी की स्थिति

भी अनेक प्रकार की हो सकती है, भूद्रोणियों की स्थिति निम्न स्थानों पर हो सकती है—

(१) किसी नदी के मुहाने के पास,
(२) दो महाद्वीपों के बीच मे,
(३) किसी महासागर के पहाडी तट के पास,
(४) किसी पर्वत या पठार के पास मैदान मे।

उपर्युक्त प्रकार की भूद्रोणियो मे चट्टानो की चूरचार एकत्रित हुआ करती है। इस प्रकार जमाया हुआ शिलाचूर्ण अपने भार से नीचे धँसता है। धीरे-धीरे काफी समय बाद ऐसा अवसर आता है जब इस चूरचार पर दो विपरीत दिशाओं से भिचाव पडता है और उसमें मोड़ें पड जाती हैं। इवान्स का विचार है कि नई जमी हुई चूरचार मे मोडें उन्ही क्षेत्रों में अधिक सुविधा से पडती होंगी जहाँ पर ऊपरी भार के फलस्वरूप भूपटल भी नीचे को धँस जाता होगा। भूपटल के नीचे धँस जाने पर नई जमी चूरचार पर नीचे की तेज गर्मी का प्रभाव भी पड़ता है और भिचाव भी पडता है। फल यह होता है कि नई जमी चूरचार में मोड़ें पड़ जाती है।

होम्स का मत—होम्स ने भी तीन प्रकार की भूद्रोणियाँ मानी हैं। उनको समझने से पहले होम्स के बताये हुए भूपटल के तीन परत समझ लेने चाहिए। वे तीनो परत निम्न हैं—

(१) १० से १२ किलोमीटर तक ग्रेनो-डायोराइट का ऊपरी परत।
(२) २० से २५ किलोमीटर मोटा बीच का एम्फिबोलाइट परत।
(३) भूपटल की शेष मोटाई में सबसे नीचे एक्लोजाइट परत।

इन तीन परतों वाले भूपटल पर तीन प्रकार की भूद्रोणियाँ बनती हैं—

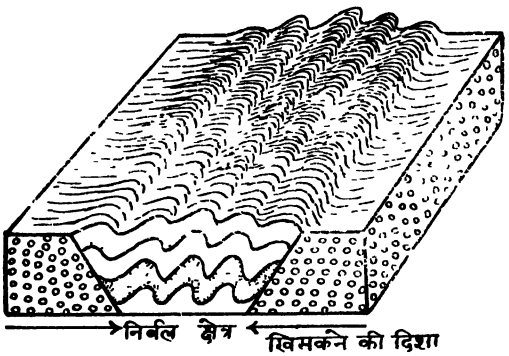
(१) प्रथम श्रेणी वाली भूद्रोणियो में एम्फिबोलाइट परत (भूपटल का बीच वाला परत) में से द्रव पदार्थ हट जाने के कारण भूपटल नीचे धँसता।

(२) दूसरी श्रेणी की भूद्रोणियों मे सियाल का परत खिचाव के कारण पतला पड़कर नीचे धँस जाता है। खिचाव के जो कारण बताए गए हैं उनमें अधःस्तर में संवाहन धाराओं का खिचाव मुख्य है। ध्यान रहे कि अधःस्तर (Substratum) भूपटल के नीचे स्थित है।

(३) तीसरे प्रकार की भूद्रोणियो में नीचे के पदार्थ रूपान्तरित होकर अधिक घनत्व वाले बनते हैं अर्थात् उनका आयतन (Volume) घटता है और इसी के फलस्वरूप ऊपर के परत नीचे की तरफ धँसते हैं।

२१३. **भूद्रोणी एक तथ्य**—भूद्रोणी के बनने की चाहे जो क्रिया-विधि (Mechanism) हो, परन्तु इसका निर्माण एक तथ्य है जिसको अस्वीकार नही किया जा सकता । कुछ विद्वानों ने आधुनिक समय की भूद्रोणियों की स्थिति जानने का प्रयत्न किया है । उनके मत मे प्रशान्त महासागर के तट के समीप की गर्त वर्तमान काल की भूद्रोणी है । कैलीफोर्निया की घाटी भी भूद्रोणी का भाग है जिसका दक्षिणी भाग जलमग्न है । इसी प्रकार गगा-सिन्ध का मैदान इस भूद्रोणी का भाग है जो आंशिक रूप मे पट चुकी है ।

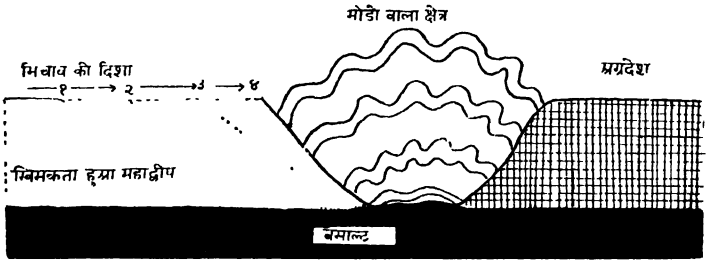
२१४. **भूद्रोणी में मुड़ाव पड़ना**—इस प्रकार भू-द्रोणी नीचे धँसती जाती है और शिलाचूर्ण से पटती जाती है । धीरे-धीरे भू-द्रोणी के भीतर जमा हुई अन्तर्वस्तु की मोटाई हजारों फुट तक पहुँच जाती है । इस जमे हुए शिलाचूर्ण का बहुत-सा भाग पूरे तौर से सख्त चट्टान के रूप में नही जम पाता, किन्तु काफी नरम बना रहता है अत भूद्रोणी के भीतर हजारो फुट की गहराई तक जमा हुई अन्तर्वस्तु नरम होने के कारण भूपृष्ठ का निर्बल क्षेत्र (Zone of Weakness) कही जाती है। यदि इस निर्बल क्षेत्र को दोनों ओर से भीचा जाय, तो इसमें ऊँची-नीची सिकुड़ने पड़ेगी अधिक जोरदार भिचाव पडने पर प्रच्छद (Nappe) टूटकर अलग जा गिरेंगे । स्पष्ट है कि भिचाव के कारण मोड पडने से धरातल छोटा होता जायगा ।



चित्र ६८.

२१५. **अग्रदेश और पृष्ठ देश** (Foreland and Hinterland)—भूद्रोणी के लम्बे और संकीर्ण गर्त में जमा होने वाली अन्तर्सामग्री मे मोड़ें पड़ने के लिए यह आवश्यक है कि भूद्रोणी के दोनों सिरे मण्डामी की दोनों नोकों की तरह एक दूसरे के समीप आने लगें । इसी कल्पना के आधार पर विद्वानों ने यह अन्दाज़ लगाया कि महाद्वीप अपने स्थानों से खिसककर आगे या पीछे चले जाते है । महाद्वीपों के इधर-उधर खिसकने से धरातल पर भिचाव पैदा होता है और भिचाव भूद्रोणी के निर्बल क्षेत्र में स्तर का मुड़ाव उत्पन्न हो जाता है । अस्तु, महाद्वीपों के खिसकने से धरातल पर भिचाव (Compression) उत्पन्न होना पर्वत-निर्माण की दूसरी महत्त्वपूर्ण अवस्था है । आल्प्स पर्वत के पश्चिमी भाग का अध्ययन करने के

पश्चात् आरगैण्ड नामक विद्वान् ने बताया कि अफ्रीका का पृष्ठदेश यूरोप के आदेश की ओर खिसकने लगा। इस प्रकार हटने से इन दोनों महाद्वीपों के बीच में ज्योसिन-क्लाइन (भूद्रोणी) का एकत्रित भूपदार्थ भिचने लगा और उसमें मोड पडने लगे। फलतः, दोनों के बीच में धरातल १,००० मील अर्थात् अक्षांश के १५ अंश के बराबर छोटा हो गया। आरगैण्ड और उसके अनुयायियों ने मोडों के विकास की कई



चित्र ६६.

अवस्थाये मानी है। प्रथम अवस्था मे अफ्रीका के आगे खिसकने से दो बडे मोड़ पड़े। इन दोनों मोडो के ऊँचे उठे हुए भाग (चाप) समुद्र से बाहर निकले हुए थे। दूसरे धक्के मे दोनो ऊँचे उठे हुए भाग उत्तर की ओर खिसके और दक्षिणी मोड का कुछ भाग उत्तरी मोड के ऊपर चढ गया। तीसरे धक्के में दक्षिणी मोड ठीक उस स्थान पर पहुँच गया जहाँ से उत्तरी मोड अपने स्थान को छोडकर आगे की ओर धकेल दिया गया था। अन्तिम धक्के में मोड मे अनेकों जटिलतायें पैदा हो गयीं।

२१६. **कोबर का भूद्रोणीय पर्वत निर्माण का सिद्धान्त** (The Geosynclinal Orogen Theory of Kobar)—कोबर नामक दूसरे विद्वान् ने बहुत से मोडदार पर्वतों का अध्ययन करने के पश्चात् यह मत स्थापित किया कि धरातल पर भिचाव उत्पन्न होते समय पृष्ठदेश और अग्रदेश नही होते, किन्तु दो अग्रदेश होते है और उन दोनो के बीच में एक मध्यपिण्ड होता है। दोनों अग्रदेश सण्डासी के दोनों सिरों की तरह भिचते है। यदि दोनो अग्रदेश के बीच मे केवल मुडने वाली नरम चट्टानें ही होती, तो भी एक ही दिशा मे मोड पडते। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। दो अग्रदेशों के बीच में एक कठोर पिण्ड मौजूद रहता है जिसको मध्यपिण्ड (Medium Mass) कहा जाता है। इस मध्यपिण्ड के बीच में आ जाने से दोनो ओर का नरम पदार्थ दो विपरीत दिशाओ मे धकेल दिया जाता है। अतः मोड़ भी दो विपरीत दिशाओं में बन जाते है। कोबर ने यूरोप के नवीन मोडदार पर्वतों में

मध्यपिण्ड बताए हैं । उसके मतानुसार भूमध्यसागर के पश्चिमी भाग में स्थित एक मध्यपिण्ड जलमग्न हो गया है। कोर्सिका और सार्डीनिया द्वीप उसी के अवशेष भाग हैं। कार्पेथियन पर्वत और डिनारिक आल्प्स के बीच में स्थित हंगरी का मैदान दूसरा मध्यपिण्ड है । इसी प्रकार बाल्कान प्रायद्वीप में रोडोप का पठार और तुर्की में अनतूलिया का पठार, तीसरा मध्यपिण्ड है । कोबर का मत है कि ससार की समस्त पर्वतमालाओ में इस प्रकार के मध्यपिण्ड बताये जा सकते हैं । उदाहरण के लिए एशिया में अनातूलिया का पठार, ईरान का पठार और मध्य एशिया का पठार मध्यपिण्ड हैं । उत्तरी अमेरिका में कैरीबियन सागर, मैक्सिको का पठार और नेवादा प्रदेश आदि मध्यपिण्ड हैं । ये मध्यपिण्ड जलमग्न भी हो चुके हैं। कोबर की व्याख्या इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें बहुत कुछ सत्य प्रतीत होता है।

२१७. **पर्वतों का ऊँचा उठना**—धरातल पर भिचाव उत्पन्न होने से नरम चट्टान मुड़ जाती है । इन चट्टानो का एक भाग मेहराब की तरह ऊँचा उठ जाता है जिसे भंजचाप (Anticline) कहते हैं, और दूसरा भाग नीचे झुककर अधःस्तर में धँस जाता है जिसे भंजद्रोणी (Syncline) कहते हैं । मुडते समय नरम चट्टानों पर स्थानीय संतुलन का प्रभाव पड़ता है। विद्वानों का मत है कि इस स्थानीय संतुलन को ठीक रखने के लिए ऊँची उठने वाली मोड (चाप) का आठ गुना नीचे की ओर धँसना चाहिए । इस प्रकार मोड का नीचे धँसने वाला भाग (द्रोणी) अधःस्तर में मीलों नीचा पहुँच जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि धरातल पर मोड़ उत्पन्न होते समय भूमि का ऊँचा उठना अथवा नीचे की ओर धँसना स्थानीय समतुलन द्वारा नियन्त्रित होगा और नवनिर्मित पर्वत समतुलन की दशा मे छोड दिए जावेंगे। कुछ विद्वानों का यह मत है कि भिचाव का प्रभाव ही ऐसा होता है कि स्तर का मुडाव नीचे की ओर बहुत अधिक होता है । अत. मोड़ का नीचे धँसने वाला भाग काफी गहराई तक पहुँच जाता है। वहाँ अधःस्तर की गर्मी से फैलकर बढ़ने लगता है जिससे पर्वत ऊँचे उठते हैं। जो कुछ भी कारण हो, मोड का नीचे वाला भाग काफी गहराई तक धँस जाता है।

मुडते समय केवल नरम भाग ही ऊँची-नीची मोडों के रूप में संतुलित होता है । दूसरे शब्दों में यह संतुलन तो केवल नरम भाग का स्थानीय सतुलन ही होता है। मुडाव-कार्य के समाप्त हो जाने पर प्रादेशिक संतुलन अपना प्रभाव दिखाता है। भिचाव के कारण नरम भाग में मोड़ ही नहीं पडते, किन्तु वह छोटा भी हो जाता है। अस्तु, प्रादेशिक समतुलन के प्रभाव से समस्त पर्वतीय क्षेत्र ऊँचा उठता है। कुछ विद्वानों की सम्मति मे पर्वतो के ऊँचे उठने का कारण दूसरा ही है । भिचाव की

परिस्थिति में स्तर का नीचे की ओर अधिक धँस जाना और नीचे धँसे हुए स्तर का अध:स्तर की भीषण गर्मी से तप कर फैलना ही बाद के ऊँचे उठने का कारण है। जो कुछ भी कारण हो, परन्तु मुड़ाव की समाप्ति पर अन्तिम बार पर्वतीय क्षेत्र का ऊँचा उठना एक विशेष घटना है। इसको पर्वत-निर्माण की तीसरी अवस्था माना गया है। इस अवस्था में स्तर के मुड़ाव वाला समस्त क्षेत्र ऊँचा उठता है। कभी-कभी पुराने समय के बने हुए पर्वतों की ऊँचाई पर्वत-निर्माणकारी किसी आगामी हलचल के समय बढ़ जाया करती है। उदाहरण के लिए गिरि-प्रांगार युग (Permo-carboniferous) में बने हुए एपेलेचियन पर्वत खटी युग (Cretaceous) मे २,००० फुट ऊँचे उठ गए।

२१८. **पर्वत-निर्माण की तीन अवस्थायें**—पर्वत-निर्माणकारी तीन निम्न अवस्थाये है—

(१) **भूद्रोणी अवस्था**—इस अवस्था मे भूद्रोणी का निर्माण होता है तथा धरातल की छीलन मे भूद्रोणी पटती जाती है।

(२) **पर्वत-निर्माण अवस्था**—इस अवस्था मे स्तर में मुडाव पड़ता है जिससे पर्वत-प्रदेश का निर्माण होता है।

(३) **उत्थान अवस्था**—इस अवस्था मे प्रादेशिक समतुलन के प्रभाव से पर्वत ऊँचे उठते है।

अन्य प्रकार के पर्वत

अभी तक हमने मोडदार पर्वतों का वर्णन किया है। सच्चे अर्थो में तो मोडदार पर्वत ही इस संज्ञा के अधिकारी है। परन्तु भौगोलिक दृष्टि से अन्यान्य ऊँचे भाग भी पर्वत कहलाते है।

२१९. **ज्वालामुखी पर्वत**—ज्वालामुखी के उद्गार से निकला हुआ पदार्थ पृथ्वी तल पर इकट्ठा हो जाता है और धीरे-धीरे उस स्थान पर ऊँचा पर्वत जैसा बन जाता है। इस प्रकार के पर्वत ज्वालामुखी पर्वत कहलाते है।

२२०. **संवर्ग पर्वत** (Block Mountains)—जब कभी भू-पटल में गहरी दरारे (Faults) उत्पन्न हो जाती है और दो दरारो के बीच का भाग ऊँचा उठ जाता है, तो पर्वत का रूप धारण कर लेता है। ऐसे पर्वतों को संवर्ग पर्वत कहते है। ये पर्वत उत्पत्ति और आकार आदि की दृष्टि से मोड़दार पर्वतो से भिन्न है। महत्त्व की दृष्टि से इन पर्वतो की कोई गणना नही की जाती।

२२१. **घिसाव द्वारा निर्मित पर्वत या अवशिष्ट पर्वत** (Residual Mountains)—किसी स्थलखण्ड के सागर गर्भ से निकल आने पर उस पर

समतलस्थापक शक्तियों का प्रहार होता है। धीरे-धीरे स्थलखण्ड घिस जाता है और कठोर चट्टानें पर्वत के रूप में खड़ी रह जाती हैं। इन्हें अवशिष्ट पर्वत कहते हैं। पश्चिमी घाट और पूर्वी घाट इसी प्रकार के अवशिष्ट पर्वत हैं।

२२२. **प्राचीन मोड़दार पर्वत या आयु के अनुसार पर्वतों का वर्गीकरण**—पृथ्वी के धरातल के विकास-काल में अनेकों बार पर्वत-निर्माणकारी हलचलें हो चुकी हैं। ये हलचलें मानव-इतिहास में विप्लवों की तरह अल्पकालीन ही रही हैं। इन हलचलों की अवधि ही अल्पकालीन नहीं रही, किन्तु इनका प्रभाव-क्षेत्र भी पृथ्वी के कुछ भागों में ही सीमित रहा। इन हलचलों के पश्चात् बहुत लम्बी अवधि तक पृथ्वी तल पर शान्ति का साम्राज्य रहा। इन हलचलों का साधारण परिचय हम 'धरातल के इतिहास' में दे चुके हैं। पुराकल्प के प्रारम्भ होने के बाद भूतल पर तीन महत्त्वपूर्ण हलचलें हुईं।

(१) **कैलिडोनियन**—साइलूरियन (प्रबालादि) और डेवोनियन (मत्स्य) युगों के बीच में जो हलचल हुई उसे कैलिडोनियन हलचल कहते हैं। इस हलचल के कारण स्काटलैण्ड के पर्वत बने।

(२) **हरसीनियन**—दूसरी हलचल गिरी-प्रागार युग (Permo-carboniferous) में हुई। इस हलचल को हरसीनियन, आरमोरीकन, ऐपेलेचियन अथवा अल्टाइट आदि कई नामों से पुकारा जाता है। इस हलचल से मध्य एशिया से पश्चिमी यूरोप तक पर्वत बन गए। इसी समय ऐपेलेचियन पर्वत भी बने। नग्नीकरण (Denudation) की क्रिया द्वारा ये प्राचीन पर्वत घिस डाले गए हैं। जो भाग घिस-घिसाकर नष्ट होने से बचकर खड़े रह गए हैं उन्हें प्राचीन मोड़दार पर्वत कह सकते हैं। बहुत से पर्वत घिसघिसाकर पठार मात्र रह गए हैं। मध्य यूरोप के पठार और घिसाव से बचे हुए पर्वत हरसीनियन हलचल के समय बने थे।

(३) **टरशरी**—तीसरी हलचल टरशरी युग की आल्पाइन हलचल है जिसमें नवीन मोडदार पर्वत बने।

२२३. **भौगोलिक व्यवस्था के अनुसार पर्वतों के वर्गीकरण**—वोरसैटर ने इस प्रकार का निम्न वर्गीकरण सुझाया है—

(१) **कार्डिलरा या पर्वतसमूह** (Cordillera)—यह उच्चभूमि का प्रदेश होता है जिसमें भिन्न-भिन्न काल की तथा विभिन्न प्रकार से उत्पन्न बहुत सी पर्वत मालायें (Systems) मिली-जुली रहती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी भाग के पर्वतसमूह इसके उत्तम उदाहरण हैं।

(२) **पर्वतमाला** (System)—यह भी उच्चभूमि का प्रदेश होता है। इसमें लगभग एक ही युग की तथा एक ही प्रकार से उत्पन्न बहुत-सी श्रेणियाँ

(Range) और पर्वत वर्ग (Groups) पाये जाते है । सयुक्त राज्य की एपैलेचियन पर्वतमाला इसका उदाहरण है ।

(३) **पर्वतश्रेणी** (Range)—एक ही काल के तथा एक हा तरह उत्पन्न बहुत से पर्वत एक लम्बी तथा संकीर्ण पट्टी मे निश्चित क्रम से स्थित होते है तो उसे पर्वतश्रेणी कहते है जैसे शिवालक श्रेणी ।

(४) **पर्वत वर्ग** (Group)—यह बताया जा चुका है कि पर्वतश्रेणी मे पर्वत व्यवस्थित रूप से स्थित होते है । परन्तु पर्वत वर्ग में पर्वतों का एक ऐसा उच्च स्थलखण्ड होता है जिसमे व्यवस्था होती ही नही । किसी पर्वत का रुख उत्तर-दक्षिण है तो दूसरे का पूर्व-पश्चिम को । इस प्रकार पर्वत-वर्ग में पर्वतो का कोई भी निश्चित क्रम नही होता है । उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका का सान जुआन पर्वत वर्ग कई हजार वर्ग मील भूमि मे फैला है । इस वर्ग मे सैकडो ऊँचे पर्वत है । परन्तु उनमें कोई निश्चित व्यवस्था नही है । यही इनकी विशेषता है । इस पर्वत वर्ग का भौतात्विक इतिहास (Geological History) काफी मनोरजक है । यह प्रदेश लाखो वर्ष पहले ज्वालामुखी से निस्तृत लावा से सैकडो फुट की ऊँचाई तक ढक गया था । फिर समतल स्थापक शक्तियों ने काट-काटकर इसे इस वर्तमान रूप में बदल डाला ।

(५) **पर्वत-शृ खला** (Chain)—भिन्न-भिन्न युगो में तथा भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्पन्न पर्वतो की लम्बी एवं संकीर्ण पट्टी को पर्वत शृ खला कहते है । 'शृ खला' शब्द प्राय. ज्वालामुखी पर्वतो के लिए प्रयुक्त हुआ करता है जैसे अलूशियन पर्वत शृंखला ।

(६) **पृथक (एकलित) पर्वत**—अकेला पर्वत प्रायः अपवाद रूप में ही पाया जाता है । इनका निर्माण या तो ज्वालामुखी के उद्गार से होता है अथवा अपक्षरण (घिसाव) के अत्यधिक बढ़ जाने पर ही सम्भव होता है ।

२२४. **पर्वतों से लाभ**—पर्वत-प्रदेशो मे मनुष्य को अनेको असुविधाओं का सामना करना पडता है । प्रथम तो पर्वतो के ढाल इतने ऊँचे-नीचे होते है कि इन पर खेती करना असम्भव-सा है । दूसरे पर्वतीय भागों में उपजाऊ घाटियाँ बहुत ही सकीर्ण होती है । तीसरे पर्वतीय प्रदेशो पर मिट्टी का परत बहुत पतला होता है । इन कारणो से इन भागों मे बहुत थोड़ी जनसंख्या निवास कर सकती है । इसके अतिरिक्त पर्वतीय प्रदेश अपनी ऊँचाई के कारण जन सम्पर्क मे बाधक होते है । फलतः, ये प्रदेश संस्कृति के विकास में सदा ही अवरोधक रहे है । परन्तु पर्वतों द्वारा मानव-जाति का अपरिमित कल्याण भी हुआ है । इनसे निम्न लाभ हैं—

(१) प्राचीन काल से ही मनुष्य अपनी रक्षा के लिए पर्वतो की शरण लेता रहा है। जीते हुए शत्रु से बचने के लिए लोग प्रायः पर्वतों की कन्दराओ मे छिपाकर रहते आए है। हमारे देश के उत्तर मे स्थित हिमालय पर्वतमाला ने भारत की रक्षा के लिए चौकीदार का कार्य किया है।

(२) पर्वतीय प्रदेशों में ढालों पर विस्तृत चरागाह है जिन पर भेड-बकरी आदि पशुओ को चराकर लोग अपना जीवन निर्वाह करते है।

(३) बहुत से पर्वत जंगलो से आच्छादित है जिन की लकडी तरह-तरह के कामो में आती है।

(४) पर्वतीय प्रदेशो पर भारी वर्षा होती है जिससे अनेकों नदियाँ निकलती हैं। इन नदियों से सिचाई, बिजली और जल-यातायात का काम लिया जा सकता है।

(५) पर्वतीय प्रदेशो की बनावट के कारण बहुत से खनिज-पदार्थ इनके समीप प्राप्त होते है।

(६) पर्वतीय प्रदेशो की जलवायु स्वास्थ्यवर्द्धक होती है और वहाँ के प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त मनमोहक होते है। इसीलिए घनी आबादी वाले भागों से लोग समीप के पर्वतो में सैर करने जाया करते है।

प्रश्न

1. 'The concept of geosynclines is due to Hall and Dana but the theory of their development is really due to Haug'. Elaborate this statement and describe briefly the three types of geosyclines as distinguished by Schuchert.

(*Allahabad M.A. 1948*)

2. Discuss fully the origin of geosyncline in the light of J. W Evan's term 'Sedimentatation Subsidence !'

(*Allahabad M.A. 1951*)

3. Explain the geosyncline-orogen theory of Kober.

(*Ban. M Sc. Geol. 1941*)

4. Write a short essay on Geosynclines

(*Lucknow M.Sc. Geol. 1949 & Agra B.A. 1952*)

5. Discuss the origin of folded mountains and give examples.

(*Allahabad B.A. 1951*)

6. What do you understand by mountain building ? Describe the chief types of mountains giving account of the cause to which they are due.

(*Ajmer Intermediate 1950*)

सालहवाँ अध्याय

पठार

२२५. **परिचय**—भौगोलिक दृष्टि से पठार एक महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक इकाई है। स्थलमण्डल का बड़ा भाग पठारों से घिरा हुआ है। अफ्रीका महाद्वीप तो लगभग सारा ही पठारी है। सामान्यतया लोग समुद्रतल से ६०० फुट से अधिक ऊँचाई वाले विस्तृत भूखण्डों को पठार कहते हैं। परन्तु ऊँचाई की दृष्टि से पठार और मैदान का भेद करना ठीक नहीं है। विश्व के अधिकांश महान् पठार समुद्र से लगभग २,००० फुट ऊँचे है। यह भी सम्भव है कि कई मैदान पठारो से ऊँचे हो। अतः पठारों और मैदानों की ऊँचाई की कोई निश्चित माप नही है। पठारो और मैदानो का अन्तर समझने के लिए हमे दो बातों का ध्यान रखना पड़ेगा। प्रथमत, पठार का जहाँ अन्त होता है वहाँ से दूसरे प्राकृतिक भाग को अलग करने वाला ढाल प्रपाती (Steep) होता है। अर्थात् पठार अपने समीप के मैदान या समुद्रतल से एकदम ऊँचा होता चला जाता है। इसके विपरीत मैदान का ढाल सब कहीं क्रमिक (Gradual) होता है। दूसरे, पठार क्षय-चक्र की प्रथम अवस्था में होता है और मैदान उसकी अन्तिम अवस्था में होता है। दूसरे शब्दो मे, पठार या पर्वतो के घिस-घिसाकर नष्ट हुए अवशेष का ही नाम मैदान है। पठार की परिभाषा करना कठिन है। परन्तु अस्पष्ट शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पठार उस विस्तृत भूखण्ड को कहते हैं जो समुद्रतल से पर्याप्त ऊँचाई पर स्थित हो।

२२६. **वर्गीकरण**—पठारों का वर्गीकरण उनकी उत्पत्ति अथवा सरचना के अनुसार किया जाता है। उत्पत्ति के अनुसार पठारो के दो भेद है—(क) असंयुक्त पठार और (ख) मिश्रित पठार।

असंयुक्त पठार (Simple Plateaux)—असयुक्त पठारों की उत्पत्ति प्रमुखत: एक ही प्रकार की चट्टानो से होता है। इन पठारो मे दो भिन्न प्रकार की चट्टानों का मिश्रण नही पाया जाता। उत्पत्ति के मूल स्रोत के अनुसार इनके चार उपभेद किए जाते है—

(१) जलीय पठार, (२) वायव्य पठार, (३) हिम्य पठान और (४) उत्स्यन्द पठार।

२२७. **जलीय पठार** (Plateaux of Aqueous Origin)—जैसा कि इनके नाम से विदित है इन पठारों की उत्पत्ति जल के द्वारा हुई। साधारणतया जल

में मिश्रित पठारो का ही अधिकतर जन्म होता है। किन्तु कुछ असयुक्त पठारों की रचना भी होती है। चट्टानों के विभेद से पठारों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) **बालुका-प्रस्तर अथवा उसकी रूपान्तरित चट्टानों द्वारा निर्मित**—डॉ० चिब्बर के मतानुसार मिर्ज़ापुर दक्षिण मे फैला हुआ विध्य पठार पूर्णतया बलुआ पत्थर से बना है। चेरापूंजी का पठार बलुआ पत्थर की एक किस्म चेरा पत्थरों का बना है। कही-कही बलुआ पत्थर के आंशिक अथवा पूर्ण रूपान्तरित चट्टानों के पठार भी पाए जाए जाते है।

(ख) **चूने के पत्थरों से निर्मित पठार**—बहुत से पठार केवल चूने की चट्टानों से बने है। बर्मा का शान पठार चूने के पत्थरों से ही निर्मित हुआ है।

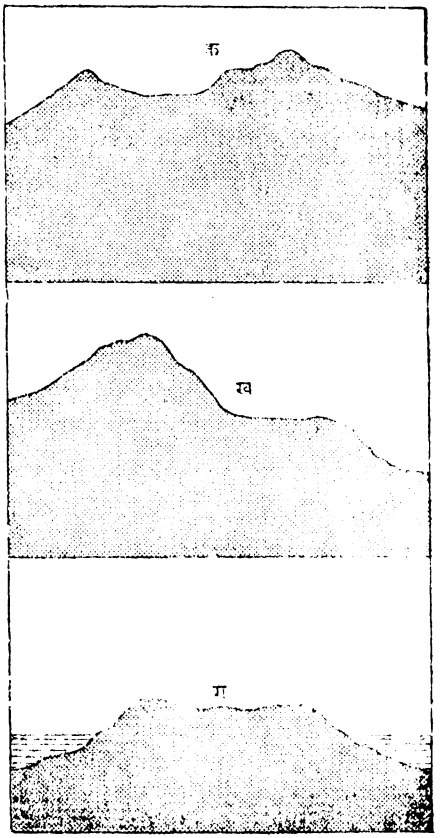
२२८ **वायव्य पठार** (Plateaux of Aeolian Origin)—वायु द्वारा बने हुए पठारो मे चीन के उत्तर-पश्चिम मे स्थित लोयस पठार सर्वोत्तम उदाहरण है। कुछ विद्वानो ने इसकी जल से उत्पत्ति मानी है, परन्तु जर्मन वैज्ञानिक रिचटोफैन ने इसकी उत्पत्ति पछुआ हवाओं मे मानी है। इस पठार के भीतर स्थल के जीवो के अवशेष ही मिले है इसकी वायव्य उत्पत्ति को प्रमाणित करते हैं। नदियों ने इस पठार के नरम चट्टानों मे बहुत गहरी घाटियाँ बना दी हैं। इन घाटियों के पार्श्व दीवार की तरह सीधे ऊँचे चले गए है। बहुत-सी दीवारे सैकडो फुट ऊँची है। मनुष्यों और पशुओं के सदियों तक चलते रहने से यहाँ की पगडण्डियाँ भी इतनी नीची धँस गई है कि दूर से दिखाई नही देती। कुछ सडकें सौ-सौ फुट नीची बताई जाती हैं। इन सडकों के आस-पास लोगों ने पठार की दीवारों को खोदकर अपने घर बना लिए हैं। पश्चिमी पाकिस्तान के रावलपिण्डी ज़िले में पोतवार का पठार है। उसमें भी ३०० फुट गहरी बहुत-सी घाटियाँ है। पोतवार पठार का धरातल जलवायु शुष्क होने के कारण समतल जैसा ही है।

२२९. **हिम्य पठार** (Plateaux of Glacial Origin)—हिमानियों के घर्षण मे अथवा जमाव मे कुछ प्रदेश पठार रूप में बन गये है। कुछ भागों में ग्लेशियरो ने अपने मार्ग मे पडने वाली पहाड़ियों और ऊँचे भागों को घिस-घिसाकर पठार रूप में बदल दिया है। महाद्वीपीय हिमनदो ने ग्रीनलैण्ड और एण्टार्कटिक महाद्वीप को घिसकर पठार बना डाला है। डॉ० चिब्बर के अनुसार गढ़वाल पठार भी हिमानी के घिसने मे बना है।

हिमानियों के जमा किए हुए पदार्थ से भी बहुत से पठार बन गए हैं। जर्मनी के उत्तर-पूर्वी कोने में प्रशिया का पठार इसी प्रकार बना है। हिम के पिघलने पर हिमानी के साथ लद कर आए हुए कंकड़, पत्थर, रेत, मिट्टी आदि जल के साथ

बहकर चले जाते है और बीच ही में फैलकर जम जाते हैं। कश्मीर के ऐसे कई पठार हैं जो करेवा कहलाते है।

२३०. **उत्स्यन्द पठार** (Plateaux of Effusive Origin)—ज्वालामुखी के उद्गार से निकला हुआ लावा चारों ओर फैलकर पठार का रूप धारण कर लेता है। इन पठारो के सर्वोत्तम उदाहरण सयुक्त राज्य और दक्षिणी भारत में मिलते हैं। सयुक्त राज्य का कोलम्बिया या राज्य मध्यनूतन युग (Miocene) तक पर्वतीय देश था। मध्यनूतन युग मे इस प्रदेश में बसाल्ट लावा के फैल जाने से दो लाख वर्गमील भूमि समतल पठार बन गई। समस्त घाटियाँ और मैदान हजारों फुट ऊँचे लावा के परत से ढँक गए और ऊँचे ऊँचे पर्वत द्वीप-से दिखाई देने लगे। इस पठार की औसत मोटाई ३,३०० फुट समझी जाती है।



चित्र ७०. पठारों के भेद

दक्षिणी भारत का लावा प्रदेश भी खटी युग (Cretaceous) के अन्त में लावा फैल जाने से बना। इस पठार की विशेषता यह है कि इसकी ऊँचाई विभिन्न स्थानो पर सीढ़ियों जैसी है।

२३१. **मिश्रित पठार** (Composite Plateaux)—जिन पठारों की उत्पत्ति कई प्रकार की चट्टानों से हुई है उन्हे मिश्रित पठार कहा जाता है। दक्षिण भारत का पठार इसका एक सर्वोत्तम उदाहरण है। यह पठार कई बार समुद्र गर्भ में विलीन हुआ और फिर बाहर निकल आया। फलतः, इस पठार मे विभिन्न काल की चट्टानें पाई जाती हैं। कहीं-कही पर आग्नेय, परतदार और रूपान्तरित चट्टानें पास-पास देखी गई है।

२३२. संरचना और बनावट के अनुसार पठारों का वर्गीकरण—संरचना और बनावट के अनुसार पठारो के तीन भाग हैं—(क) अन्तरापर्वतीय पठार, (ख) प्रान्ती पठार, और (ग) महाद्वीपीय पठार।

२३३ अन्तरापर्वतीय पठार (Intermontane Plateaux)—जो पठार लगभग सब ओर पर्वतो से घिरे हुए हैं और सभवत उनके साथ ही ऊँचे उठे है, वे अन्तरापर्वतीय पठार कहलाते है। ससार के सर्वोच्च पठार इसी श्रेणी मे सम्मिलित है। हिमालय और क्युनलुन पर्वतश्रेणियो के बीच में तिब्बत का ऊँचा और विस्तृत पठार है जो समुद्रतल से लगभग तीन मील की ऊँचाई पर स्थित है। इस प्रकार का दूसरा ऊँचा पठार बोलविया का पठार है जिसकी ऊँचाई समुद्रतल से १२,००० और १५,००० फुट के बीच में है। तारिम का पठार और मगोलिया का पठार आदि बहुत से पठार इसी विभाग में सम्मिलित है। (देखिये चित्र ७० क)

२३४. प्रान्ती पठार (Piedmont Plateaux)—जो पठार पर्वतो और मैदानो अथवा पर्वतों और समुद्रो के बीच मे स्थित है उन्हें प्रान्ती या सीमावर्ती पठार कहते है। कुछ अपवादों को छोडकर इन पठारो का विस्तार अत्यन्त सीमित भूभाग मे होता है। एण्डीज पर्वत और अटलाण्टिक महासागर के बीच मे स्थित पेटेगोनिया का पठार इस वर्ग का सबसे अच्छा उदाहरण है। (देखिए चित्र ७० ख)

२३५. महाद्वीपीय पठार - इस वर्ग के पठार क्षेत्रफल की दृष्टि से बहुत बडे होते है। समीप के मैदानों अथवा समुद्र से यह पठार स्पष्टत· ऊँचे उठे हुए ज्ञात होते हैं। मैदानों अथवा समुद्रतट से इन पठारो की एकदम ऊँचाई आरम्भ हो जाती है। सामान्यत, इन पठारो की सीमा पर कोई पर्वत नही होते। सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीप एक विस्तृत पठार है। कही-कही सकीर्णतटीय मैदानो के अतिरिक्त शेष सब जगह यह महाद्वीप समुद्र मे ऊँचा होता चला गया है। नील नदी को छोडकर कोई भी नदी नीचे मैदान नही बना पाई है। दक्षिणी भारत, अरब, स्पेन ग्रीनलैण्ड आदि देशो में इस वर्ग के पठार हैं। (देखिए चित्र ७० ग)

२३६. जलवायु का पठारों की बनावट पर प्रभाव—पठारों की बनावट पर जलवायु का विशेष प्रभाव पडता है। विश्व के अधिकाश पठार शुष्क पठार है। अधिकांश पठारों के सूखे होने के कारण निम्नलिखित है—

(१) कुछ पठार व्यापारिक हवाओं के मार्ग में पडते है, अत: वे शुष्क होते हैं।

(२) अन्तरापर्वतीय पठार प्राय: चारों ओर पर्वतों से घिरे होने के कारण हवाओं की वृष्टिछाया (Rain-shadow) वाले भाग में पडते है।

(३) भारत के दक्षिणी पठार की तरह कुछ पठारों का ऊँचा भाग वर्षा लाने वाली हवाओं के सामने ही पडता है जिसमे ऊँचे भाग में खूब वर्षा हो जाती है और शेष पठार सूखा रह जाता है।

(४) अधिक वर्षा के क्षेत्रों में कोई भूभाग दीर्घकाल तक पठार की विशेषताएँ बनाए नही रह सकता। जलधाराएँ इसको काट-काटकर पर्वतीय प्रदेश में बदल डालेंगी।

२३७ **शुष्क पठार**—वर्षा कम होने के कारण शुष्क पठार में भूमि प्रायः समतल होती है और नदियाँ नवीन अवस्था में होती है। जो नदियाँ अधिक वर्षा वाले भाग से बहती हुई आती है, वे शुष्क पठारो मे गहरी घाटियाँ बनाती है। अत्यन्त गहरी घाटियो को केनयन (Canyons) कहते है। गहरी केनयन बनने के लिए निम्न परिस्थितियों का होना आवश्यक है—

(१) शुष्क पठार के समीप में घनी वर्षा वाले पर्वतीय प्रदेश हों जहाँ से नदी शुष्क पठार मे बहती हुई जाती हो और नीचे की ओर समुद्र में गिरती हो।

(२) नदी का ढाल इतना प्रपाती (Steep) हो कि उसके साथ बजरी आदि बहकर आती हो ताकि तली को काटने में सरलता रहे।

(३) पठार समुद्रतल से बहुत ऊंचाई पर स्थित हो।

(४) पठार की चट्टाने इतनी सख्त हों कि वे एकदम ऊँची खडी रह सके।

(५) मौसमी क्षरण बहुत ही धीमी गति से हो। पानी की कमी से ढाल की कटान कम होती हो।

इस प्रकार की केनयन आवागमन के मार्गो मे बाधा उपस्थित करती है। घाटी के सँकरे होने के कारण उनमे रेलों या सडको का निर्माण कठिन होता है और नदी की प्रवाह-गति तीव्र होने के कारण जल-यातायात मे भी असुविधा उत्पन्न होती है। केनयन घाटी के दोनो ऊँचे कगारो की दूरी इतनी अधिक होती है कि उन पर पुल बनाना काफी मँहगा सौदा होता है। घाटी में पहुँचने के लिए सहायक घाटियो के टेढे-मेढ़े मार्ग ढूंढने पडते है क्योकि ऊँचे कगारो से नीचे घाटी में पहुँचना आसान नही है।

बहुत से शुष्क पठारो में और विशेषकर अन्तरापर्वतीय पठारो में नदियों का अन्तःप्रवाह (Inland Drainage) होता है। इन भागो की नदियाँ समुद्र में नही गिरती किन्तु किसी झील में या बड़ी नदी मे जा मिलती है। उदाहरण के लिए तारिम के शुष्क पठार की आमू और सर नदियाँ खारी झील, अरल सागर, में मिलती है।

२३८. **आर्द्र पठार** (Humid Plateaux)—जो पठार घनी वर्षा वाले भागों में स्थित होते हैं उन पठारों को नदियाँ काट-छाँटकर ऊबड़-खाबड़ बना देती

हैं। उदाहरण के लिए, चेरापूजी का पठार अत्यन्त आर्द्र जलवायु में स्थित होने के कारण स्थान-स्थान पर कट गया है। यहाँ पर बहुत-सी घाटियाँ लगभग ३,००० फुट गहरी हैं।

किसी-किसी पठार को नदियों ने इतना अधिक घिस डाला है कि उसका पठारी रूप ही समाप्त हो गया है। उदाहरण के लिए आस्ट्रेलिया के पठार का पूर्वी भाग अधिक वर्षा के कारण अपना पठारी रूप खो चुका है। इस भाग में उत्तर से ठेठ दक्षिण तक पठारी भाग घिसघिसाकर पहाड़ के रूप में फैला हुआ है। इसके विपरीत आस्ट्रेलिया का पश्चिमी पठार शुष्क जलवायु के कारण अपना पठारी रूप बनाए हुए है। इसी प्रकार ब्राजील के पठार का पूर्वी भाग भी वर्षा की अधिकता के कारण पहाड़ी प्रदेश के रूप मे बदल गया है। ब्राजील के पहाड समुद्र की ओर दीवार के रूप में सीधे खड़े हैं जिससे उनके प्राचीन पठारी रूप का स्पष्ट आभास मिलता है।

२३९. **हिम पठार** (Ice Plateaux)—ग्रीनलैण्ड और एण्टार्कटिक महाद्वीप बर्फ मे ढँके हुए पठारों के उदाहरण हैं।

२४०. **पहाड़ी प्रदेश** (Hill Lands)—समुद्रतल से ५०० फुट से २,००० फुट तट की ऊँचाई वाले ऊबड़-खाबड भूभाग को पहाड़ी प्रदेश कहते हैं। कुछ लोग भ्रमवश छोटे से टीले से लेकर ऊँचे पर्वत तक के लिए 'पहाड़ी' शब्द का प्रयोग करते हैं। हमे यहाँ पहाड़ी प्रदेश और पर्वतीय प्रदेश का अन्तर स्पष्ट समझ लेना चाहिए। पहाड़ी प्रदेश पर्वतीय प्रदेश के समान ही ऊँचा-नीचा होता है, परन्तु पहाड़ी प्रदेश की ऊँचाई समुद्रतल से २,००० फुट से अधिक नहीं होती। इसके विपरीत पर्वतीय प्रदेश बहुत ऊँचे होते हैं। दूसरे पर्वतीय प्रदेशों में पर्वतों की श्रृंखलायें इतनी घनी होती हैं कि उनकी सघनता और विशालता चित्त को बरबस आकर्षित कर लेती है। पहाडी प्रदेश में पहाड़ियो की सघनता इतनी अधिक नही मिलती। साथ ही हमें ऊँचे-नीचे मैदानों और पहाडी प्रदेशों में अन्तर कर लेना चाहिए। दोनों प्रकार के प्राकृतिक भाग एक समान ऊँचाई पर हो सकते हैं, परन्तु मैदानों का ढाल पहाड़ी प्रदेशों के ढाल से भिन्न होता है। मैदानों में कुछ भाग अन्य भागों से काफी ऊँचे मिल सकते है, परन्तु मैदान का ढाल सर्वत्र क्रमिक (Gradual) ही होता है। इसके विपरीत पहाड़ी प्रदेश बहुत ही ऊबड-खाबड़ होता है और उसमें ढाल एकदम ऊँचा या नीचा होता चला जाता है।

पठारी भाग जब बहुत अधिक कट जाता है, तो उसका पठारी स्वरूप समाप्त हो जाता है और ऊबड़-खाबड़ भूमि पहाड़ी प्रदेश में परिणित हो जाती है। ससार

में पहाडी प्रदेश बहुत से देशों मे फैले हुए हैं। एशिया में साइबेरिया, मचूरिया, मध्य और दक्षिणी चीन, जापान तथा फारमूसा द्वीप मे पहाडी प्रदेश काफी विस्तृत है। अन्य महाद्वीपो मे भी इन प्रदेशो का पर्याप्त विस्तार है।

२४१. पठारों की आर्थिक उपयोगिता—(१) उष्णकटिबन्ध में पठारो की जलवायु मैदानो की अपेक्षा ठण्डी होती है, अतः वहाँ पर मनुष्यो के बसने योग्य अच्छे स्थान पाए जाते है। पूर्वी अफ्रीका और दक्षिणी अफ्रीका के पठारो में यूरोप जैसे ठण्डे देश के निवासी जा बसे है और उन्होने देश को उन्नतिशील बनाया है। उष्ण कटिबन्ध में स्थित पठारों पर विस्तृत घास के मैदान है। जहाँ पर पशु पाले जाते है। कई स्थानो पर अच्छी खेती होती है तथा दूध का धधा जैसे विकसित धन्धे भी होते हैं।

(२) प्रचीन पठारो मे बहुत-सी बहुमूल्य खानें पाई जाती है। मध्यभारत के पठार की मैगनीज धातु, बोलिविया पठार की टिन, पश्चिमी आस्ट्रेलिया और कनाडा के पठार का सोना, दक्षिणी अफ्रीका के हीरे जगत्प्रसिद्ध है। अन्य प्राचीन पठारों में भी अनेक बहुमूल्य खनिज भरे पडे है।

(३) आर्द्र तथा ऊबड़-खाबड पठारों में जलप्रपात पाये जाते है जिनसे जलविद्युत बनाई जा सकती है।

प्रश्न

1. Discuss the various classifications of plateaus with special reference to India and adjacent countries.

(*Ban. M.A. & M.Sc. 1948*)

2 Discuss the economic importance of plateaus.

सत्रहवाँ अध्याय

तटरेखा (Shorelines)

२४२. तटरेखा किसे कहते है ?—वह सीमा जहाँ जलमण्डल और स्थलमण्डल मिलते हैं, तटरेखा कहलाती है। भौगोलिक दृष्टि से तटरेखा का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किसी देश के विकास में तटरेखा का महत्त्वपूर्ण भाग रहता है। तटरेखा के दोनों तरफ आवागमन के दो अलग-अलग तरह के मार्ग होते है जिन पर दो विभिन्न प्रकार के साधनों का उपयोग होता है। साधनों के बदलने के लिए जल और स्थल पर उचित स्थान की आवश्यकता पडती है ताकि उस देश का माल समुद्र-पार देशों को जा सके, और वहाँ से अन्य आवश्यक सामान आ सके। यदि तटरेखा सपाट है, तो जहाजों को ठहरने के लिए उचित स्थान नहीं मिलेगा और देश के व्यापार की तरक्की नही होगी। परन्तु यदि तटरेखा वक्र या कटी-फटी है अथवा बम्बई बन्दरगाह



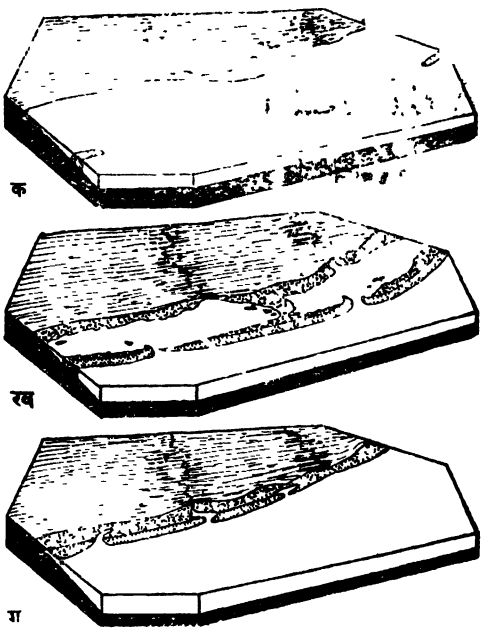
चित्र ७१. बिन्दुदार पुरानी तटरेखा

की तरह किसी द्वीप से सुरक्षित है, तो बन्दरगाह बनने में आसानी होगी। तटरेखा का सपाट या टेढ़ा-मेढ़ा होना बहुत-सी भौगर्भिक और समतलस्थापक शक्तियों के संघर्ष का परिणाम है।

२४३. भेद—भूगर्भ की दीर्घकालिक घटनाओ (Diatrosphism) के फलस्वरूप भूपटल का एक भाग धीरे-धीरे समुद्र में धँसकर जलमग्न हो जाता है अथवा सागरगर्भ से निकलकर स्थल का अश बन जाता है। भूभाग के नीचे की ओर धँसने से तटरेखा (Shoreline) स्थल की ओर घुसती चली जाती है। इसके विपरीत भूभाग के ऊँचे उठने से तटरेखा समुद्र की ओर बढ़ती जाती है। इस प्रकार तटरेखा के प्रधानतः दो प्रभेद है—(क) भूमि के नीचे धँसने से बनी हुई जलमग्न तटरेखा, तथा (ख) भूमि के ऊपर उठने से बनी हुई उन्मग्न तटरेखा। इन दोनों प्रधान भेदों पर समतलस्थापक शक्तियाँ भी अपना प्रभाव डालती हैं जिससे उनमें थोडा-बहुत परिवर्तन हो जाया करता है।

(क) भूमि के धँसने से बनी हुई तटरेखा
(Shorelines of Submergence)

२४४. मैदानी भाग का जलमग्न होना—मैदानी भाग के जलमग्न हो जाने पर तटरेखा की आकृति प्रमुखतः वक्राकार (Curved) होती है। मैदानी भाग में नदियाँ समुद्रतट के पास अधिकतर चौडी और उथली घाटियाँ बनाती हैं। दो नदियों के बीच का मैदानी भाग भी कम ऊँचा एवं विस्तृत होता है। इन घाटियों का ढाल बहुत कम होता है। स्थल के नीचे धँसने पर समुद्र का पानी नदी की घाटी में बहुत भीतर तक घुस आता है और खाडियाँ बन जाती हैं। यदि नदी का थोड़ा-सा भाग ही जलमग्न होता है, तो ऐश्चुअरी बन जाती है। इस प्रकार की खाड़ी अथवा ऐश्चुअरी पर बडे अच्छे बन्दरगाह बन जाते हैं। लन्दन बन्दरगाह थेम्स नदी की ऐश्चुअरी पर बना है। नदियों के बीच की ऊँची भूमि प्राय. द्वीप के रूप में ऊँची उठी रह जाती है। बाल्टिक सागर और उत्तरी सागर की तटरेखा स्थल के जलमग्न होने से निर्मित हुई है। इस प्रकार के तट को **नद्य तट या रिया तट** (Ria Coast) कहते हैं।



चित्र ७२.
जलमग्न तटरेखा और उसका विकसित रूप। (क) जलमग्न तट। (ख) समतलस्थापक शक्तियों का प्रभाव। (ग) पूर्ण विकसित तट।

२४५. समतलस्थापक शक्तियों का प्रभाव— इस प्रकार के तट पर लहरों और धाराओं का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। लहरे स्थल की चट्टानों से टकराकर उसे किसी स्थान पर काट देती हैं। यह कटान बढ़ते-बढ़ते निचले भाग को खोखला बना देती है और ऊपरी भाग आगे की ओर लटकता-सा रहता है। यदि स्थल की चट्टानों में से कुछ चट्टानें नरम और कुछ कठोर हैं, तो नरम चट्टान जल्दी कट जावेंगी।

इस प्रकार कटने से तटरेखा का रूप विचित्र हो जायगा। कही गुफायें-सी बनेगी तो कहीं टीले-से; और कही चट्टान का अर्द्ध जलमग्न भाग समुद्र में बहुत दूर तक घुसा होगा। यह अर्द्ध-निमग्न चट्टानी भाग तूफान के समय अथवा दीर्घ ज्वार के समय पूर्णतया जल में डूबा रहता है। अनजान नाविक ऐसी चट्टानों मे धोखा खा जाते हैं, और अब तक बहुत से जहाज इनसे टकराकर टूट भी चुके है। अत. ऐसे स्थानों पर प्रकाशस्तम्भ (Light Houses) लगाने पडते है। बहुत से स्थानों पर तटवर्ती चट्टानें घिस-घिसाकर मैदान के रूप में बदल जाती है। इन मैदानो को तरंग-घर्षित उत्तल (Wave-cut Terrace) कहते हैं।

कटी हुई मिट्टी, बालू और बजरी लहरों के साथ बहकर किसी खाडी के प्रवेश द्वार पर जमा होती रहती है। धीरे-धीरे इनके एकत्र होने से जीभ की शकल का एक टीला-सा बन जाता है जिसे जिह्वाकार टीला (Spits) कहते हैं। यदि ज्वारभाटे की लहरे तथा अन्य धारायें इस टीले को घसीटकर तट की तरफ कुछ टेढ़ा-मेढा-सा खड़ा कर देती है, तो इसका नाम **स्थली अंकुश** (Recurved Spit or Hook) पड जाता है।

यदि लहरों द्वारा तट पर पटकी हुई बालू को हवायें उड़ा ले जाती है, तो उस बालू से तट के समीप टीले बन जाते है। ये बालू के टीले निरन्तर स्थल की ओर खिसकते रहते है और उपजाऊ भूमि की रक्षा एक समस्या बन जाती है।

२४६. **पर्वतीय प्रदेश का जलमग्न होना**—नदियो द्वारा क्षय हुए पर्वतीय भाग के जलमग्न होने पर उसी प्रकार की खाडियाँ बनेंगी जैसी पूर्व वर्णित मैदानी भाग के जलमग्न होने से बनती हैं। इन खाडियो मे बन्दरगाह तो सुरक्षित रहेंगे, परन्तु ऊँची-नीची तटभूमि के कारण पृष्ठदेश से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यातायात के साधन बनाने मे कठिनाई होगी। ईजियन सागर पर इसी प्रकार तटरेखा है। इस तट पर बन्दरगाह बहुत कम है। दक्षिण भारत का पश्चिमी तट भी इसी प्रकार का है। अतः इस तट पर बम्बई के अतिरिक्त कोई उत्तम बन्दरगाह नही है। बम्बई के समीप पश्चिमी घाट पर्वत मे पालघाट और भोरघाट दो दर्रे है। इन दर्रों के कारण बम्बई बन्दरगाह का सम्पर्क देश के भीतरी भाग से स्थापित हो गया है और इसीलिए बम्बई भारत का सबसे बड़ा बन्दरगाह बन गया है।

जिस पर्वतीय प्रदेश पर हिमानियो का राज्य रह चुकता है, उनके नीचे धँसने पर विचित्र दृश्य बन जाया करते हैं। हिमानियो की घाटियाँ लम्बी होती है, उनमें टेढ़ापन बहुत ही कम होता है, घाटी की कटान एकदम ऊँची-लम्बाकार-सी होती है, तथा चट्टानों के कोने आगे की ओर निकले हुए नही रहते। धरातल की भूमि का ढाल

सीढ़ियों की पंक्ति के रूप में कटा होता है। ऐसे तटीय भाग के जलमग्न हो जाने पर असाधारण लम्बाई वाली परन्तु सकीर्ण एव ऊँचे-ऊँचे कगारो वाली गहरी खाडियाँ बन जाती हैं। स्थल के भीतर घुसी हुई समुद्र की ऐसी लम्बी-लम्बी बाहुओं को फियोर्ड (Fiord) कहते हैं। इन फियोर्डो की लम्बाई विस्मयोत्पादक होती है। नार्वे की सबसे लम्बी फियोर्ड ११२ मील लम्बी तथा औसतन ४ मील चौड़ी है। इसकी गहराई भी कहीं-कही ४,००० फुट तक है। सयुक्त राज्य अमेरिका (U.S.A.) के पश्चिमी तट पर स्थित पगेट साउण्ड भी हिमानी द्वारा निर्मित एक घाटी है जो जलमग्न हो गई है। नार्वे, अलास्का, चिली, न्यूजीलैण्ड का दक्षिणी द्वीप, लैब्रेडोर, ग्रीनलैण्ड आदि देशों के तट पर फियोर्ड हैं। स्पष्ट है कि इन प्रदेशो पर किसी-न-किसी समय हिमानियों का विस्तार रहा होगा। हिमानियों द्वारा बनाई हुई घाटियों के जलमग्न होने से इन देशो के तट पर फियोर्ड बने है।

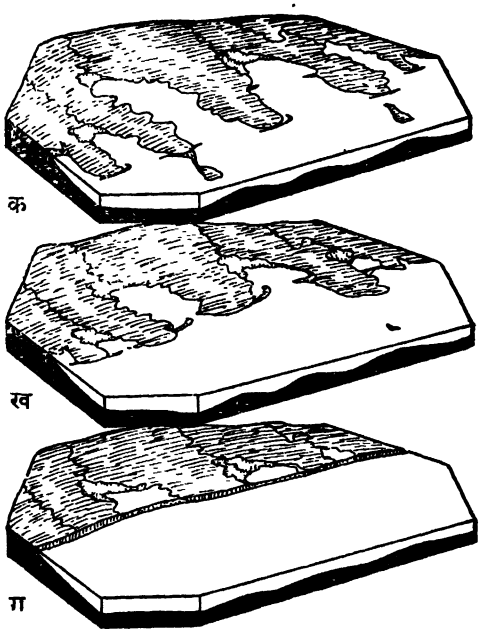
(ख) स्थल के ऊँचे उठने से बनी हुई उन्मग्न तटरेखा
(Shorelines of Emergence)

२४७. **जलमग्न मैदानी तट**—समुद्र के पास का जो स्थलभाग जल में डूबा रहता है उसे महाद्वीपीय जलमग्न तट (Continental Shelf) कहते हैं। इन जलमग्न तटों पर नदियो द्वारा लाई हुई मिट्टी जमा होती रहती है। लहरो और धाराओ द्वारा टूटी हुई चट्टानो की छीलन भी यही पर बिछती रहती है। इस प्रकार बजरी, बालू और मिट्टी के निरन्तर जमते रहने से जलमग्न तट सपाट और समतल-सा बन जाता है। भौगर्भिक घटनाओं के परिणामस्वरूप जब कभी यह सपाट जलमग्न भूमि समुद्र के नीचे से निकलकर जल से ऊपर उठ जाती है, तो पुराने तट के साथ मे यह नवीन तट की पट्टी ओर भी मुड जाती है। यह नवनिर्मित उन्मग्न भूभाग लगभग समतल-जैसा होता है। इसकी तटरेखा बिलकुल सीधी होती है। इस तट में वक्रता न होने के कारण खाडियो का प्रायः अभाव रहता है। ऐसी तटरेखा व्यापार के लिए अच्छी नहीं होती। यातायात के साधनो की सुविधा की दृष्टि से इस प्रकार के तट पर दो प्रकार की असुविधाओं का सामना करना पडता है—

(१) नवनिर्मित तट के पास में जलमग्न तट बहुत ही कम ढालू होता है। फलतः, तट के पास समुद्र काफी दूर तक उथला रहता है। बड़े-बड़े समुद्री जहाजों को बन्दरगाह से बहुत दूर ही खड़ा रहना पड़ता है जहाँ से सामान को छोटी-छोटी नावों में लादकर बन्दरगाह तक पहुँचाना पड़ता है। टिनेवैली का तट इसका एक उदाहरण है।

(२) इस नवनिर्मित तटभूमि का ढाल बहुत कम होता है, अतः नदियों द्वारा लाई हुई जलराशि विस्तृत भूभाग में फैल जाती है और इसके अधिकांश भाग को दलदली बना देती है। ऐसे तट पर स्थित बन्दरगाह को अपने पृष्ठदेश (Hinter Land) से मिलाने के लिए रेलों और सडको आदि साधनों के विकसित करने में बडी मुश्किल पडती है। भारत में मदुरा तट इसका एक उदाहरण है।

२४८. समतलस्थापक शक्तियों का प्रभाव—छिछले जल वाली तटभूमि पर समुद्र की लहरो और धाराओं की अपक्षरण करने वाली शक्ति कोई प्रभाव नही डाल सकती क्योकि तटरेखा से सैकडो गज की दूरी पर ही टकरा जाने के कारण उनका बल और वेग घट जाता है। शक्ति नष्ट हो जाने पर लहरो का कुछ जल तटरेखा की ओर बढता है और अपने साथ लाई हुई मिट्टी आदि को तट के पास ही जमा कर देता है। धीरे-धीरे तटरेखा के समानान्तर लम्बे और सँकरे द्वीप-जैसे बहुत से टीले जल से ऊँचे उठ जाते है। कालान्तर में ये टीले मिलकर एक हो जाते है और तटरेखा के समानान्तर एक लम्बी शृंखला-सी बन जाती है। इस लम्बी शृंखला को **अनुतटीय बाधक श्रेणी** (Offshore Bar) कहते हैं। इस बाधक श्रेणी और मुख्य तट के बीच में खारे पानी की लम्बी और सकीर्ण झील बन जाती है जिसको **लैगून झील** (Lagoon) कहते है। उड़ीसा के तट पर चिलका झील और मद्रास के समीप पुलीकट झील इसी प्रकार की लैगून झीले है। यदि नदियो का पानी इन झीलों से आकर मिलता रहता है, तो पानी से घिस-घिसाकर बाधक श्रेणी का कोई एक भाग भंग हो जाता है और समुद्र से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। बाधक श्रेणी के



चित्र ७३.
उन्मग्न तटरेखा और उसका विकास
(क) उन्मग्न मैदानी तट। (ख) समतलस्थापक शक्तियों का प्रभाव। (ग) पूर्ण विकसित अवस्था।

इस टूटे हुए भाग में होकर पानी आने-जाने का एक मार्ग बन जाता है। जल के ऐसे द्वार को **वेला-द्वार** (Tidal Inlet) भी कहा जा सकता है। इस वेला-द्वार में होकर समुद्र का जल ज्वार के समय झील में घुस आता है और भाटे के समय झील से बाहर निकल जाता है। इस प्रकार निरन्तर ज्वार की लहर के भीतर आने और भाटे की लहर के बाहर जाते रहने से वेला-द्वार कटकर काफी बड़ा हो जाता है। इस बड़े द्वार से होकर ज्वार की लहर बड़ी आसानी से घुसी चली जाती है। बाधक श्रेणी में बने हुए ऐसे चौड़े मार्ग को वेला-धावन (Tidal Race) कहा जाता है। बहुत से वेला-धावन इतने गहरे और चौड़े कट जाते है कि काफी बड़े-बड़े जहाज उनमे होकर भीतर पहुँच जाते है।

२४९. **उन्मग्न पहाड़ी तट** (Emerged Mountain Coasts)—महाद्वीपीय जलमग्न तट (Continental Shelf) का विस्तार तटभूमि के ढाल के अनुसार कम या अधिक होता है। उदाहरण के लिए यदि तटीय भाग मैदान होगा, तो उसका ढाल क्रमिक (Gradual) होगा और जलमग्न तट (Continental Shelf) भी समुद्र में काफी दूर तक विस्तृत होगा। इसके विपरीत यदि तटीय भूमि पहाड़ी भाग होगी, तो अधिक ढालू होने के कारण जलमग्नतट (Shelf) भी अधिक दूर तक नही फैला होगा। मैदानी तट के समीप जलमग्न तट के ऊँचे उठने का वर्णन किया जा चुका है। इस प्रकार के तट के ऊँचे उठने पर जो नवीन तटभाग बनता है उसके पास समुद्र काफी दूर तक उथला रहता है क्योकि जलमग्न तट की लम्बाई काफी होती है।

परन्तु जब पर्वतीय तटभूमि के पास का भाग समुद्र के नीचे से निकलकर स्थल का भाग बनता है, तो उसके समीप का जलमग्न भाग (Continental Shelf) बहुत ही सकीर्ण रह जाता है। फलत, तट के पास समुद्र की गहराई भी अधिक होती है। इस नवीन उन्मग्न तट की तटरेखा भी सीधी ही होती है। इस प्रकार के तट पर जहाँ कही कटान होती है, वहाँ अच्छे बन्दरगाह बन जाते है। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिकाओं के पश्चिमी तट पर अधिकाश तटरेखा इसी प्रकार की है। संयुक्त राज्य (U.S.A.) के ओरेगन राज्य के तट से लेकर चिली देश में ४०° दक्षिणी अक्षाश तक लगभग ६,००० मील लम्बी तटरेखा थोड़ी-सी वक्रताओ को छोड़कर प्राय सीधी चली गई है। इस तट पर जहाँ कही भी थोड़ी-बहुत कटान है, वही पर व्यापार के केन्द्र बन गए है।

२५०. **समतलस्थापक शक्तियों का प्रभाव**—समुद्र की उत्ताल तरगे पर्वतीय-प्रदेश से आकर टकराती है और तट को निरन्तर काटती रहती है। फलस्वरूप ऐसे तटों पर स्थल के अत्यन्त कठोर भाग समुद्र की ओर निकले रहते है जिन्हें अन्तरीप

(Capes) कहते हैं। कही-कही समुद्र की तरंगें स्थल को काटकर कन्दरायें बना देती हैं। धीरे-धीरे ये कन्दराये चौड़ी होती रहती है और स्थल का कठोरतम भाग समुद्र में अलग कटा हुआ रह जाता है। ऐसे कटे हुए भाग को **प्राकृतिक पिरामिड** कहते है। ऐसे तटों पर तटरेखा के समीप तरग-घर्षित मैदान मिलते है।

ऐसे तट बन्दरगाह बनने के अयोग्य होते है। दक्षिणी भारत का पश्चिमी तट भी प्रायः इसी प्रकार का है।

(ग) अन्य प्रकार की तटरेखायें
(Miscellaneous Shorelines)

२५१. गर्म समुद्रों में मूँगे के कीडों से तट के पास कही-कही पर मूँग की दीवार खड़ी कर दी है जिसमे प्रवालीय तटरेखायें बन गई है। इस प्रकार की तटरेखा प्रशान्त महासागर के द्वीपों में बहुत पाई जाती है। बहुत से तटों पर नदियों ने डेल्टा बनाकर तटरेखा को समुद्र की ओर खिसका दिया है। उदाहरण के लिए, नील नदी का डेल्टा निरन्तर आगे बढ़ रहा है। कुछ तटों पर ग्लेशियर की कटान या जमाव के चिह्न मिले हैं। किसी स्थान पर तट के उन्मग्न होने (Emergence) तथा जलमग्न (Submergence) होने के दोनों प्रकार के चिह्न मिलते है। उपर्युक्त सभी प्रकार के मिश्रण से विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार की तटरेखाओं के असंख्य भेद मिलते हैं।

२५२. **बन्दरगाह**—तटरेखा और बन्दरगाह का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में बात यह है कि समुद्र में तूफानी आँधियों के उठते रहने से समुद्र के जल में भयानक लहरें उठा करती है। अत. इन लहरों के प्रहार से बचने के लिए बन्दरगाह के पास ऐसा पोताश्रय (Harbour) होना चाहिए जहाँ जहाज आराम मे ठहर सकें। अतः किसी तटीय भाग पर बन्दरगाह बनाने मे पहले हमें यह देखना होगा कि वहाँ पर अच्छा पोताश्रय मिलेगा या नही। किसी भी बन्दरगाह के लिए अच्छा पोताश्रय होना सबसे आवश्यक शर्त है। सर्वोत्तम पोताश्रय (Harbour) वही होगा जहाँ निम्नांकित सुविधाएं उपलब्ध हों—

(१) पोताश्रय में बडे-बडे जहाजों के ठहरने लायक काफी गहरा पानी हो।

(२) समुद्र की तूफानी आँधियो से जहाजों की रक्षा हो सके।

(३) पोताश्रय की जलभण्डार इतना विस्तृत हो कि उसमें जहाज एक स्थान से दूसरे स्थान तक सुविधापूर्वक जा सकें।

(४) खुले समुद्र में पहुँचने के लिए जो खाड़ी हो वह भी काफी गहरी हो और उसमें होकर ज्वार की लहर तीव्र वेग से न आती हो। हाँ, ज्वार-भाटे का साधारण उतार-चढ़ाव भी जरूर होता हो।

(५) तटरेखा की लम्बाई इतनी अधिक हो कि वहाँ पर आवश्यकतानुसार चाहे जितने घाट (Docks) बनवाये जा सके।

(६) वहाँ पर इतनी अधिक ठण्ड भी न पडती हो कि पोताश्रय में जाडो भर बर्फ जमी रहे और दीर्घकाल तक जहाजो का आना-जाना बन्द रहे।

स्पष्ट है, सीधी तटरेखा पर ऐसे पोताश्रय नही मिलते। हाँ, मद्रास बन्दरगाह की तरह समुद्र में कंक्रीट की दीवारें खड़ी करके मनुष्य ने पोताश्रय बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है, परन्तु ये प्राकृतिक पोताश्रय की समता कभी नही कर सकते। इसी कारण संसार के प्रधानतम बन्दरगाह स्थलभाग के जलमग्न होने वाले तटों पर ही बने है। कुछ अच्छे बन्दरगाह नदियो की ऐश्चुअरी पर भी बने हैं। ऐसे बन्दरगाहों से सबसे बड़ा लाभ यह है कि जहाज देश के भीतरी भाग में काफी दूर तक प्रवेश कर जाते हैं।

अच्छे पोताश्रय होने के अतिरिक्त कुछ अन्य बाते भी इतनी महत्त्वपूर्ण हैं जिनके बिना कोई भी बन्दरगाह उन्नतिशील नही हो सकता। ये बातें निम्नांकित हैं—

(१) बन्दरगाह की भौगोलिक स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से उत्तम हो।

(२) बन्दरगाह को देश के भीतरी भाग से मिलाने के लिए रेलों और सडकों का जाल विछा हो।

(३) पृष्ठदेश इतना उत्पादक अथवा धनी हो कि वहाँ से काफी माल बाहर जा सके और बाहर के देशों का आया हुआ माल खरीद सके।

प्रश्न

1. Give a classification of Shorelines and state their suitability or otherwise for the development of Sea ports.

(*Ban. B.A. 1952*)

2. What are the important facilities that we should have in a good harbour ?

अठारहवाँ अध्याय

झील (Lakes)

२५३. झील किसे कहते है ?—स्थल मे घिरे हुए स्थिर जलखण्ड को झील कहते है । झील किसी विशेष लम्बाई-चौडाई वाले जलखण्ड का ही नाम नही है। मृतक सागर-जैसे बडे-से-बडे जलखण्ड को भी झील कहते है और छोटे जलाशयों को भी झील कहा जाता है। झीलो की गहराई में भी विभिन्नता पाई जाती है । प्रो० सेलिसबरी का मत है कि संसार की आधी से अधिक झीलों की गहराई ५,६१८ फुट (१ मील से भी अधिक) है।

२५४. झीले कहाँ बनती है ?—झीलो के निर्माण में धरातल की संरचना (Structure) और जलवायु विशेष प्रभाव डालते है । सबसे पहली और आवश्यक शर्त धरातल पर गर्त या नीचे स्थान उत्पन्न होना है । जब तक धरातल पर नीचा स्थान न होगा जल को एकत्रित होने का अवसर ही नही मिल पायेगा। झील-निर्माण की दूसरी शर्त अनुकूल जलवायु का होना है। जलवायु के दो प्रमुख अग—ताप और वर्षा—झील-निर्माण के लिए उत्तरदायी है। जिन प्रदेशो में वर्षा अधिक होती है तथा गर्मी कम पडती है वहाँ झीलो का पानी नही सूख पाता क्योकि नदियाँ वर्षा का जल ढो-ढोकर झीलो मे भरती रहती है।

२५५. झीलों के भेद—धरातल पर यहाँ कही भी जल का बहाव रुक जाता है और चारो ओर ऊँची भूमि होने के कारण स्थिर हो जाता है, वहाँ झील बन जाती है। जल के इस प्रकार रुक जाने के कई कारण है । इन्ही कारणो के आधार पर झीलों के चार भेद किए जाते है—

(क) पृथ्वी के आभ्यन्तरिक परिवर्तन द्वारा बनी झीलें।

(ख) धरातल पर एकत्र होने वाले शिलाखण्डो से बनी झीलें।

(ग) धरातल की कटान पर बनने वाली झीलें।

(घ) ज्वालामुखी द्वारा बनी झीले।

२५६. आंतरजात परिवर्तनों द्वारा निर्मित—भौगर्भिक शक्तियों के प्रभाव से धरातल का कुछ भाग ऊँचा उठता है अथवा नीचे को धँसता है। चट्टानो से मुडने या चटक जाने से धरातल पर आघात (Hollows) या नीचे स्थान बन जाते है । इन नीचे स्थानो में पानी भरने पर झील बन जाती है । ससार की अधिकांश बड़ी झीलें इसी प्रकार की है।

(१) **नवनिर्मित स्थलखण्ड की झीलें**—समुद्र तट के पास की भूमि उठ जाने से स्थलखण्ड का कुछ भाग नीचा हो जाता है जिसमें लम्बी और उथली झीलें बन जाती हैं। भारत में कारोमण्डल तट पर ऐसी कई झीलें हैं।

(२) **स्थलभंग** (Faulting) **से बनी झीलें**—भूपटल पर तनाव या भिचाव पड़ने से दरारें पड जाती है और भूमि का कुछ भाग नीचे धँस जाता है। इस प्रकार की दरारी घाटी में जल भर जाने से संकीर्ण झीले बन जाती हैं जिनके किनारे एकदम लम्बाकार रूप में ऊंचे उठे हुए होने हैं। इस प्रकार भूखण्ड के नीचे धँस जाने से ४,००० मील लम्बा एक प्रसिद्ध गर्त बन गया था जिसमें पानी भरने से अफ्रीका की टेंगेनिका, न्यासा और रूडोल्फ झीले तथा फिलिस्तीन में जोर्डन की घाटी मृतक सागर और गेलिली सागर बन गए। साइबेरिया की बैकाल झील और स्काटलैण्ड की झीलें भी इसी प्रकार की है।

(३) **धँसाव से बनी झीलें**—कहीं-कहीं भूकम्प नदियों की तली में उलट-फेर कर देते हैं। जिससे जल-प्रवाह में बाधा पडती है और जल रुककर झील बन जाती है। भूकम्प के कारण धरती फटकर नीचे धँस जाती है और झील बन जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका मे एक बार भूकम्प से भूमि इस प्रकार हिल गई कि कई स्थानों पर जलप्रवाह रुकने से झीले बन गई। टेनसी की घाटी मे रील फुट इसी प्रकार की झील है। भारत मे कच्छ की खाडी १८१५ ई० के भूकम्प से बनी। बिहार राज्य में भूकम्प के कारण एक बहुत बडी झील मुंगेर जिले मे बन गई।

(४) **मोड** (Folding) **से बनी झीलें**—जब स्ट्रेटा में मोड पडती है तो कभी-कभी ऐसा होता है कि ऐसी दो दिशाओं में एक साथ मोड बनती है जो एक दूसरी पर समकोण बनाती है। जैसे मान लीजिए कि उत्तर और पूर्व दिशाये एक दूसरी पर समकोण बनाती है। इनमें एक साथ मोडे पडी और मोडो के कारण जो द्रोणियाँ बनी वे गढ्ढे बन गए। इन गढ्ढों मे पानी भरने से झीलें बन जाती है। स्विटजरलैंड की जेनेवा झील इसी प्रकार बनी है।

२५७ **शिलाचूर्ण के जमाव से बनी झीलें**—(१) किसी समय उत्तरी अमेरिका तथा उत्तर-पश्चिमी यूरोप हिम-आवरण से आवृत्त थे। हिम पिघलने पर हिम के साथ बहकर आए हुए शिलाखण्ड जहाँ-तहाँ जमा हो गए। कई जगहो पर ये शिलाखण्ड इस प्रकार जमा हो गए कि इनके बीच का स्थान नीचा रह गया जिसमे जल भरने से झीलें बन गई। इस प्रकार की झीलो का विस्तार कम होता है।

(२) ग्लेशियर या हिमानी के साथ कई प्रकार के शिलाखण्ड बहकर आते है। इनमें से कोई-कोई शिलाखण्ड तो इतने विशाल है कि इनको जरा-सा हिलाने के लिए

भी भारी शक्ति की आवश्यकता पडती है। हिम पिघल जाने पर पानी में इतनी शक्ति कहाँ, जो उन्हें बहा सके। अत: वे शिलाखण्ड जमा होकर पानी के बहाव को रोक लेते है और झीलें बन जाती है। उत्तरी इटली, स्केण्डिनेविया, स्काटलैण्ड और इग्लैण्ड के लेक डिस्ट्रिक्ट मे अधिकतर झीले इसी प्रकार से बनी है। स्विटजरलैण्ड की जेनेवा और कान्स्टेन्स झीले इस प्रकार की झीलो के उत्तम नमूने है।

(३) ग्लेशियर की चाल बहुत धीमी होती है और सकीर्ण घाटी में तो यह चाल शून्यवत् ही जाती है। जब कभी यह ग्लेशियर किसी नदी के मार्ग में पड जाती है तो उसके बहाव को बाँध की तरह रोक लेता है और इस प्रकार एक झील बन जाती है। वनीज आल्प्स में एक ग्लेशियर ने नदी के प्रवाह को रोककर मार्जेलेन सागर नामक झील बना दी है।

(४) जब नदियाँ पहाडी मार्ग को छोडकर मैदान मे उतरती है तो उनका प्रवाह-वेग कम हो जाता है। फलत, ढोकर लाई हुई शिलाचूर का अधिकांश भारी भाग वही छोड़ना पड़ता है। धीरे-धीरे यह ढेर इतना ऊँचा हो जाता है कि पानी रुककर झील बन जाती है।

(५) मैदानों मे नदियो के पथ बदल देने पर पुरानी घाटी में जगह-जगह पानी भरा रह जाता है। आस्ट्रेलिया में मरे नदी की ऐसी झीले बिलिबाग (Billbongs) कहलाती है।

कभी-कभी दो नदियों के डेल्टा के बीच की भूमि नीची रह जाती है और उसमे पानी भरने से झील बन जाती है। नाइजर नदी की ऐसी झीलों को मेरीगोट (Marigots), मिसिसिपी की झीलों को बेवोन (Bavoun) और नील की झीलो के मयेह (Mayeh) कहते है।

(६) अधिक वर्षा वाले भागों में नदियों के किनारे घने जगल उग आते हैं। जब नदी का मार्ग घुमावदार हो जाता है, तो नदी घुमाव के पास तट को काटती है और वहाँ के वृक्ष उखड़कर नदी में गिर जाते है। धीरे-धीरे उनके सहारे मिट्टी जमा होती रहती है और कालान्तर में एक दीवार-सी बन जाती है जिससे पानी का प्रवाह रुक जाता है। इस प्रकार एक झील-सी बन जाती है। संयुक्त राज्य की रैड नदी और अफ्रीका की सफेद नील नदियों की ऊपरी घाटी में इस प्रकार की झीलें पाई जाती है।

(७) मौसमी क्षरण (Weathering) के कारण घाटियों के दोनों पार्श्वों से शिलाचूर्ण टूटकर जमा होती रहती है और गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से खिसककर घाटी की तली में गिरती रहती है। यदि यह शिलाचूर नदी के प्रवाह को अवरुद्ध कर देती है तो झीलें बन जाती हैं।

(८) ज्वारभाटा, लहरों या हवा के प्रभाव से समुद्रतट के पास बालूकास्तूप बन जाते हैं । इन स्तूपों से स्थल की ओर समुद्र का खारी जल रुक जाता है और झीलें बन जाती हैं। ऐसी झीलों को लैगून कहते हैं। बहुत-सी ऐसी झीलो का समुद्र से सम्बन्ध बना रहता है । दक्षिणी भारत के त्रावनकोर-तट पर, बिस्के की खाडी मे फ्रास के तट पर, जर्मनी के बाल्टिक तट पर तथा रूस के कृष्ण सागरीय तट पर ऐसी अनेक झीलें है ।

२५८. कटाव द्वारा बनी झीलें—**(१) हिमानी निर्मित झीले**—ग्लेशियर अपने मार्ग में पडने वाली चट्टानो को रगड़ते हुए चलते है । जहाँ कही चट्टाने नरम होती है, वही पर खरोचो के कारण गहरे गड्ढे बन जाते है । बर्फ पिघल जाने पर इन गड्ढो में पानी भर जाता है और झीलें बन जाती है । ऐसी झीलो को कौरी झीले (Corrie Lakes) कहते है । ऐसी झीले कनाडा, उत्तरी इग्लैण्ड और स्वीडन आदि देशो के ग्लेशियरो वाले भागो में पाई जाती है ।

प्राचीन हिमयुग में हिमावरण से निकले हिमानियो ने धरातल को रगड़-रगड़ कर झीले बना डाली । ऐसी झीले फिनलैण्ड तथा कनाडा के दक्षिणी भाग में फैली है ।

(२) **नदी निर्मित झीलें**—(क) नदियाँ जब समस्त भूमि पर बहती है तो उनका मार्ग वक्राकार (टेढा-मेढ़ा) हो जाता है । घुमाव के कारण नदी एक ओर की चट्टानों की जड़ो को तेजी से काटती है । धीरे-धीरे नदी का घुमाव नवचन्द्राकार हो जाता है । बाढ़ के समय घुमाव के दोनो सिरो के बीच का स्थल कट जाता है और नदी घुमाव को छोड़कर सीधी बहने लगती है । घुमाव वाली शाखा कटकर झील के रूप में अलग रह जाती है जिसे धनुपाकार झील (Ox Bow Lake) कहते हैं ।

(ख) जब नदी नरम चट्टानों पर बहती है तो नरम चट्टाने घुल-घुलकर सफाचट होती रहती हैं । सैकड़ों वर्ष बाद वहाँ एक बड़ा गड्ढा बन जाता है और वहाँ झील बन जाती है । ऐसी झीलो की विशेषता यह होती है कि नदी एक ओर से जल लाती है और दूसरी ओर से बहा ले जाती है । उत्तरी आयरलैंड की लोनी (Longh Neagh) और डर्ग झीलें इसी प्रकार की झीलें है ।

(३) **भूमिगत जल निर्मित चट्टानें**—चूने की चट्टानों में भूमिगत जल भीतर-ही-भीतर कन्दरायें बना देता है । जब कभी कन्दराओ की छत टूट जाती है तो एक बड़ा गर्त्त बन जाता है, जिसमें पानी भरने से झील बन जाती है । खासी और जयन्तिया की पहाड़ियो में इस प्रकार की कई झीले है ।

२५९. ज्वालामुखी द्वारा निर्मित झीलें—(१) ज्वालामुखी से लावा निकल कर वहता है और घाटियों में होता हुआ नदी के मार्ग को रोक देता है। लावा ठण्डा होकर सख्त चट्टान बन जाता है जिससे जल एकत्र होने लगता है और झील बन जाती है। ज्वालामुखी पर्वतों के आस-पास ऐसी कई झीलें पाई जाती है। अबीसीनिया पठार पर टाना (Tana) झील नीली नील के मार्ग में लावा जम जाने से बनी है।

(२) ज्वालामुखी के शान्त हो जाने पर उसके मुख में पानी भर जाता है और झील बन जाती है। ऐसी झीलों को क्रेटर झील या ज्वालामुख झील कहते है। इनकी आकृति वृत्ताकार होती है और गहराई भी पर्याप्त होती है। दक्षिणी भारत की लोनार झील, फ्रांस की पेविन झील (आवर्ने क्षेत्र), इटली की एलबेडो और नेमी झीलें और मेक्सिको की ग्रस्टाविला झील इसी प्रकार की झीलें है। संयुक्त राज्य की क्रेटर झील बहुत बड़ी है। इसका व्यास ५ मील और गहराई लगभग २,००० फुट है।

२६०. झीलों का खारापन—संसार की अधिकांश झीलों का पानी मीठा है। फिर भी खारी पानी की झीलों की संख्या भी बहुत है। जिन झीलों का पानी बाहर नही बह पाता और गरमी के कारण पानी भाप बनकर सूखता रहता है, उन झीलों का पानी खारी है। खारी झीलों में मृतक सागर, कैस्पियन सागर, अरल सागर और यूटा (U.S.A) की ग्रेट साल्ट लेक मुख्य हैं। ग्रेट साल्ट लेक के पानी में समुद्र जल से पाँच गुना अधिक नमक है। इसी कारण इस झील का पानी इतना भारी है कि इसमें स्नान करने वाला डूब नही सकता। मृतक सागर में भी यही दशा है। राजस्थान की प्रायः सभी झीलें खारी हैं। इन झीलों के खारेपन के विभिन्न कारण बताए जाते है। सर टी. एच. हालैण्ड और डॉ० क्रिस्टी के अनुसार कच्छ की खाड़ी से चलने वाली आँधियाँ अपने साथ समुद्र के खारे पानी के कण तथा नमक-मिश्रित धूल के कण उड़ा लाती हैं। राजस्थान के गरम भाग में उनका जल सूख जाता है और नमक पृथ्वी पर गिर जाता है। वर्षा का जल इस नमक को नीची भूमि मे एकत्र कर देता है। इस प्रकार खारी झीलें बन जाती हैं। इन झीलों में साँभर झील बहुत प्रसिद्ध है। डॉ० गाडबोल ने राजस्थान के विभिन्न स्थानों पर नमक की जाँच की तो पता चला कि विभिन्न झीलों में विभिन्न प्रकार के क्षार मौजूद हैं। उदाहरण के लिए साँभर और डिडवाना झीलों में सोडियम सल्फेट, सोडियम कार्बोनेट आदि क्षार पाए गए। इसके विपरीत पचभद्रा में मेगनेशियम क्लोराइड और मेगनेशियम सल्फेट नामक क्षार मिले जो साँभर झील में बिलकुल नही मिलते। इस आधार पर डा० गोडबोल ने हालैड और क्रिस्टी के मत को गलत बताया। इनके मत से चट्टानों के

तत्त्वों में मिश्रित नमक के ऊपर आ जाने से ही इन झीलों में खारापन पाया जाता है।

२६१ झीलों की अस्थायित्व—भूतल पर इन झीलों का जीवन-काल अपेक्षाकृत अल्पकालीन है। कुछ झीलों को नदियाँ अपने साथ मिट्टी ला-लाकर पाटती रहती हैं और धीरे-धीरे झील समाप्त हो जाती है। आल्प्स पर्वत की जेनेवा झील आजकल इसी प्रकार भरती जा रही है। पहले यह झील ७ मील लम्बी थी। रोन नदी इसमें मिट्टी बिछाकर पाटती रही है जिससे झील की तली ऊँची होने के कारण पानी कुछ ऊँचा उठकर बहता है और घाटी को काटता है। इस प्रकार कटते-कटते झील की लम्बाई ८० मील हो गई है। भविष्य में सभवत. यह झील पटकर समाप्त हो जायगी।

कुछ झीलों में वनस्पतियाँ गिर-गिरकर सड़ती रहती हैं और धीरे-धीरे झील समाप्त होती जाती है। आयरलैंड की कुछ झीलें संभवत: इसी प्रकार पट गईं और उनकी तली पर 'पीट' कोयला बन गया। काश्मीर की वूलर झील के द्वीपों में विलो पेड़ खूब उगते हैं।

जमाव वाली झीलो के जमाव अधिक मजबूत नही होते और धीरे-धीरे कटते रहते हैं। अन्त में जमाव के कटने पर झील समाप्त हो जाती है।

सच तो यह है कि सभी प्रकार की झीलें अपेक्षाकृत जल्दी समाप्त होने वाली अर्थात् अस्थायी हैं।

२६२. झीलों के लाभ—प्राय: सभी प्रकार की झीलें मनुष्य के लिए बड़ी उपयोगी हैं।

(१) जिन नदियों के मार्ग में झीलें होती हैं उनमें बाढ़ नही आती क्योंकि बाढ़ का पानी झील मे जमा हो जाता है और झील से नियमित रूप से एक समान जल बहता रहता है। जनेवा झील रोन नदी की, और टानले सैप झील (इण्डोचायना) मेकांग नदी की बाढ को रोकती है।

(२) ऊंचे पहाड़ी स्थानों पर नदियों के मार्ग की झीलों में नदियों का अतिरिक्त जल (Surplus water) जलविद्युत उत्पन्न करने तथा सिचाई के उपयोग में लेने के लिए सुरक्षित रहता है। जापान की बीवा (Biwa) झील तथा उत्तरी इटली की झीलें जलविद्युत उत्पन्न करने में बहुत सहायक है।

(३) झीलें जलवायु को सम बनाने में महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं। झीलों के कारण स्थानीय वायु में नमी तो बढती ही है, साथ ही वायु गरमी में शीतल और जाड़ो में गरम बनी रहती है।

(४) झीलें आवागमन की सुगम साधन हैं । उत्तरी अमेरिका की ग्रेट लेक्स इसका अनुपम उदाहरण है ।

(५) झीलें बड़े नगरों को पीने का जल पहुँचाने के लिए अत्युत्तम जल भंडार का काम देती है । इंग्लैंड में लेकडिस्ट्रिक्ट की झीलो से लंकाशायर के नगरो को तथा पेनाइन पर्वत की झीलो से यार्कशायर के औद्योगिक नगरों को उत्तम पानी पहुँचाया जाता है ।

(६) झीलो से खाने की सुस्वादु मछली तथा खाद आदि के लिए शैवाल घास प्राप्त होती है ।

(७) खारी झीलों से नमक प्राप्त होता है । भारत की सांभर झील, उत्तरी अमेरिका की साल्ट लेक, अफ्रीका की चाड झील तथा फिलिस्तीन की मृतक सागर झील नमक प्राप्त करने के साधन हैं ।

(८) यदि झीलें सूख जाती हैं तो खेती के लिए उपजाऊ मैदान बन जाते हैं ।

प्रश्न

1. Discuss the formation of various types of lakes giving examples preferably from India.

(*Agra M.A. 1950, Nagpur Inter*)

2. What the chief causes of the formation of lake basins ? Classify the different types of lakes and give their economic uses.

(*Agra B.A 1953, Ban. B.A. 1950, 52*)

खण्ड ३

वायुमण्डल

उन्नीसवाँ अध्याय

वायुमण्डल (Atmosphere)

२६३. **महत्त्व**—हमारी पृथ्वी के चारो ओर सैकड़ो मील की ऊँचाई तक वायु का घेरा है। इस घेरे को वायुमण्डल कहते है। हम लोग इस वायुमण्डल या वायु-महासागर की तली मे रहते है। इस प्रकार हमारी पृथ्वी को वायु का अनन्त अथाह सागर चारो ओर से घेरे हुए है। वायुमण्डल प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मानव-जीवन को प्रभावित करने में अपनी समता नही रखता। प्राणीमात्र को जीवित रखने में जिन वस्तुओ की आवश्यकता होती है उनमें वायु सबसे मुख्य है। नाइट्रोजन गैस पेड-पौधों के जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। भारत की भूमि में कम पैदावार होने का मुख्य कारण उसमें नाइट्रोजन की कमी बताया जाता है। पेड-पौधो को हरियाली तथा उसकी वृद्धि का मुख्य कारण कार्बन-डाईआॅक्साइड गैस है। वायुमण्डल के तापक्रम, तथा आर्द्रता मनुष्य के प्राकृतिक वातावरण को बहुत-कुछ प्रभावित कर डालते है। स्थलरूप, मिट्टी, खनिज पदार्थ और वनस्पति सभी इनसे प्रभावित होते है। वायुमण्डल न होता तो न पेड-पौधे होते और न कोई जीव-जन्तु होता। सुन्दरता के स्रोत कजरारे बादल, चपल चचला की तरह पलभर को मुँह चमकाने वाली बिजली, मधुभरी बरसातें, नील गगन, सुनहली उषा, अरुण प्रभात, रक्तिम सध्या, रंग-बिरगे, इन्द्रधनुष आदि हमारे हृदय को सौन्दर्य से अभिभूत करने वाले रमणीय दृश्य वायुमण्डल ने ही हमारे चारों तरफ बखेर रक्खे है। वायु का सैकडो मील गहरा घेरा अपनी छाती पर सूर्य के प्रचण्ड अग्निवाणों को रोककर असह्य गरमी से हमारी रक्षा करता है। वायुमण्डल न हो तो पृथ्वी का तापक्रम २३०° फा नक पहुँच जाय। रात्रि के समय गरमाहट को कम्बल की तरह रोककर यह शीत से भी हमें बचाता है। अन्यथा रात्रि का तापक्रम —३००° तक गिर जाय।

२६४. **वायुमण्डल के भेद**—वायुमण्डल सम्बन्धी ज्ञान जिस विज्ञान का वर्ण्य-विषय है उसे अन्तरिक्ष विज्ञान (Meteorology) कहते है। गत १५० वर्षों से इस विज्ञान ने बहुत उन्नति कर ली है। आधुनिक आविष्कारो का लाभ उठाकर अनेक वैज्ञानिकों ने वायुमण्डल की साहसपूर्ण यात्रायें कीं। डॉ० पिकार्ड, मेजर फ्रोडनी,

वायु में मिले हुए धूलकण भी विशेष महत्त्व के हैं। ये धूलकण कई प्रकार से हवा में मिलते रहते हैं। धरातल पर हवा चलने से अगणित सूक्ष्मकण वायु में मिल जाते हैं तथा समुद्र की लहरों से उछलते हुए पानी के छीटों के भाप बन जाने पर नमक के सूक्ष्म कण हवा में रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी ज्वालामुखी पर्वतो के उद्‌गारो के समय तथा उल्कापात के समय उल्का के वायमण्डल में आकर जल जाने और टुकडे-टुकडे हो जाने से भी सूक्ष्म कण वायु में मिल जाया करते है। इन्ही सूक्ष्मकणो की सहायता से कुहरा, धुन्ध और बादल बनते हैं तथा सूर्यास्त और सूर्योदय के समय आकाश में लालिमा आदि दीख पड़ती है।

धरातल के समीप वायुमण्डल में ओषोण की मात्रा बहुत ही कम है। परिवर्त-मण्डल मे यह केवल करोडवाँ भाग है। ऊपर के भागो मे इसकी मात्रा अधिक है। प्राणिजीवन के विकास के लिए ओषोण उपयोगी तत्त्व है। सूर्य की पराकासनी किरण (Ultraviolet Rays) का बहुत-सा भाग ओषोण ही सोख लेती है। यदि ये किरणो सब-की-सब पृथ्वी पर पहुँच पाती, तो गरमी की अधिकता के कारण किसी का जीवित रहना असभव हो जाता। ओषोण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैज्ञानिको में एकमत नही है। कुछ लोगो के मत से सूर्य की पराकासनी किरणे ऑक्सीजन के अणुओ को तोड देती है और वे दुबारा एकत्र होकर ओषोण की शक्ल में उपस्थित होते है। दूसरे लोगों के मन मे यह ज्योतियो (Aurorae) के कारण उत्पन्न होते हैं। जो कुछ भी कारण हो, यह तो निश्चित है कि इनका तापक्रम और दबाव पर बहुत प्रभाव पडता है। ओषोण की मात्रा में दैनिक और वार्षिक परिवर्तन भी होता है। इनके परिवर्तन से मौसम भी बदल जाता है। ओषोण की मात्रा के अनुसार पृथ्वी के आकर्षण-शक्ति मे भी परिवर्तन होता हुआ देखा गया है।

२६६. वायुमण्डल के विशेष गुणधर्म—वायु की प्रमुख विशेषता यह है कि यह अत्यन्त अस्थिर और परिवर्तनशील है। इसकी दशा प्रतिक्षण बदलती रहती है। हल्की होने के कारण वह स्वतन्त्रतापूर्वक इधर-उधर चाहे जहाँ जा सकती है। वायु की प्रतिक्षण बदलने वाली दशा को मौसम कहते हैं। मौसम को बदलते रहने वाली वायु के कुछ विशेष गुणधर्म हैं जिनमें तापक्रम, वायुभार और आर्द्रता मुख्य है। तापक्रम, वायुभार और आर्द्रता हर समय बदलते हैं। इन्ही के बदलने को मौसम कहा जाता है। हम देखते हैं कि वायु कभी ठण्डी होती है और कभी गरम। कभी वर्षा होती है तो कभी ओले या सूखा ही रहती है। इस प्रकार मौसम कभी भी स्थिर नही रहता। मौसम के विराट परिवर्तनो को अलग-अलग जोड़कर महीने तथा वर्ष भर के मौसम का औसत निकाल लेते हैं। इस औसत को कई वर्षो के औसत से

मिलाकर स्थायी जलवायु ज्ञात की जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि वायु की क्षणिक अवस्था को मौसम तथा स्थायी औसत अवस्था को जलवायु कहा जाता है।

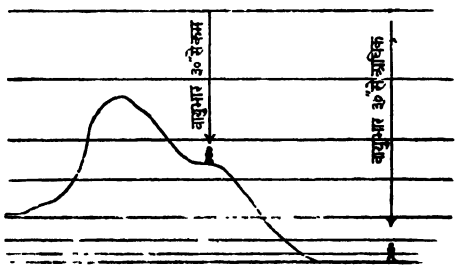
२६७. मौसम और जलवायु को निर्धारित करने वाले तत्त्व—हमने अभी बतलाया था कि वायु के तापक्रम, वायुभार और आर्द्रता की भिन्नता के कारण मौसम बदलता है। परन्तु वायु के इन गुणधर्मो को बदलने में प्रकृति के कुछ विशेष नियमों का हाथ है। सक्षेप में वे नीचे दिए जा रहे है—

(क) अक्षांश—सूर्य की किरणों से धरातल पर बनने वाला कोण अक्षांश के अनुसार बदलता है और इस कोण के अनुसार सूर्य की गरमी न्यूनाधिक हो जाती है। अक्षांश के अनुसार ही यह भी निश्चित होता है कि किसी स्थान पर दिन कितने घंटे तक रहेगा अथवा यो कहिए कि २४ घंटे मे से कितने घटों तक सूर्य की किरणें उस स्थान को प्राप्त होती रहेंगी।

(ख) जल और स्थल का विन्यास—स्थल भाग जल की अपेक्षा जल्दी गर्म अथवा ठण्डा होकर वायु के तापक्रम आदि को प्रभावित करता है। स्थलभागों में झीलें भी तापक्रम को कुछ अंशों मे सम बनाती है।

(ग) हवायें—हवाओं का वेग और उनकी दिशा जलवायु पर विशेष प्रभाव डालती है।

(घ) समुद्र तल से ऊँचाई—जो स्थान समुद्रतल से जितना ऊँचा होगा उतना ही अधिक जलवायु ठण्डा होगा क्योंकि ऊपर की ओर हवा हल्की होती जाती है।



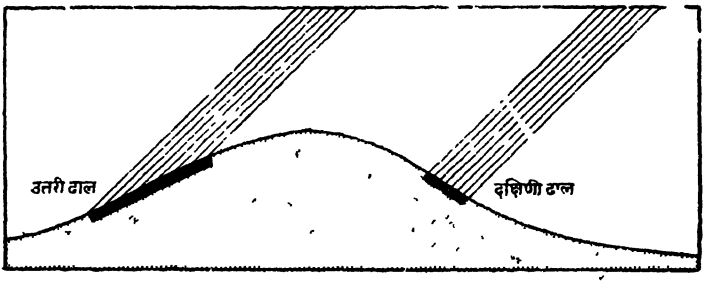
चित्र ७४.
समुद्रतल से ऊँचाई का गरमी पर प्रभाव

(च) पर्वतों का रुख—पर्वतों की दिशा के कारण जलवायु में बहुत अन्तर पड जाता है। कुछ पर्वत शीत प्रदेशों की ठण्डी वायु को रोककर अथवा जलवाष्प से लदी हवा से वर्षा कराके जलवायु को उत्तम बना देते हैं। कुछ पर्वतों की दिशा मे इस प्रकार के लाभ उस देश के निवासियों को नही हो पाता।

(छ) अधिक वायुभार और न्यून वायुभार वाली पेटियाँ भी जलवायु को पर्याप्त प्रभावित करती हैं।

(ज) धारायें—समुद्रों में चलने वाली गरम और ठंडी धाराओं का प्रभाव उनके ऊपर चलने वाली हवाओं पर पड़ता है और तापक्रम आदि में परिवर्तन हो जाता है।

(झ) **वायु विक्षोभ** (Atmospherics)—आँधी, तूफान आदि वायु के विक्षोभ वायु की दिशाओं में परिवर्तन करके, आकाश को मेघाछन्न करके तथा वायु के वेग में परिवर्तन करके, जलवायु को अत्यधिक प्रभावित करते हैं।



चित्र ७५. पर्वतों के रुख का गरमी पर प्रभाव

उपर्युक्त कारणों में से कोई एक अथवा एकाधिक मिलकर संसार के प्रत्येक भाग के मौसम को प्रतिक्षण बदलते हैं तथा इन्ही से उनका जलवायु भी भिन्न-भिन्न रहता है।

प्रश्न

1. Describe the structure and characteristics of the various layers of the atmosphere and trace their influence if any on weather changes.

(*Agra B.A. 1955*)

2. Discuss the factors influencing weather and climate.

बीसवाँ अध्याय

वायुमण्डल

२६८. ताप और तापक्रम—ताप शक्ति का एक विशेष रूप है जो किसी पदार्थ को गरम बना देती है और तापक्रम उस पदार्थ की गरमी के कारण उत्पन्न हुई दशा का सूचक है । घड़े का पानी धूप में रखे हुए पानी से गरमाहट में कम है इसलिए घड़े के पानी का तापक्रम धूप में रखे पानी के तापक्रम से कम है । जिस प्रकार जल ऊँचे धरातल के नीचे धरातल की ओर बहता है, उसी प्रकार ताप भी ऊँचे तापक्रम से नीचे तापक्रम की ओर चलता है ।

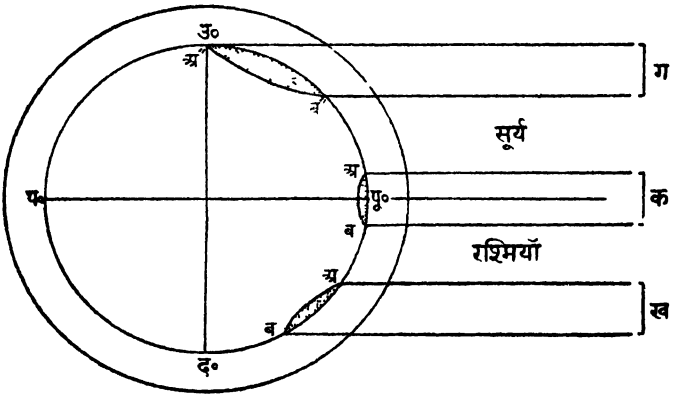
२६९. वायुमण्डल के तापक्रम का साधन—ताप का कुछ भाग हमें भूगर्भ से भी प्राप्त होता है, परन्तु अधिकांश ताप सूर्यदेव की कृपा का फल है । सूर्य पृथ्वी से करोड़ों गुना बड़ा है । सूर्य अत्यन्त गरम है । इसके धरातल पर ही १०,००० फा० से अधिक गरमी बताई जाती है । परम तेजस्वी सूर्य के अत्यन्त विशाल पिण्ड से गर्मी निकलकर ताप-तरगो के रूप मे निरतर शून्य मे प्रसारित होती रहती है । इस ताप-तरंगों के विशाल पुंज को सूर्यताप कहते हैं । सूर्यताप की प्रचण्ड शक्ति प्रति मिनट एक करोड़ मील मे भी अधिक तेज़ी से चलती है और सूर्य मे ९,३०,००,००० मील दूर हमारी पृथ्वी पर ९ मिनट में पहुँच जाती है । इस महान् शक्ति का केवल दो अरबवाँ भाग ही पृथ्वी को प्राप्त होता है । इस थोड़ी-सी शक्ति का भी केवल ५७ प्रतिशत भाग ही पृथ्वी के धरातल तक पहुँच पाता है । बाकी ४३ प्रतिशत मे से ३७ प्रतिशत बादलों और धूलकणों द्वारा प्रतिबिम्बित होकर पुनः शून्य में वापिस चला जाता है और शेष भाग को ओपोण आदि गैसें सोख लेती है । इस प्रकार वायुमण्डल को पार करने में सूर्यताप का लगभग आधा भाग नष्ट हो जाता है ।

२७०. सूर्यातपन (Insolation)—सूर्यताप का जो अंश किसी निश्चित समय में पृथ्वी के किसी निश्चित क्षेत्र को प्राप्त होता है उसे **सूर्यातपन** कहते हैं । विद्वानो ने गणना करके पता चलाया है कि सूर्य से प्रति मिनट हमारी पृथ्वी के प्रति वर्ग सैण्टीमीटर भाग को १.९४ कैलोरी गर्मी प्राप्त होती है । गर्मी की यह मात्रा पृथ्वी के सभी स्थानों पर स्थिर है । अतएव इसको **सौर स्थिराक** (Solar Constant) कहते हैं ।

२७१. सूर्यातपन (Insolation) **को प्रभावित करने के तत्त्व**—**सूर्यातपन को कुछ बातें प्रभावित करती हैं जिनमें मुख्य निम्न हैं**—

अक्षांश का प्रभाव—सूर्यातपन का वितरण पृथ्वी के धरातल पर समान रूप से नही होता। किसी स्थान पर सूर्यातपन पहुँचने की मात्रा दो बातों पर निर्भर होती है—(क) धरातल से सूर्य की ऊँचाई अर्थात् धरातल पर सूर्य की किरणों से बनने वाला कोण या झुकाव, और (ख) दिन और रात की लम्बाई का अन्तर अर्थात् २४ घण्टों में सूर्य का प्रकाश प्राप्त होने के घण्टे।

(क) **सूर्य का झुकाव**—यद्यपि सूर्य की किरणें पृथ्वी पर आते समय एक दूसरी के समानान्तर होती हैं, परन्तु पृथ्वी की गोलाई के कारण केवल एक बिन्दु पर लम्बवत् पडती हैं। इस बिन्दु से कोई स्थान जितना ही उत्तर या दक्षिण की ओर दूर होगा, सूर्य की किरणें उस स्थान पर उतनी ही अधिक तिरछी पड़ेंगी। सूर्य की किरणें जितनी अधिक तिरछी होंगी, सूर्यातपन भी उतनी ही कम मात्रा में प्राप्त होगी। तिरछी किरणों द्वारा कम गरमी प्राप्त होने के दो कारण है—(१) सीधी किरणों की अपेक्षा तिरछी किरणो को धरातल का अधिक भाग गरम करना पडता है, और (२) सीधी किरणों की अपेक्षा तिरछी किरणो को वायुमण्डल का अधिक भाग पार करना पड़ता है और इसीलिए उनकी अधिक गरमी वायुमण्डल में नष्ट हो

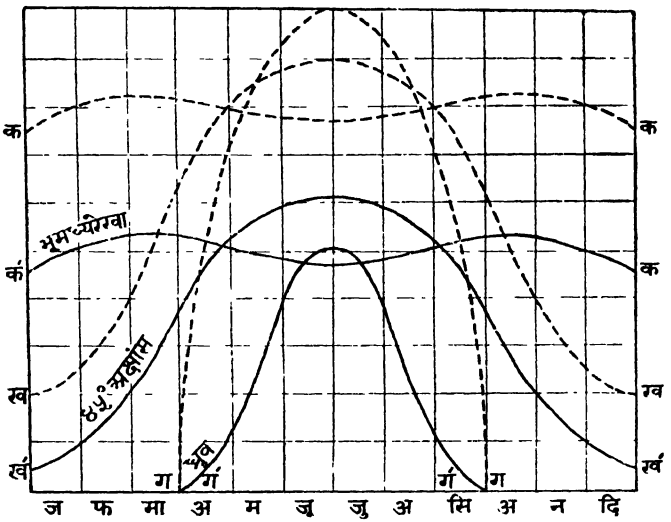


चित्र ७६. सूर्य के झुकाव का गरमी पर प्रभाव

जाती है। चित्र ७६ में **क, ख** और **ग** तीन एक समान किरणपुंज हैं। ये तीनों किरणपुंज एक दूसरे के समानान्तर हैं। परन्तु धरातल पर तीनों की स्थिति भिन्न-भिन्न है। '**क**' किरणपुंज धरातल पर लम्बवत् है, शीतोष्ण कटिबन्ध में '**ख**' पुंज कुछ तिरछा है और शीत कटिबन्ध में '**ग**' पुंज सबसे अधिक तिरछा है। प्रथम तो, एक समान किरणपुंजों को ज्यों-ज्यों पृथ्वी का तिरछापन बढ़ता है, त्यों-त्यों अधिकाधिक भूभाग गरम करना पड़ता है। इसी कारण ज्यों-ज्यों किरणें तिरछी होती जाती

हैं, त्यो-त्यों अधिक भूभाग गरम करने के कारण उनकी तापशक्ति घटती जाती है। दूसरे, हम चित्र में देखते हैं कि 'क' किरणपुंज की अपेक्षा 'ख' को और 'ख' पुंज की अपेक्षा 'ग' को अधिक वायुमण्डल पार करना पड़ता है। इसी कारण उनकी अधिकाधिक गरमी मार्ग में नष्ट हो जाती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तिरछेपन के साथ किरणो की शक्ति घटती जाती है। अँगोट नामक वैज्ञानिक ने वायुमण्डल में नष्ट होने वाली गरमी की मात्रा को निम्न ग्राफ द्वारा भली भाँति समझा दिया है—

उपर्युक्त विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि किरणों को लम्बवत् चमकने और तापक्रम बढने में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। गरमी का वर्ष भर का हिसाब लगाने से यह विदित होगा कि भूमध्यरेखा के समीप सबसे अधिक गरमी पड़ती है और



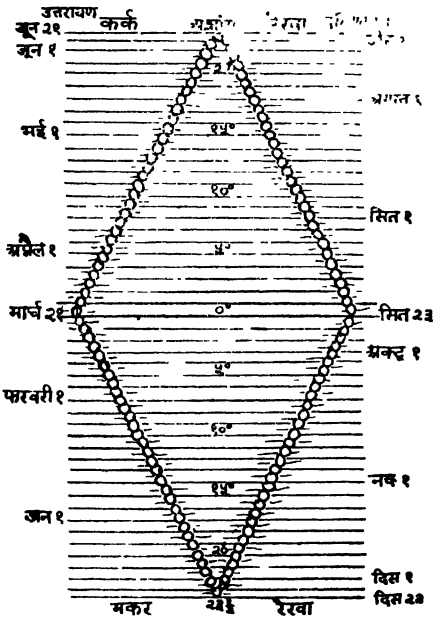
चित्र ७७. वायुमण्डल द्वारा नष्ट गरमी

भूमध्यरेखा से ज्यों-ज्यों ध्रुवों की ओर बढेंगे, त्यो-त्यों गरमी की मात्रा कम होती जाएगी।

(ख) दिन और रात की लम्बाई का अन्तर भी सूर्यातपन की न्यूनाधिक मात्रा पर प्रभाव डालता है। जितनी अधिक देर तक किसी स्थान पर सूर्य चमकता रहेगा, उतनी ही अधिक गरमी उस स्थान को उपलब्ध हो सकेगी। भूमध्यरेखा पर दिन और रात हमेशा बराबर होते हैं। परन्तु भूमध्यरेखा से दूरस्थ स्थानों में गरमी की ऋतु में दिन बडे और रात छोटी होती हैं। इसके विपरीत जाडे की ऋतु में दिन छोटे और रात बड़ी होती है। भूमध्यरेखा से हम जितनी अधिक दूर जायेंगे, दिन और रात की

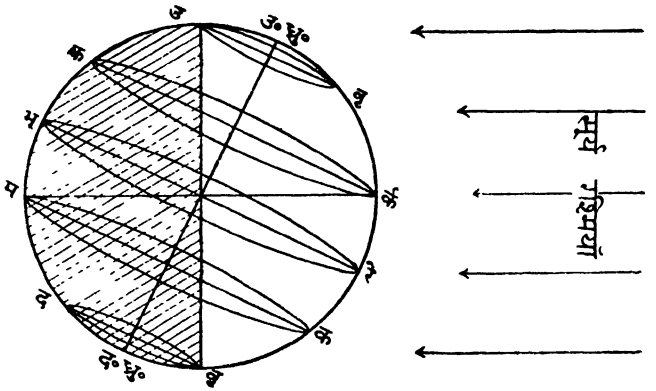
अवधि में उतना ही अधिक अन्तर पड़ता जायगा । इस प्रकार गरमी की ऋतु में भूमध्यरेखा से दूरवर्त्ती स्थानों मे दिन लम्बे होते हैं जिसके कारण तिरछी किरणों द्वारा कम गरमी प्राप्त होने का घाटा अधिक देर तक गरमी मिलने से पूरा हो जाता है । दिन और रात की अवधि में अन्तर होने के दो कारण हैं—(१) पृथ्वी की धुरी का झुका हुआ होना तथा (२) सूर्य की परिक्रमा करते समय धुरी की प्रत्येक स्थिति का अन्य सभी स्थितियों के समानान्तर होना ।

पृथ्वी की गोलाई के कारण एक समय में इसके केवल आधे भाग पर ही सूर्य चमकता है और शेष आधे भाग में अँधेरा रहता है । पृथ्वी के गोले पर जो दीर्घ वृत्त पृथ्वी के दिन वाले आधे भाग को रात वाले भाग से अलग करता है उसे प्रकाश-वृत्त (Circle of Illumination) कहते है । यदि पृथ्वी की धुरी अपनी कक्षा पर समकोण बनाती, तो सारी पृथ्वी पर दिन और रात हमेशा बराबर होते । किन्तु पृथ्वी की धुरी अपने क्रान्तिमण्डल या कक्षा पर $६६\frac{1}{2}^\circ$ का कोण बनाती है तथा सूर्य के चारों ओर घूमते समय उसकी सभी स्थितियाँ एक दूसरी के समानान्तर होती हैं । इसका फल यह होता है कि सूर्य की सीधी किरणें अयनरेखाओं (Tropics) के बीच के भागों में विभिन्न स्थानों पर पड़ती हैं । सूर्य की सीधी किरणों के निरन्तर स्थान बदलते रहने के कारण वर्ष में केवल दो दिन (२१ मार्च और २३ सितम्बर) ही सूर्य की किरणें भूमध्यरेखा पर सीधी पड़ती है । दोनों दिन प्रकाश-वृत्त ध्रुवों पर होकर आता है और सभी अक्षांश रेखाओं को समकोण पर काटता है । इन दोनो दिन पृथ्वी पर सर्वत्र दिन-रात बसबर होते हैं । इन दो दिनों के अतिरिक्त वर्ष के अवशेष भाग में प्रकाशवृत्त अक्षांश रेखाओं को टेढ़ा काटता है । फलतः, दिन और रात की अवधि घटती-बढ़ती रहती है । उत्तरी गोलार्द्ध की ग्रीष्म-ऋतु में जिस अक्षांश पर अर्थात् भूमध्यरेखा से जितने अंश उत्तर की ओर सूर्य की सीधी किरणें



चित्र ७८. अयनरेखाओं के बीच में दिखाई देने वाला सूर्य का मार्ग

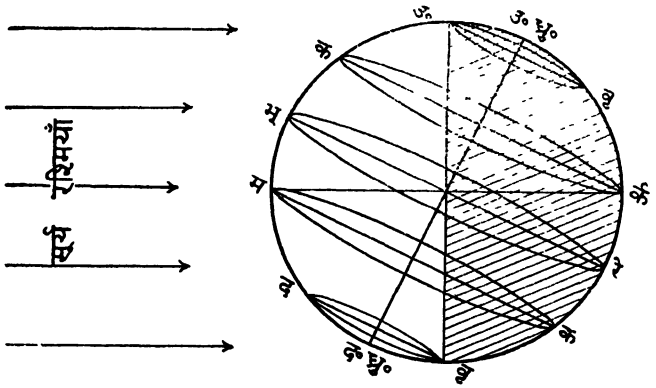
ड़ती है, प्रकाशवृत्त भी उत्तरी ध्रुव से इतने ही अंश आगे बढ़ जाता है । २१ जून को, जब सूर्य की सीधी किरणें कर्करेखा पर पड़ती है, प्रकाशवृत्त उत्तरी ध्रुव से २३½ अंश आगे बढ़ जाता है । इस दिन उत्तरी गोलार्द्ध में सबसे बड़े दिन होते हैं।



चित्र ७९. २१ जून

इसके विपरीत जब सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में सीधा चमकता है, तो इसी प्रकार वहाँ भी दिन बड़े होते जाते हैं और २२ दिसम्बर को वहाँ सबसे बड़ा दिन होता है ।

दिन और रात की लम्बाई का अन्तर भूमध्यरेखा की दूरी के साथ बढ़ता जाता है । भूमध्यरेखा दीर्घवृत्त है और प्रकाशवृत्त भी दीर्घवृत्त है। पृथ्वी के दीर्घवृत्त



चित्र ८०. २२ दिसम्बर

एक दूसरे को दो बराबर भागों में बाँटते हैं । अतः भूमध्यरेखा पर हमेशा दिन-रात बराबर होते हैं । बाकी अक्षांश रेखाओं को जब प्रकाशवृत्त समकोण पर काटता है तभी

उनको दो बराबर भागों में बाँटता है। जब प्रकाशवृत्त अक्षाश रेखाओं को टेढ़ा काटता है, तो वह इन रेखाओं को समकोण से जितने अधिक बड़े कोण पर काटेगा, दिन की अवधि भी उतनी ही बढ़ती जायगी। नीचे की तालिका में कुछ अक्षाशो पर २१ जून और २२ दिसम्बर को दिन की अवधि दी जा रही है—

दिन की अधिकतम अवधि

यह अवधि उत्तरी गोलार्द्ध में २१ जून और दक्षिणी गोलार्द्ध में २२ दिसम्बर को होगी।

अक्षांश	अधिकतम अवधि
	घं०—मि०
भूमध्यरेखा	१२—०
१०°	१२—३५
२०°	१३—१२
३०°	१३—३६
४०°	१४—५२
५०°	१६—१८
६०°	१८—३०
७०°	२ महीने
८०°	४½ महीने
९०°	६ महीने

२७२. **ताप के वितरण पर जल और स्थल का प्रभाव**—सूर्यातपन का जितना भाग पृथ्वी तक पहुँचता है उसका बहुत थोड़ा-सा भाग (लगभग १० प्रतिशत) सीधा वायु में मिल पाता है। असल में सूर्यताप पहले पृथ्वी के धरातल को प्रभावित करके पार्थिव ताप के रूप में परिणित हो जाता है। यह **पार्थिव ताप ही वायुमण्डल को गरम बनाने का मुख्य साधन है**। धरातल पर सूर्यताप के वितरण के सम्बन्ध में अक्षांश के वितरण के प्रभाव का विचार किया जा चुका है। परन्तु अक्षांश के अतिरिक्त जलस्थल का विन्यास भी इस वितरण को प्रभावित करता है। स्थल भाग जल की अपेक्षा जल्दी गरम और जल्दी ही ठण्डा होता है। स्पष्ट है कि स्थलीय भाग में पार्थिव ताप जल से अधिक जल्दी उत्पन्न होती है और जल्दी ही समाप्त भी हो जाती है। जल की अपेक्षा स्थल के जल्दी गरम या ठण्डे होने के निम्न कारण हैं—

(क) एक घनफुट पानी को एक अंश गरम करने के लिए एक घनफुट भूमि से दूनी गरमी चाहिए। इसी प्रकार जब पानी एक अंश ठण्डा होगा तो स्थल से दूनी गरमी अपने में से निकालेगा।

(ख) सूर्य की किरणें स्थल की अपेक्षा जल में अधिक गहराई तक प्रवेश कर जाती हैं अतः उन्हें अपेक्षाकृत जल का अधिक भाग गरम करना पड़ता है। इसीलिए जल का तापक्रम अधिक नही बढ़ पाता और न वह जल्दी कम होने पाता है। स्थल पर दैनिक ताप का प्रभाव ३ फुट तक पहुँचता है जब कि जल में उसका प्रभाव ६० फुट तक पहुँच जाता है।

(ग) जल गतिशील होता है अतः लहरों, धाराओ आदि के रूप में जल की गरमी एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचती रहती है। स्थल अपनी गरमी एक ही स्थान पर एकत्रित करता रहता है।

(घ) जल की गरमी का बहुत-सा भाग जल को वाष्प रूप मे परिवर्तित करके वायु में मिल जाता है। स्थल को सूर्य से जो गरमी मिलती है वह तो उसका तापक्रम बढ़ाने में ही काम आ जाती है।

(च) जल का ऊपरी भाग जब ठण्डा होने लगता है तो निचले गरम भाग से संवाहन धारायें आकर ऊपरी तल को गरम बनाये रखती हैं।

(छ) स्थलखण्डों की अपेक्षा जलखण्डों पर सूर्यातपन का परावर्तन (Reflection) अधिक होता है। दूसरे शब्दो में स्थल की तुलना में जल कम ताप को ग्रहण करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्थलीय भाग जलखण्डो की अपेक्षा जल्दी गरम और जल्दी ठण्डे होंगे। इसीलिए महाद्वीपों की जलवायु विषम और महासागरों के समीप की जलवायु सम मानी जाती है।

२७३. **हवा का गरम होना**—अधिक तापक्रम वाली वस्तु से कम तापक्रम वाली वस्तु में ताप के प्रवेश करने की तीन विधियाँ हैं—(१) **सचालन** (Conduction) द्वारा ताप का परिचालन एक कण से दूसरे कण मे होता है; (२) **संवाहन** (Convection) द्वारा किसी वस्तु के कण गरमी के केन्द्र से ताप लेकर ऊपर की ओर उठते हैं; और **विकिरण** (Radiation) द्वारा ताप एक वस्तु से दूसरी वस्तु में बिना किसी भौतिक आधार के प्रवेश करती है। हमारी पृथ्वी सूर्य से विकिरण द्वारा ही गरम होती है।

(क) **संवाहनधाराओं द्वारा वायु का गरम होना**—हम पहले कह चुके हैं कि विकिरण द्वारा प्रसारित की हुई सूर्यताप का बहुत थोड़ा-सा अंश ही हवा सोख सकती है। हमारा साधारण अनुभव है कि जाड़े की ऋतु में कभी-कभी तेज धूप के होने पर भी ठण्ड लगती रहती है। इससे प्रकट होता है कि वायु विकिरण द्वारा प्राप्त सूर्यताप की उत्तम शोषक (Good Absorber) नहीं है।

विकिरण द्वारा प्रसारित की हुई सूर्यताप को सोखकर पृथ्वी का धरातल गरम हो जाता है। इस गरम धरातल से वायु का निचला स्तर मिला हुआ है। गरम धरातल के सम्पर्क में आने वाली वायु भी संचालन द्वारा गरम हो जाती है। वायु ताप की अधम संचालक (Poor Conductor) है। फलतः, वायु के निचले गरम भाग संचालन द्वारा बहुत कम गरमी वायु के ऊपरी भाग में जा पाती है।

वायु में ताप का परिचालन प्रधानतः संवाहन द्वारा ही होता है। पृथ्वी के धरातल से पार्थिव ताप प्रसारित (Emission) होती है। वायु इस पार्थिव ताप का ९० प्रतिशत भाग सोख लेती है। ताप के शोषण में जलवाष्प, ओषोण तथा कार्बन डाइआॅक्साइड गैसां का प्रमुख भाग रहता है। जलवाष्प के अभाव के कारण ही रेगिस्तानों की वायु पार्थिव ताप का अधिक भाग नहीं सोख पातीं। इस प्रकार संचालन और विकिरण द्वारा धरातल के समीप की वायु गरम हो जाती है। गरम होकर वायु फैलती है अर्थात् अधिक स्थान घेरती है। फैलने के कारण ही वायु हल्की हो जाती है और उसका कुछ भाग ऊपर को उठता है। इस प्रकार गरम वायुस्तम्भ का भार घट जाता है और उसके समीप ठण्डी वायु का भार अधिक हो जाता है। फलतः, समीप की ठण्डी और भारी वायु का कुछ भाग गरम वायु का स्थान ग्रहण कर लेता है और गरम तथा हल्की वायु को हटाकर ऊपर की ओर धकेल देता है। इस प्रकार संवाहन द्वारा जो वायुधारायें उठती हैं उनको संवाहन-धारायें कहते हैं। सवाहन-धाराओं के द्वारा ही ऊँचाई पर स्थित वायु की परतें गरम होती हैं।

(ख) **भिचाव द्वारा वायु की गरमी बढ़ना**—जब वायु ऊपर से नीचे की ओर चलती है, तो उसे सिकुड़ना पड़ता है अर्थात् थोड़े स्थान में अधिक वायु एकत्र होने लगती है और वायु भार बढ़ जाता है। भार-वृद्धि के फलस्वरूप निचले स्तर में वायु का तापक्रम बढ़ जाता है। इस प्रकार कम स्थान में अधिक वायु का भिचाव भी तापक्रम की वृद्धि का कारण है।

(ग) हवा जब एक स्थान से दूसरे स्थान को चलती है, तो वह अपने साथ अपना तापक्रम लेकर आगे बढ़ती है और जहाँ तक पहुँचती है वहाँ के तापक्रम में परिवर्तन कर देती है। गरम स्थानों से आने वाली हवायें गरम और ठण्डे भागों से आने वाली हवायें ठण्डी मालूम देती हैं।

२७४. **वायु का ठण्डा होना**—(क) हवा विकिरण द्वारा अपनी गर्मी प्रसारित करती है। इस गरमी का कुछ भाग शून्य में मिल जाता है और कुछ ठण्डी धरती सोख लेती है। जाड़ों की रात में वायु विकिरण द्वारा अपनी पर्याप्त गरमी खो देती है। वायु का निचला भाग धरातल के सम्पर्क में रहता है। अतः इस भाग की कुछ गरमी

सचालन द्वारा भी ठण्डी पृथ्वी में मिल जाया करती है। (ख) जिस प्रकार नीचे उतरती हुई हवा भिचाव के कारण गरम हो जाती है, उसी प्रकार ऊपर को जाती हुई हवा फैलने के कारण ठण्डी हो जाती है। (ग) ठण्डे भागों से चलने वाली हवा अपने साथ ठण्ड लाती है।

२७५. **वायु का तापक्रम नापना**—ऋतु सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए दिन-रात के २४ घण्टों का अधिकतम और न्यूनतम तापक्रम मालूम करने की आवश्यकता पड़ती है। वायु की गरमी नापने के लिए स्वयलेखक उच्चतम-न्यूनतम थर्मामीटर होता है जिसका सिक्स नामक वैज्ञानिक ने आविष्कार किया था। दिन-रात के उच्चतम तापक्रम और न्यूनतम तापक्रम के योगफल में दो का भाग देने से दिन भर का औसत तापक्रम निकलता है। यदि किसी महीने का प्रत्येक दिन का दैनिक औसत तापक्रम निकाल ले और उन सबको जोडकर उस महीने के कुल दिनों की संख्या से भाग दे, तो उस महीने का औसत तापक्रम निकल आयेगा। इसी प्रकार वर्ष के कुल महीनों का औसत मासिक तापक्रम जोडकर १२ से विभाजित करे, तो उस वर्ष का औसत वार्षिक तापक्रम (Mean Annual Temperature) ज्ञात होगा।

किसी स्थान के किसी दिन के उच्चतम तापक्रम से उसी दिन का न्यूनतम तापक्रम घटा देने से जो अन्तर निकलता है, उसे दैनिक तापान्तर (Daily Range) कहते हैं। इस प्रकार वर्ष के सबसे गरम महीने के औसत तापक्रम में से सबसे ठण्डे महीने का औसत तापक्रम घटाने से वार्षिक तापान्तर (Annual Range) ज्ञात होता है।

२७६. **वायु के तापक्रम का दैनिक परिवर्तन** (Diurnal changes in temperature)—हम पहले कह चुके हैं कि ताप का आदिस्रोत सूर्य है। पृथ्वी के आवर्तन (Rotation) के कारण प्रत्येक भाग दिन में सूर्य की किरणों के सामने रहता है और रात्रि के समय सूर्य की विपरीत दिशा में रहता है। इसी कारण दिन के समय तापक्रम बढता है और रात्रि के समय कम होता है। दिन के समय भी प्रात काल और सायंकाल के समय मध्याह्न की अपेक्षा सूर्य की किरणें तिरछी पडती हैं। अत: मध्याह्न में तापक्रम अधिक रहता है और प्रात: सायं कम रहता है। सामान्यत:, उपर्युक्त दो कारणों से प्रातःकाल सूर्योदय से तापक्रम बढने लगता है और दिन के २ बजे से ४ बजे के बीच में किसी समय तक बढता है। इसके पश्चात् दिन के लगभग २ या ३ बजे से तापक्रम घटने लगता है और सूर्योदय के कुछ समय पूर्व तक घटता है। ध्यान रहे कि धरातल पर सूर्यातपन (Insolation) की सबसे अधिक मात्रा दोपहर के बारह बजे प्राप्त होती है क्योंकि किरणें उसी समय सबसे कम तिरछी होती हैं। परन्तु वायु का उच्चतम तापक्रम दिन के २ बजे के आसपास होता है। इसी प्रकार वायु का

न्यूनतम तापक्रम रात्रि के १२ बजे नही होता बल्कि रात्रि के ४ बजे के लगभग रहता है । इसका कारण यह है कि सूर्यातपन को पार्थिव ताप मे परिणित होकर वायु-मण्डल तक पहुँचने में कुछ समय लगता है । राउच नामक वैज्ञानिक के मतानुसार सूर्यातपन से प्राप्त होने वाली गरमी जब तक पृथ्वी की विकिरण द्वारा नष्ट होने वाली गरमी से अधिक रहती है तब तक तापक्रम बढ़ता रहता है ।

जैसा कि हम पढ चुके है, पृथ्वी के धरातल पर सबसे अधिक सूर्यातपन भूमध्य-रेखा के समीप प्राप्त होती है और ज्यो-ज्यों ध्रुवो की ओर बढते जाते है उसकी मात्रा घटती जाती है । स्पष्ट है कि भूमध्यरेखा के समीप रात्रि के समय अधिक ताप विकिरण द्वारा नष्ट होगी । इसीलिए सामान्यत. **भूमध्यरेखा पर दैनिक तापान्तर अधिक** रहता है । यह तापान्तर भूमध्यरेखा से ध्रुवो की ओर घटता जाता है । तापान्तर के इस सामान्य नियम मे निम्नांकित कारणो से अन्तर पड जाता है—

(क) समुद्रतट में समीपस्थ स्थानो की अपेक्षा महाद्वीपो के भीतरी भागो में दैनिक तापान्तर अधिक होता है ।

(ख) बादल सूर्यताप का काफी अश सोख लेते है तथा रात्रि के समय पृथ्वी की गरमी को वितरण द्वारा नष्ट होने मे रुकावट डालते है । फलत , जिन दिनों आकाश में बादल छाये रहते है, उन दिनों दैनिक तापान्तर कम होता है ।

(ग) जिन दिनों भूमि पर बर्फ ढँकी रहती है, उन दिनों दैनिक तापान्तर बढ जाता है क्योंकि सफेद वस्तु विकिरण द्वारा प्राप्त सूर्यताप का अधिक भाग परावर्तित कर देती है । भारतीय जानते है कि इसीलिए ग्रीष्म ऋतु में मकानों की सफेदी की जाती है ।

(घ) ऊँचे स्थानो पर हवा घनी नही होती । अत: दिन में विकिरण द्वारा गरमी जल्दी पहुँच जाती है और रात्रि को जल्दी निकल जाती है । इसी कारण पर्वतीय प्रदेशो में निचले भागों की अपेक्षा दैनिक तापान्तर अधिक रहता है ।

(च) मरुस्थली भागों मे वायु मे जलवाष्प की मात्रा कम रहती है और आकाश मे बादल बहुत कम दिखाई देते है । अतः रात्रि के समय गरमी शीघ्रता से निकल जाती है । यही कारण है कि अन्य भागो की अपेक्षा मरुस्थलो में दैनिक तापान्तर अधिक रहता है ।

(छ) अन्य स्थानों से बहने वाली हवायें अपने साथ वहाँ का तापक्रम लेकर आगे बढती है । उनके कारण दैनिक तापान्तर मे अन्तर हो जाता है ।

२७७. **ऋतुओं के अनुसार तापक्रम में परिवर्तन** (Seasonal changes in Temperature)—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा कर रही है । इस परिभ्रमण में उसकी धुरी अपने परिभ्रमण-मार्ग पर कुछ

झुकी हुई है और उसकी धुरी की सब स्थितियाँ एक दूसरी के समानान्तर रहती हैं। इस परिस्थिति के कारण धरातल पर सूर्यातपन का वितरण ऋतुओं के अनुसार बदलता रहता है। इसी के अनुरूप प्रत्येक स्थान का तापक्रम बदलता रहता है।

इसके अतिरिक्त जलधाराओं आदि कारणों से भी कुछ स्थानों के तापक्रम में ऋतुओं के अनुसार पर्याप्त अन्तर पड़ जाता है।

ऋतुओं के अनुसार तापक्रम की जाँच औसत मासिक तापक्रम निकालकर की जाती है। ऋतु अनुसार तापक्रम-परिवर्तन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

(क) उष्ण कटिबन्ध में अयनरेखाओं के अतिरिक्त सभी भागों में सूर्य की किरणें वर्ष में दो बार सीधी पड़ती हैं। वर्ष के शेष भाग में भी धरातल पर सूर्य की किरणों द्वारा बनने वाला कोण अधिक झुका हुआ नहीं रहता। फलतः उष्ण-कटिबन्ध में ऋतुओं के अनुसार प्राप्त होने वाली सूर्यताप की मात्रा में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। यही कारण है कि उष्ण कटिबन्ध में ऋतुओं के अनुसार तापक्रम में कम अन्तर पड़ता है।

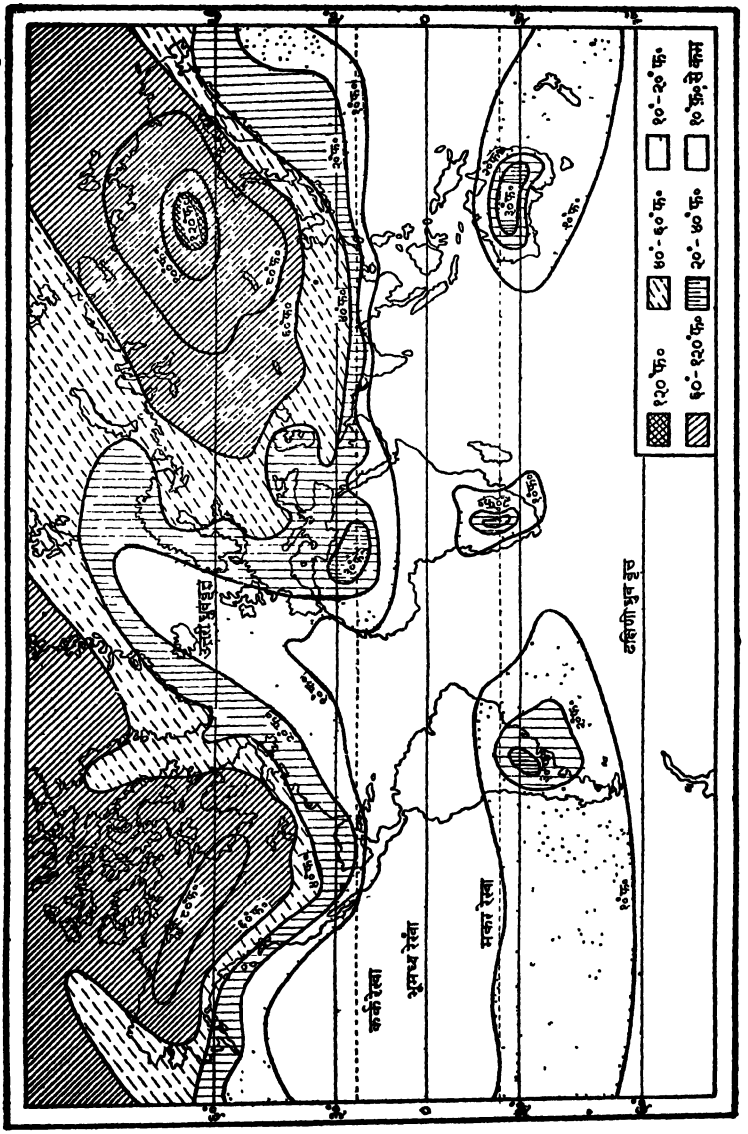
(ख) शीतोष्ण और शीत कटिबन्धों में जिन दिनों सूर्य सबसे अधिक ऊँचाई पर चमकता है उन्हीं दिनों दिन की लम्बाई भी सबसे अधिक होती है। अतः उन दिनों तापक्रम अधिक रहता है। इसके विपरीत जिन दिनों सूर्य सबसे कम ऊँचाई पर चमकता है उन्हीं दिनों रात की लम्बाई सबसे अधिक होती है और दिन छोटा होने के कारण सूर्यातपन कम देर तक ही मिल पाता है। अतः उन दिनों तापक्रम काफी कम रहता है। इसी कारण से इन भागों में ऋतु के अनुसार तापक्रम में पर्याप्त अन्तर हो जाया करता है। सूर्य की स्थिति के कारण जिन दिनों उत्तरी गोलार्द्ध में गरमी की ऋतु होती है उन दिनों दक्षिणी गोलार्द्ध में जाड़ा होता है।

(ग) भीतरी भागों की अपेक्षा समुद्र के पास के स्थानों में मौसम के अनुसार तापक्रम में कम परिवर्तन होता है। जिन स्थानों पर गरम धारायें बहती हैं वहाँ पर ऐसा तापान्तर और भी कम होता है।

२७८ **समुद्रतल से ऊँचाई और तापक्रम परिवर्तन** (Vertical Distribution of Temperature)—हम जैसे-जैसे समुद्रतल से ऊपर जाते हैं, तापक्रम कम होता जाता है। इसके निम्नांकित दो कारण हैं—

(क) हम देख चुके हैं कि सूर्य की किरणें वायुमण्डल के निचले भाग या परिवर्तमण्डल को गरम किए बिना ही पार कर जाती हैं। कारण यह है कि वायुमण्डल के मुख्य भाग ऑक्सीजन और नाइट्रोजन सूर्य की किरणों के अधिकतर भाग के लिए पारदर्शी हैं, परन्तु ये किरणें पृथ्वी के धरातल पर पड़कर उसे खूब गरम कर देती हैं।

पृथ्वीतल के सम्पर्क में आने वाली वायु उष्ण धरातल से गरम होकर जब ऊपर उठती है, तो फैलने के कारण ठण्डी हो जाती है। इस प्रकार निचले भागों में वायु



चित्र ८१. वार्षिक तापान्तर

का दवा हुआ और उष्ण स्तर रहता है और ऊपरी भागों मे वायु का फैला हुआ और

ठण्डा स्तर रहता है । यह सभी जानते हैं कि वायु दबाने से गरम होती है । हम साइकिल में हवा भरते समय प्रतिदिन इस बात का अनुभव करते हैं ।

(ख) ज्यों-ज्यों हम ऊपर जाते हैं वायुमण्डल में पानी की भाप और कार्बन-डाइआॅक्सइड की कमी होती जाती है । ये गैसें वायुमण्डल को गरम बनाने में अधिक सक्षम होती हैं । इस प्रकार निचले भागों में वायु की सघनता तथा उष्णता को सुरक्षित रखने वाली गैसों और भाप की अधिकता होने के कारण वायु के निचले स्तर अधिक गरम रहते हैं । ऊपर की ओर गरमी कम होती जाती है ।

सामान्यतया प्रत्येक ३३० फुट की चढ़ाई के पश्चात् १° फा० कम होता जाता है । १८९९ ई० में टेसेराइन और आसमन नामक वैज्ञानिकों ने गुब्बारों की सहायता से पता लगाया कि लगभग ७ मील की ऊँचाई पर तापक्रम कम होना अकस्मात् बन्द हो जाता है और इसके ऊपर तापक्रम लगभग एक-सा रहता है । स्थिर तापक्रम वाले मध्यस्तल (Tropopause) की ऊँचाई सब जगह समान नहीं है । इसकी ऊँचाई अक्षांशों के साथ घटती-बढती है । यह ऊँचाई भूमध्यरेखा के पास सबसे अधिक और ध्रुवों के पास सबसे कम है । वैज्ञानिकों ने मालूम किया कि मध्यस्तल की ऊँचाई भूमध्यरेखा के पास १०·७ मील, उत्तरी इटली में ६·८ मील और स्काटलैंड में ५·७८ मील है । मध्यस्तल से ऊपर उर्ध्वमण्डल (Stratosphere) है । ऊर्ध्वमण्डल में तापक्रम बहुत कम है । ऊर्ध्वमण्डल का तापक्रम—६०° से—७०° फा० के बीच में पाया गया है । ऊर्ध्वमण्डल में धूलकणों और जलवाष्प की मात्रा बहुत ही नगण्य है और इसीलिए इस भाग में तापक्रम बहुत कम है ।

२७९. तापक्रम की विलोमता (Inversion of Temperature)—सामान्यतया ऊँचाई के अनुसार तापक्रम घटता जाता है । परन्तु ठण्डी रात्रि के समय जब आकाश में बादल नहीं हों, निचली घाटियों में तापक्रम बहुत गिर जाता है । उसी समय ऊपर पहाड़ी ढालों पर तापक्रम काफी ऊँचा रहता है । कैलीफोर्निया की घाटी में पाले से बचाने के लिए रसदार फलों को ऊपरी ढालों पर लगाते हैं । इसी प्रकार ब्राजील में कहवा पहाडी ढालों पर बोया जाता है । कारण स्पष्ट है । जिन दिनों हवा बन्द हो और आकाश मेघाच्छन्न हो उन दिनों ठण्डी रात के समय ठण्डी हवा गरम हवा की अपेक्षा भारी होने के कारण घाटी में नीचे बैठ जाती है । इसीलिए घाटी में नीचे पाला पड़ता है और उसी समय ऊपर ढालों पर तापक्रम अपेक्षाकृत कुछ गरम रहता है ।

२८०. पृथ्वीतल पर तापक्रम का वितरण—पृथ्वीतल पर तापक्रम का विस्तार समताप रेखाओं (Isotherms) द्वारा दिखाया जाता है । समतापरेखा उन स्थानों को मिलाने वाली रेखा है जिनका औसत तापक्रम एक-सा हो । समतापरेखाओं के सम्बन्ध में दो बातें अवश्य स्मरण रखनी चाहिएँ—

(क) समतापरेखायें किसी स्थान का **औसत तापक्रम** प्रदर्शित करती हैं।

(ख) यह रेखायें किसी स्थान पर **समुद्रतल का तापक्रम** दिखाती हैं। उदाहरण के लिए, बंगलौर का तापक्रम ७०° फा० है। बगलौर समुद्रतल से लमभग ३,००० फुट ऊँचा है। यदि ऊँचाई न होती तो वहाँ का तापक्रम $\frac{३°°°}{३°°}$=१०° फा० अधिक होता। इसलिए नक्शे में समतापरेखायें बनाने के लिए वहाँ का तापक्रम ७०°+१०=८०° फा० दिखाया जायगा।

स्पष्ट है कि समतापरेखाओं द्वारा किसी भू-भाग के तापक्रम का यथार्थ रूप नहीं देखा जा सकता। परन्तु यदि यह तरीका न अपनाया जाता, तो इतनी उलझनें उत्पन्न होतीं कि समतापदर्शक मानचित्रों का अध्ययन भी कठिन हो जाता। समुद्रतल के तापक्रम में परिणित करने पर समतापदर्शक मानचित्रों द्वारा तापक्रम पर अक्षांश तथा जल-स्थल का प्रभाव सरलता से देखा जा सकता है। सभी स्थानों का असली तापक्रम दिखाने पर यह प्रभाव बिलकुल ही अस्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यथार्थ चित्र न होने पर भी समतापदर्शक मानचित्र किसी क्षेत्र की तापक्रम सम्बन्धी सामान्य पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर देता है।

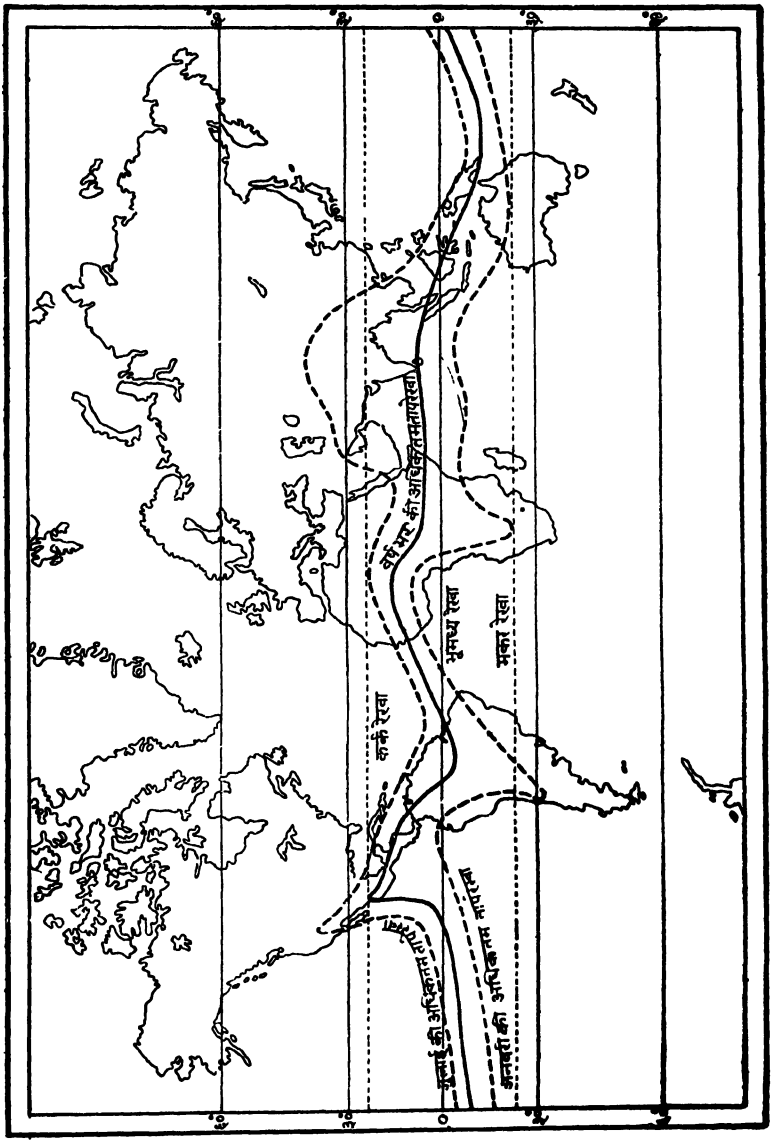
२८१. **समतापदर्शक मानचित्रों का अध्ययन**—संसार के समतापदर्शक मानचित्रों का अध्ययन करने से निम्नांकिन विशेषताएँ प्रकट होती है।

(१) सामान्यतः, समतापरेखायें अक्षांशो की तरह पूर्व-पश्चिम खिची हुई हैं। इसका कारण यह है कि तापक्रम सूर्यातपन पर निर्भर रहता है। और सूर्यातपन अक्षांश के अनुसार ही घटता-बढता है। भूमध्यरेखा मे ध्रुवों की ओर तापक्रम घटता जाता है।

(२) समतापरेखाओं के पूर्व-पश्चिम मार्ग में अधिक परिवर्तन उसी स्थान पर होता है जहाँ स्थलमण्डल और जलमण्डल की सीमाएँ मिलती हैं। जब यह रेखायें महाद्वीपों से समुद्र की ओर जाती है, तो गरमी में भूमध्यरेखा की ओर और जाडों में ध्रुवों की ओर मुड़ जाती है। जल और स्थल की गरमी में अन्तर ही इस परिवर्तन का कारण है। अक्षाश के बाद जल और स्थल का विन्यास ही तापक्रम के वितरण पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। जलधारायें इन रेखाओं की मोड़ में कुछ अधिक परिवर्तन कर देती हैं।

(३) उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध में ये रेखायें अधिक सीधी हैं क्योंकि उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल भाग अधिक हैं और दक्षिणी गोलार्द्ध में महासागर अधिक हैं।

(४) अधिकतम तापरेखा—(Thermal Equator) भूमध्यरेखा के उत्तर में । इसका भी मुख्य कारण पृथ्वी के धरातल पर स्थल भाग और जल भाग का



चित्र ८२. अधिकतम तापरेखा

अन्तर है। अधिकतम ताप स्थलखण्डों पर ही दिखाया गया है।

२८२. जनवरी और जुलाई का तापक्रम—हमारी पृथ्वी पर जलवायु की विषमताओं को प्रदर्शित करने वाले महीने जनवरी और जुलाई हैं। जनवरी में उत्तरी गोलार्द्ध में जाड़े की ऋतु रहती है और दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु होती है।

जनवरी में समतापदर्शक मानचित्र में देखने से सबसे अधिक ठण्डे भाग सायबेरिया और ग्रीनलैण्ड मे दिखाई देते हैं। सायबेरिया में विश्व का शीततम भाग वरखोयान्स्क के समीप है जहाँ का तापक्रम —९०° फा० तक नापा जा चुका है। संसार की सबसे ठण्डी समतापरेखा —५०° फा० इसी भाग में प्रदर्शित की गई हैं। शीत की दृष्टि मे ग्रीनलैण्ड का दूसरा स्थान है। यहाँ —४०° फा० की समतापरेखा बनाई गई है, इसी दृष्टि मे उत्तरी कनाडा का तीसरा स्थान है।

उत्तरी गोलार्द्ध के स्थलीय भागों में समतापरेखायें शीत कटिबन्ध में एक दूसरी के बहुत समीप दिखाई गई हैं। इस प्रकार से समतापरेखाओं की सघनता इन भागों की चक्रवात और प्रतिचक्रवात हवाओं के परिणामस्वरूप बनी है।

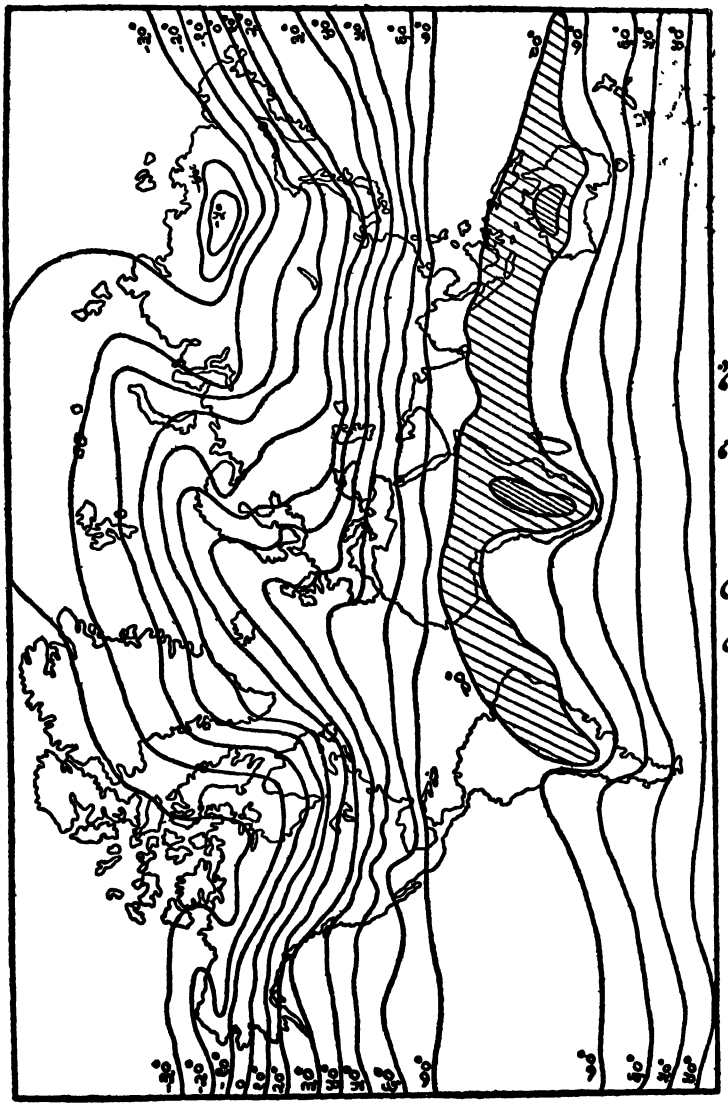
दक्षिणी गोलार्द्ध के गरम भागो में समस्त आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका का उत्तरी भाग सम्मिलित है। गरमी के प्रमुख केन्द्र दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के पश्चिमी पठार में लगभग २०° द० अक्षांश के समीप हैं जिनमे ९०° फा० की समतापरेखा अधिकतम गरमी प्रदर्शित करती है।

जुलाई का समतापदर्शक मानचित्र देखने मे हमें सबसे ठण्डे भाग एण्टर्कटिक पर दिखाई देते है जहाँ सबसे कम तापक्रम —६०° फा० तक अनुमान किया जाता है।

दक्षिणी गोलार्द्ध की समतापरेखायें प्रायः सीधी हैं, परन्तु उत्तरी गोलार्द्ध में उनकी सीध में पर्याप्त अन्तर है। ९०° फा० समतापरेखाये एशिया और अफ्रीका के बहुत बड़े भाग को घेरे हुए है। उत्तरी अमेरिका के कोलम्बिया पठार और ग्रेट बेसिन को भी ९० फा० समतापरेखा घेरे हुए है। इससे प्रकट होता है कि जनवरी की अपेक्षा जुलाई में गरमी का प्रभाव अधिक विस्तृत होता है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि जनवरी में हमारी पृथ्वी अपनी जुलाई की स्थिति से सूर्य के अधिक समीप होती है। सूर्य से पृथ्वी की दूरी जनवरी में नौ करोड़ पन्द्रह लाख मील और जुलाई मे ९ करोड पैतालीस लाख मील होती है। फिर भी कुल मिलाकर पृथ्वी का अधिकतर भाग जुलाई में ही ज्यादा गरम रहता है। इसका कारण उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल की अधिकता ही है।

२८३. तापान्तर (Range of Temperature)—यों तो तापान्तर शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है, परन्तु इसका प्रयोग औसत वार्षिक तापान्तर (कई वर्षो के वार्षिक तापान्तर का औसत) के अर्थ में हुआ करता है। तापान्तर के कई भेद हैं—

(क) **दैनिक तापान्तर**—दिन और रात के अधिकतम और न्यूनतम तापक्रम का अन्तर।



जनवरी की समतापरेखायें

चित्र ८३.

(ख) **वार्षिक तापान्तर**—वर्ष के सबसे गरम महीने के औसत तापक्रम और सबसे ठण्डे महीने के औसत तापक्रम का अन्तर ही वार्षिक तापान्तर होता है।

(ग) प्रकेवल तापान्तर (Absolute Range of Temperature)—किसी स्थान पर किसी भी समय अर्थात् कभी भी सबसे अधिक और सबसे कम होने वाले तापक्रम का अंतर ही परमतापान्तर है।

(घ) औसत प्रकेवल तापान्तर—कई वर्षों के परमतापान्तर का औसत है।

२८४. तापान्तर को प्रभावित करने वाली बातें—तापान्तर को निम्न बातें प्रभावित करती है—अक्षांश, ऊँचाई समुद्र से दूरी, धरातल का ढाल, समुद्री धारायें और हवायें, तथा मेघ और वर्षा।

(१) अक्षांश—सामान्यत, भूमध्यरेखा के समीप तापान्तर कम होता है और ध्रुवो की तरफ बढता जाता है। इसका मुख्य कारण सूर्य की किरणो का तिरछापन होता है। भूमध्यरेखा के समीप सूर्य की किरणे प्राय वर्ष भर सीधी पडती है, अतः यहाँ पर तापान्तर सबसे कम होना है। भूमध्यरेखा से ज्यो-ज्यो हम उत्तर या दक्षिण की तरफ बढ़ते है त्यों-त्यो किरणो का तिरछापन बढता जाता है और उसी के कारण तापान्तर भी बदल जाता है।

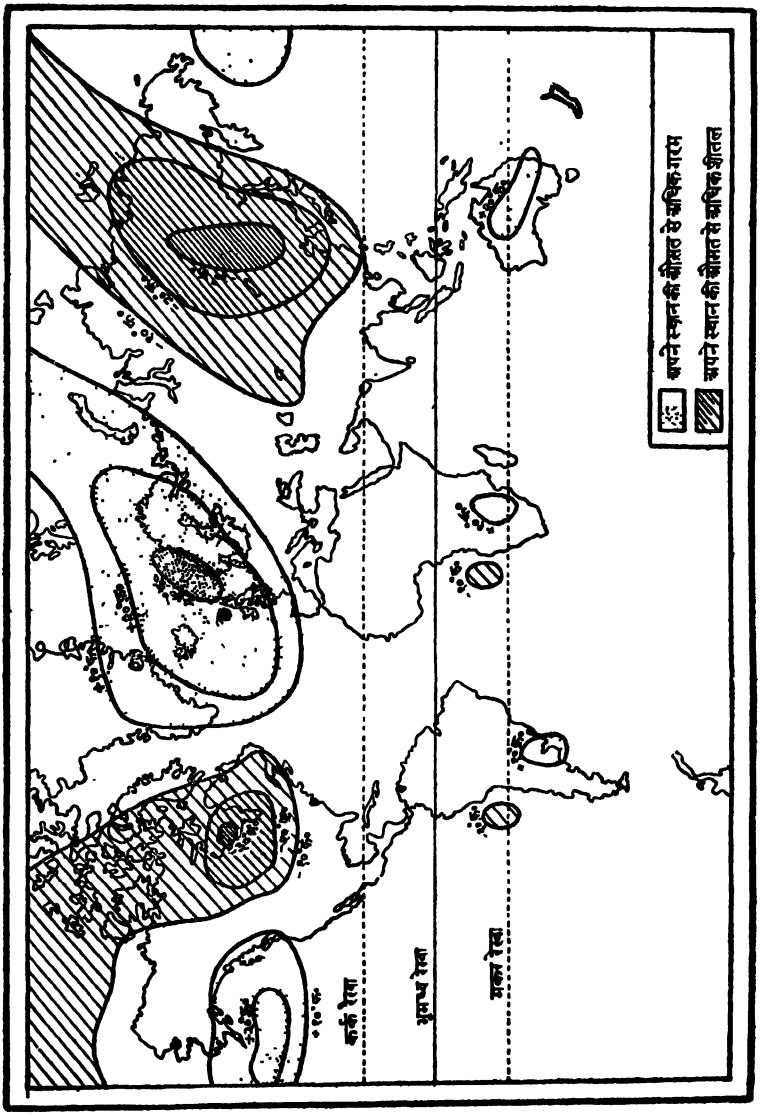
(२) ऊँचाई—ऊँचे स्थान दिन के समय सर्यातपन (Insolation) अधिक मात्रा मे ग्रहण करते है और रात में उनसे विकिरण भी अधिक होता है। इसका फल यह होता है कि दैनिक तापान्तर (Diurnal Range) काफी अधिक होता है। परन्तु इसका प्रभाव औसत तापान्तर पर नही पडता।

(३) समुद्र से दूरी—समुद्र के समीपस्थ स्थानो मे तापक्रम प्रायः सम रहा करता है। अत जो स्थान समुद्र के समीप स्थित होते है वहाँ पर तापान्तर कम रहा करता है। जो स्थान समुद्र से दूर स्थित होते है वहाँ पर तापान्तर अधिक हुआ करता है। उदाहरण के लिए बम्बई जो समुद्र के समीप है वहाँ वार्षिक तापान्तर केवल ९° रहता है परन्तु देहली मे जो समुद्र से दूर है तापान्तर लगभग ३८° रहता है।

(४) धरातल का ढाल—पर्वतो का जो ढलान सूर्य की तरफ होते है वहाँ पर तापान्तर कम और दूसरी तरफ के ढलानो मे तापान्तर अधिक रहा करता है।

(५) समुद्री धाराये तथा हवायें—धारायें और हवायें भी तापान्तर को बढ़ाने-घटाने में विशेष सहायक होती है। इगलैण्ड मे वार्षिक तापान्तर अपने अक्षांश को देखते हुए बहुत कम होना है क्योंकि गल्फस्ट्रीम धारा और पछवा हवायें तापान्तर को कम करती है। इसकी तुलना मे पूर्वी कनाडा का तापान्तर अधिक होता है क्योंकि यहाँ पर ठण्डी लैब्रोडोर धारा और स्थानीय हवायें तापान्तर को बढ़ाने में सहायक होती हैं।

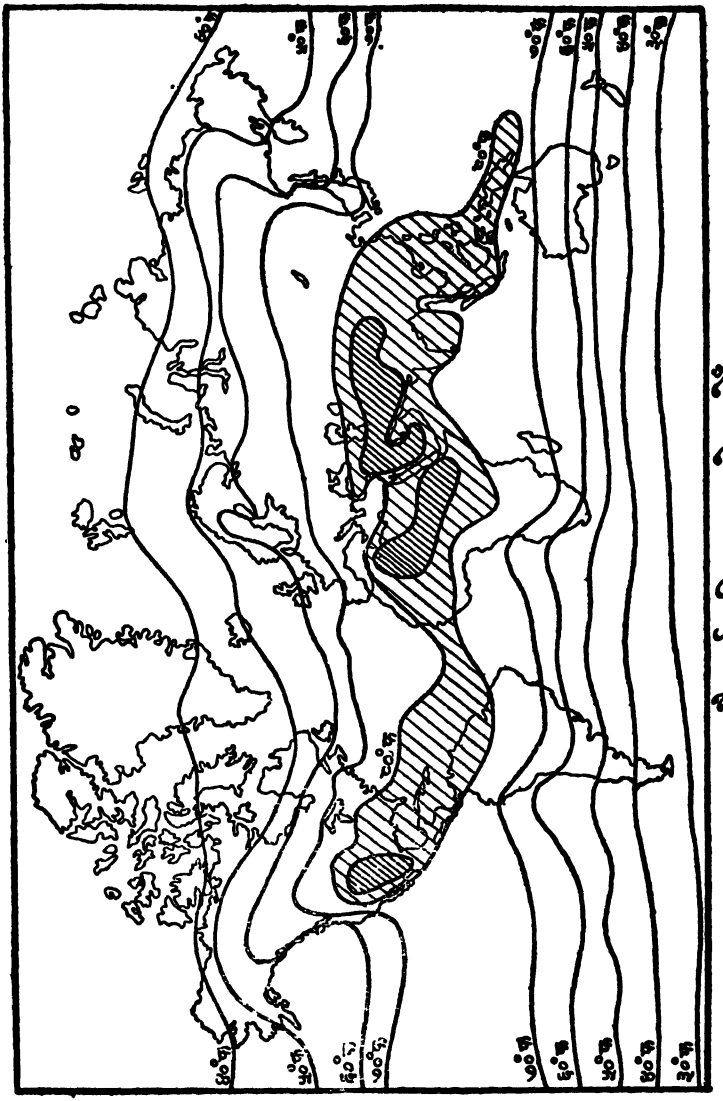
(६) **मेघ और वर्षा**—मेघ और वर्षा दोनो ही तापान्तर को कम करते हैं। इसके विपरीत जिन स्थानों में आकाश साफ रहता है और वर्षा कम होती है वहाँ पर



चित्र ८४. जनवरी में अपने औसत से अधिक गरम या अधिक ठण्डे स्थान

तापान्तर अधिक हुआ करता है। यही कारण है कि मरुस्थली भागों में तापान्तर अधिक रहा करता है।

जनवरी और जुलाई के समतापदर्शक मानचित्रों के अध्ययन द्वारा प्रत्येक स्थान का वार्षिक तापान्तर जाना जा सकता है क्योंकि विश्व के प्रत्येक स्थान पर

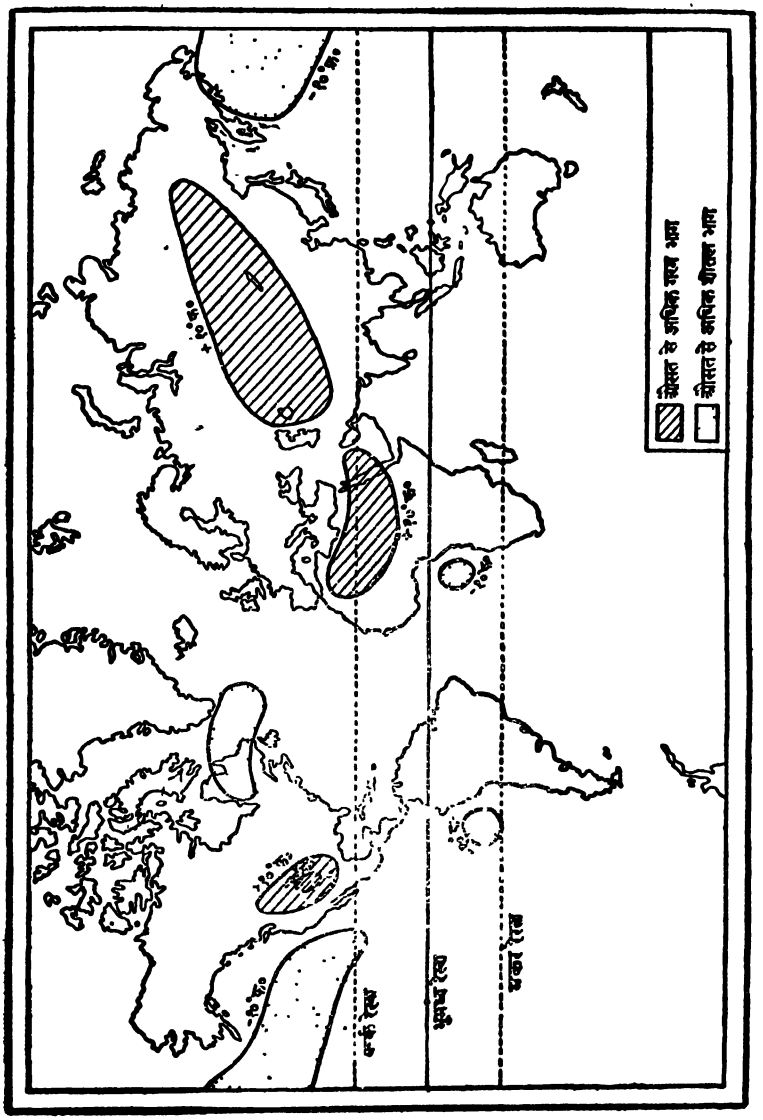


जुलाई की समतापरेखायें

चित्र ८५.

इनमें से एक महीना सबसे गरम है तो दूसरा सबसे ठण्डा है। वार्षिक तापान्तर किसी स्थान की जलवायु के अध्ययन मे पर्याप्त उपयोगी होता है। वार्षिक तापान्तर

(चित्र ८६) के आधार पर हमें पता चलता है कि विश्व के दो प्रकार के स्थानों में वार्षिक तापान्तर कम होता है—(१) भूमध्यरेखा के समीपवर्ती स्थानों में साल भर



चित्र ८६ जुलाई में अपने मौसम से अधिक गरम या ठण्डे भाग

लगभग एक-सी गरमी पड़ने के कारण, और (२) समुद्र के समीपस्थ भागो मे जल के प्रभाव द्वारा। इसके विपरीत तीन प्रकार के स्थानों में वार्षिक तापान्तर अधिक

होता है—(१) ध्रुवीय प्रदेशों में जाडों और ग्रीष्म में सूर्यातपन की मात्रा में अधिक अन्तर पडने के कारण, (२) महाद्वीपों के भीतरी भागों में समुद्र के प्रभाव द्वारा और (३) ऊँचे पर्वतीय प्रदेशों में वायु में सघनता की कमी और जलवाष्प आदि गैसों के अभाव के कारण।

२८५. सूर्यातपन के वार्षिक वितरण के अनुसार संसार के भाग—इस दृष्टि से संसार के तीन भाग किए जाते है—

(१) **भूमध्यरेखा के प्रदेश**—यह भाग २०° उ० अ० से २०° द० अ० तक फैला है। इस क्षेत्र में वर्ष में दो बार सूर्यातपन उच्चतम होता है और दो बार न्यूनतम होता है। सूर्यातपन की मात्रा शून्य कभी भी नही होती।

(२) **मध्य अक्षांश**—इसका विस्तार २०° से ६६½° तक है। इस क्षेत्र में वर्ष में केवल एक बार उच्चतम सूर्यातपन होता है और एक बार न्यूनतम होता है।

(३) **ध्रुवीय प्रदेश**—इस में सूर्यातपन वर्ष में एक बार उच्चतम होता है। परन्तु वर्ष के कुछ भाग मे सूर्यातपन वहाँ पर पहुँचने ही नही पाता। उस समय यहाँ पर सूर्यातपन शून्य रहता है।

प्रश्न

1. What is insolation ? Show what the atmosphere does to the incoming solar radiation and outgoing terrestrial radiation. Give the distribution of insolation over the earth's surface.

(*Agra B.A. 1955*)

2. Discuss the factors which govern the distribution of insolation over the surface of the earth.

(*Ban. B.A. 1955*)

3. Discuss fully the factors which control the diurnal variations of temperature.

(*Agra B.A. 1955*)

इक्कीसवाँ अध्याय

वायुभार और हवायें

२८६. वायुभार क्या है ?—हम पहले कह चुके हैं कि हमारे भूमण्डल पर सैकड़ों मील ऊँचा वायु का परत है। इसकी ठीक-ठीक ऊँचाई अभी तक ज्ञात नहीं हो सकी है। परन्तु लगभग ४०० मील की ऊँचाई पर सुमेरु ज्योति या अरोरा बोरियालिस (उत्तरी ध्रुव का प्रकाश) देखा गया है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि ४०० मील की ऊँचाई पर वायु मौजूद है।

हम जानते हैं कि पृथ्वी ससार के प्रत्येक पदार्थ को अपनी ओर खीचती है। इसी आकर्षण-शक्ति के कारण हम प्रत्येक पदार्थ मे भार पाते है। वायु भी एक भौतिक पदार्थ है, इसलिए इसमें भी भार होना चाहिए। वायु मे भार होने का प्रमाण सबसे पहले आटोफान गेरिक नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने १६५१ ई० में प्रस्तुत किया था। उसने लोहे के दो अर्द्ध-गोलों को मिलाकर उनके भीतर की हवा निकाल दी। भीतरी वायु निकलने से बाहरी वायु का भार इतना अधिक पड़ा कि दोनों ओर दस दस घोडों के खींचने पर भी वे अर्द्ध-गोले एक दूसरे से अलग नही हुए।

वायुभार का ज्ञान भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्यक्ष रूप से वायुभार का मानव-जीवन पर कोई प्रभाव नही होता। परन्तु वायुभार में थोड़ा सा भी परिवर्तन हो जाने से हवाओं की गति और उनकी दिशा पर प्रभाव पड़ता है। हवाओं की गति और दिशा, तापक्रम और आर्द्रता (वर्षा आदि) पर प्रभाव डालती हैं। तापक्रम और वर्षा तो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से मानव-जीवन को अत्यधिक प्रभावित करती है। इस प्रकार वायुभार अप्रत्यक्ष रूप से जीवन की परिस्थितियों पर नियन्त्रण रखता है। यदि पृथ्वी के सभी भागों पर सर्वदा एक-सा वायुभार बना रहता, तो स्थल पर वर्षा के रूप में जीवन का रस लाने वाली हवायें कैसे चलतीं ? आर्द्रता-विहीन स्थल पर जीवन की कल्पना ही असंभव हो जाती और सृष्टि में स्थलचारी जीवों का निशान भी न होता।

२८७. वायुभार की माप—वायुभार को मापने का यन्त्र सबसे पहले गैलीलेओ के शिष्य टारिसेली ने बनाया था। उसने काँच की एक गज़ लम्बी नली में पारा भरकर उसे पारे से भरे हुए एक प्याले में उलटा खड़ा कर दिया। उलटने पर नली में लगभग ३०" ऊँचा पारे का स्तम्भ खड़ा रह गया और ऊपर ६" लम्बी जगह खाली

हो गई। इसका अर्थ यह हुआ कि बाहरी हवा के दबाव से ही नली मे पारे का ३० ऊँचा स्तम्भ खड़ा रह सका। दूसरे शब्दो में हवा का भार नली के भीतर खड़े हुए ३०" लम्बे पारे के स्तम्भ को भार के बराबर है। यदि किसी कारण हवा का दबाव कम हो जाय, तो वह ३०" ऊँचे पारे के स्तम्भ को नही सँभाल सकेगा और नली का कुछ और पारा प्याले में गिर जायगा। वायु के भार को नापने वाले यन्त्र को बैरोमीटर कहते है। पहले वायुभार इचों में नापा जाता था, परन्तु आजकल आसानी के लिए मिलीबार भी वायुभार नापने में प्रयुक्त होते है। १,००० मिलीबार लगभग २९-५३" के बराबर होते है। वायुभार मापक यन्त्रों में भी पर्याप्त सुधार हुआ है। फोरटिन का बैरोमीटर और एनेरोइड बैरोमीटर बड़े उपयोगी वायुमापक यत्र है तथा बैरोग्राफ तो स्वयलेखक बैरोमीटर है।

२८८. वायुभार की निर्भरता-- वायुभार निम्नांकित तीन स्थितियो मे बदल जाता है—

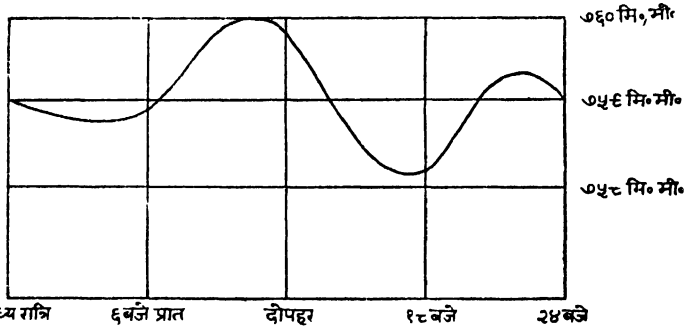
(क) वायुभार और तापक्रम—तापक्रम और वायुभार में पारिम्परिक घनिष्ठ सबन्ध है। वायु गरमी पाकर फैलती है और अधिक स्थान घेरती है। इसका अर्थ यह हुआ कि गरम होने पर वायु का भार कम हो जाता है। इसके विपरीत ठण्ड पाकर वायु संकुचित होती है और पहले मे स्थान घेरती है। दूसरे शब्दो में ठण्डी होने पर वायु का भार वढ जाता है। इसी के आधार पर एक सामान्य नियम बन गया है कि यदि **तापक्रम अधिक होगा तो वायुभार कम होगा और यदि तापक्रम कम होगा, तो वायुभार अधिक होगा।** इसी नियम को इस प्रकार भी कहते है कि थर्मामीटर जितना ऊँचा चढेगा, बैरोमीटर उतना ही नीचे उतरेगा और थर्मामीटर जितना नीचे उतरेगा, बैरोमीटर उतना ही ऊँचा चढेगा। यही कारण है कि भूमध्यरेखा के निकट वायुभार कम रहा करता है और ध्रुवो के निकट हिमाच्छादित तट पर अधिक ठण्ड के कारण वायु का भार अधिक रहता है। हिम से आच्छादित धरातल पर एक और विशेषता होती है। बर्फ एक तो पृथ्वी पर पहुँचने वाले सूर्यताप का $\frac{5}{6}$ भाग परावर्तित (Reflect) कर देती है। दूसरे विकिरण (Radiation) द्वारा बडी जल्दी अपनी गरमी को निकाल देती है। अत: जिन दिनो आकाश साफ होता है उन दिनों रात्रि के समय हिमाच्छादित मैदानो का तापक्रम बहुत कम हो जाता है। और इसीलिए वहाँ वायुभार बढ जाता है।

(ख) ऊँचाई के अनुसार वायुभार परिवर्तन—वायु के ऊपरी स्तरो का भार नीचे वाले स्तरो पर पडता है, अतएव नीचे की वायु अधिक घनी तथा भारी हो जाती है और ऊपर की वायु फैली हुई और हल्की रहती है। समुद्रतल पर वायुभार प्रतिवर्ग

इंच पर ७½ मेर से लगभग होता है। परन्तु ज्यो-ज्यो हम समुद्रतल से ऊँचे चढते जाते है, त्यो-त्यो वायु का भार कम होता जाता है। समुद्रतल से ९०० फुट की ऊँचाई पर वायुभार एक इच घट जायगा। ऊँचाई के साथ-साथ वायु का घनत्व भी कम होता जाता है, अतएव १,८०० फुट की ऊँचाई पर वायुभार पूरे दो इंच कम न होगा बल्कि दो इच से कुछ कम ही घटेगा। ऊँचाई के साथ वायुभार घटते जाने का एक विशेष फारमूला (नियम) है।

(ग) वायु और जलवाष्प—यदि किसी स्थान पर वायु मे पानी की भाप अधिक मिल जाती है। तो उस स्थान पर वायुभार कम हो जाता है क्योंकि भाप वायु के निचले भाग से भार मे कम होती है। वर्षा ऋतु मे वायु मे जलवाष्प अधिक मात्रा में मिली रहती है जिससे उस समय भार कम रहता है। सूखी हवा अधिक भारी होती है।

२८९ वायुभार में दैनिक परिवर्तन— हम पहले कह चुके है कि वायुभार और तापक्रम मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। वायुभार मापक यन्त्र से प्रतिदिन प्रातःकाल के ४ बजे से दिन के १० बजे तक तथा शाम के ८ बजे से रात के १० बजे तक वायुभार बढ़ता हुआ मालूम होता है। इसके विपरीत दिन के १० बजे से शाम के ८ बजे तक



चित्र ८७ बैरोमीटर का ज्वारभाटा

और रात के १० बजे से प्रातःकाल ४ बजे तक वायुभार घटता है। वायुभार के इस प्रकार घटने बढने को **बैरोमीटर का ज्वारभाटा** (Barometric Tide) कहते है। बैरोमीटर का ज्वारभाटा भूमध्यरेखा से ध्रुवो की ओर कम होता जाता है। ६०° उत्तर और दक्षिण अक्षांशो के आगे यह अदृश्य हो जाता है। बैरोमीटर के ज्वारभाटे पर स्थल का प्रभाव स्पष्ट मालूम पडता है। स्थल के भीतरी भागों मे दिन के समय बैरोमीटर के पारे का उतार-चढ़ाव रात्रि के उतार-चढाव से तो अधिक होता ही है,

परन्तु समुद्र के निकट वाले स्थानों के दिन के उतार-चढ़ाव से भी अधिक होता है। इसके प्रतिकूल समुद्र के समीपस्थ स्थानों में रात का उतार-चढ़ाव भीतरी भागों के रात के उतार-चढ़ाव की अपेक्षा अधिक होता है। संक्षेप में बैरोमीटर का ज्वार-भाटा तापक्रम के अनुसार परिवर्तनशील रहता है।

ऊँचाई के कारण वायु का घनत्व घटता है और उससे वायुभार भी बदलता है। इसका वर्णन किया जा चुका है। परन्तु तापक्रम के अनुसार भी ऊंचे या नीचे स्थानो में वायुभार में परिवर्तन होता है।

२९०. **पृथ्वी पर वायुभार की पेटियाँ**—वायुमण्डल का वह अश जो धरातल के सन्निकट है, धरातल के सम्पर्क मे आकर धरातल के साथ-साथ गरम होता है और उसके ठण्डा होने पर ठण्डा हो जाता है। भूमध्यरेखा के समीप का प्रदेश अधिक गरम हो जाता है, अत. उसके पास की वायु भी अधिक गरम हो जाती है। वायु गरम होकर ऊपर की ओर फैलती है और फैलने से उसका भार कम हो जाता है। वायु के हल्केपन के कारण समीप की भारी वायु अधिक दबाव डालकर गरम और हल्की वायु को ऊपर उठा देती है और आप स्वयं उसका स्थान ले लेती है। वहाँ पहुँचने पर धरातल की गरमी उसे भी गरम कर देती है और उसे भी फैलकर ऊपर उठना पड़ता है। ठण्डी और भारी वायु फिर उसके स्थान पर आ जाती है। ऊपर उठती हुई गरम और हल्की हवा अधिक ऊँचाई पर पहुँचकर ठण्डी हो जाती है। ठण्डी होकर वायु सिकुड़ती है और उसका भार बढ़ता है। भार बढ़ जाने के कारण वायु नीचे उतरती है, परन्तु भूमध्यरेखा के प्रदेश में नही उतरने पाती बल्कि उसके उत्तर और दक्षिण में कर्क और मकर रेखाओ के पास उतर पड़ती है। भूमध्यरेखाओं के समीप हल्की वायु की अधिकता के कारण उस प्रदेश का वायुभार घट जाता है और ३० अक्षांश के समीप वायुभार कुछ बढ़ जाता है।

ध्रुवो के निकट अत्यन्त शीत पडने से यहाँ का धरातल अत्यधिक ठण्डा हो जाता है। ठण्डे धरातल के स्पर्श से वहाँ की वायु ठण्डी होकर सकुचित होती है और वहाँ का वायुभार बढ जाता है। इस प्रकार ध्रुवो के पास उच्चभार की पेटियाँ होती है।

उपर्युक्त पेटियो के अतिरिक्त ६०° उत्तर और दक्षिण अक्षाशो के समीप न्यून भार की पेटियाँ हैं। इनका संभावित कारण निम्नाकित है—

यदि किसी प्याले में पानी भरकर उसे तेजी से घुमाया जाय, तो बीच से पानी सिमटकर किनारों पर इकट्ठा हो जायगा। यदि हम कल्पना कर लें कि हमारी पृथ्वी दो प्यालों के जोड़ने से बनी है, तो ध्रुव उनके पैंदे और भूमध्यरेखा पर उनके

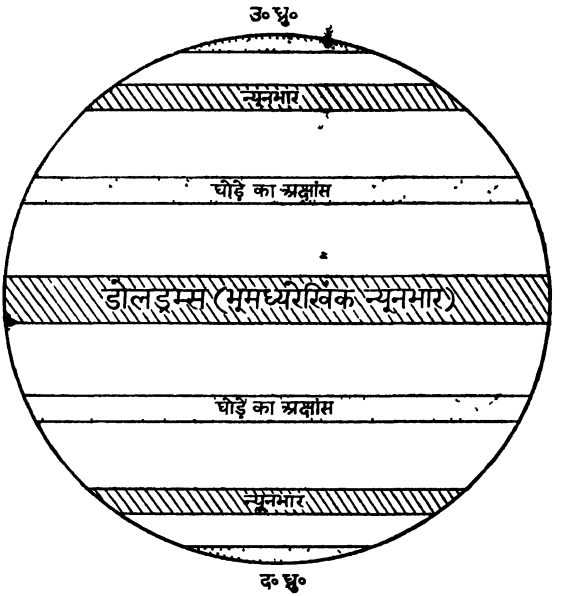
किनारे होंगे। इन दोनों प्यालों पर पानी के स्थान पर वायु है। इस उपमा से हम भली भाँति समझ जायँगे कि पृथ्वी के तीव्र गति से घूमने के कारण पानी समान वायु भी ध्रुवों से भूमध्यरेखा की ओर सिमटने लगेगी, और पृथ्वी की विशेष आकृति के कारण ध्रुववृत्तों के समीप कम रह जायगी, अतः वहाँ न्यूनभार रह जायगा। सिमटी हुई हवा ३० उत्तरी और दक्षिणी अक्षांशों के समीप एकत्र हो जायगी और वहाँ पर उच्चभार स्थापित हो जायगा। इस प्रकार पृथ्वी पर उच्चभार और न्यूनभार की कुछ पेटियाँ बन जाती हैं जिनकी व्यवस्था निम्न प्रकार है—

(१) भूमध्य-रेखा पर न्यूनभार की पेटी।

(२) अयनरेखाओं के समीप उच्चभार की पेटियाँ।

(३) ध्रुववृत्तों के समीप न्यूनभार की पेटियाँ।

(४) ध्रुवों के निकट उच्चभार की पेटियाँ।



चित्र ८८ वायुभार की पेटियाँ

२६१. ऋतुओं के अनुसार वायुभार में परिवर्तन—पृथ्वी पर वायुभार का वितरण समभार रेखाओं (Isobars) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। समान वायुभार वाले स्थानों को मिलाने वाली रेखा को समभार रेखा कहते हैं। समभार रेखायें खींचने से पूर्व वायुभार को हमेशा समुद्रतल के वायुभार में बदल लेते हैं। ऋतुओं के अनुसार वायुभार परिवर्तन समझने के लिए जनवरी और जुलाई के समभारदर्शक मानचित्रों का अध्ययन अत्यन्त लाभदायक होता है। इन मानचित्रों के अध्ययन से प्रकट होता है कि वायुभार की पेटियाँ सूर्य की सीधी किरणों के प्रभाव से कुछ उत्तर की ओर तथा जनवरी में कुछ दक्षिण की ओर खिसक जाती हैं। परन्तु वे तापक्रम के साथ साथ उत्तर या दक्षिण में अधिक दूर तक नहीं खिसक

पानी, बल्कि कुछ पीछे रह जाती है। महासागरो की अपेक्षा महाद्वीपों में ये पेटियाँ कुछ अधिक दूरी तक खिसक जाती है। उदाहरण के लिए जनवरी के समभारदर्शक मानचित्र मे भूमध्यरेखा की न्यूनभार वाली पेटी दक्षिण अमेरिका और दक्षिणी अफ्रीका में २०° दक्षिणी अक्षाश के आस-पास तक पहुँच जाती है और आस्ट्रेलिया महाद्वीप में तो २०° द० अक्षाश के दक्षिण मे काफी दूर तक खिसक जाती है।

उपोष्ण (Subtropical) उच्चभार की पेटी पर ऋतुओं का अत्यधिक प्रभाव स्थल और जल के वितरण के कारण पडता है। जाडे की ऋतु मे स्थलखण्ड बहुत ठण्डे रहते है, अत उच्चभार की पेटी लगभग अटूट सी ज्ञात होती है। परन्तु गरमी की ऋतु मे स्थलभाग इतने गरम हो जाते है कि उच्चभार की यह पेटी स्थल पर न्यूनभार में परिवर्तित हो जाती है।

उत्तरी गोलार्द्ध मे और विशेषतया एशिया और उत्तरी अमेरिका मे अयनरेखा के समीप स्थल के अधिकाश भागो पर जाडो में उच्चभार और गर्मियो मे न्यूनभार स्थापित हो जाता है। उसी समय उसके पास के समुद्रो में जाडो मे न्यनभार और गर्मियो में उच्चभार बन जाया करता है।

२६२. जनवरी के समभारदर्शक मानचित्र का अध्ययन—जनवरी मे ससार का उच्चतम वायुभार मध्य एशिया मे (लगभग ३०६ इच) होता है। उच्चभार के अन्य केन्द्र सहारा मरुस्थल मे नुआत क्षेत्र, उत्तरी अमेरिका मे कोलम्बिया पठार और केलीफोर्निया के पश्चिम में प्रशान्त महासागर में स्थित होते है। दक्षिण गोलार्द्ध मे उच्चभार के केन्द्र चिली के पश्चिमी तट के समीप प्रशान्त महासागर मे, दक्षिणी अफ्रीका के पश्चिमी तट के पास अटलाण्टिक महासागर मे और आस्ट्रेलिया के पश्चिमी तट के समीप हिन्द महासागर मे है।

न्यूनभार के केन्द्र उत्तरी अटलाण्टिक मे आयसलैण्ड द्वीप के आस-पास तथा उत्तरी प्रशान्त महासागर मे अल्यूशियन द्वीपसमूह के आस-पास स्थापित हो जाते है। दक्षिणी गोलार्द्ध मे न्यूनभार के केन्द्र तीनो दक्षिणी महाद्वीपो में भूमध्यरेखा से काफी दक्षिण तक स्थापित हो जाते है।

२६३. जुलाई के समभारदर्शक मानचित्र का अध्ययन—जुलाई में दक्षिणी गोलार्द्ध मे उच्चभार की पेटी ३०° द० अक्षांश के समीप लगभग अविच्छिन्न रूप से विस्तृत है। तारीफ़ तो यह है कि जब उत्तरी गोलार्द्ध मे जाड़ो की ऋतु में उच्चभार के विशेष केन्द्रस्थल में थे, तब दक्षिणी गोलार्द्ध में विशेष रूप से समुद्र ही उच्चभार के मुख्य केन्द्र है। उत्तरी गोलार्द्ध में भी समुद्र ही उच्चभार के केन्द्र है। उच्च-

भार के मुख्य स्थान उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में अजोर्स द्वीप के निकट तथा उत्तरी प्रशान्त में ४०° उत्तरी अक्षांश के आस-पास है।

न्यूनभार उत्तरी गोलार्द्ध में विशेष विकसित है। मध्य एशिया का न्यून वायु-भार केन्द्र बहुत विस्तृत भाग में फैला हुआ है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी संयुक्त राज्य में बेफिन की खाडी तथा उत्तरी स्कैण्डिनेविया आदि में न्यूनभार के केन्द्र में उत्पन्न हो जाते है।

हवायें

२६४. हवाये क्या है ?—धरातल से ऊपर की ओर तथा ऊपर से धरातल की ओर चलने वाली वायु को वायुधारा (Air Current) कहते है। परन्तु धरातल पर इधर से उधर चलने वाली वायु को हवा या पवन (Wind) कहा जाता है। हवा जिस दिशा मे चलती है उसी दिशा के अनुसार उसका नाम रखा जाता है। जैसे पूर्व से चलने वाली पूर्वी हवा और पश्चिम से आने वाली पछवा हवा कहलाती है।

२६५. हवाओं के चलने का कारण—पहले कहा जा चुका है कि गरमी से वायु फैलती है और उसका आयतन (Volume) बढ जाता है। आयतन बढ़ने से वायु ठण्डी पड जाती है और तापक्रम घट जाता है। ठण्डक से हवा का संकोच होता है, संकोच से या दबाव से आयतन घटता और तापक्रम बढ जाता है। दूसरे शब्दों में दबाव बढा देने से आयतन घटता है और आयतन घटने से हवा में गरमी बढ़ती है। इसके विपरीत दबाव घटा देने से आयतन बढ़ता है और हवा की गरमी घटती है। जब कभी वायुमण्डल के किसी भाग में दबाव बढ़ जाता है तो उसका आयतन घटता है और वहाँ से हवा कम दबाव के कारण अधिक आयतन वाले स्थान की ओर बहती है। इस प्रकार धरातल पर वायुभार में अन्तर होने के कारण ही भूतल पर हवायें चला करती हैं। हवायें सदैव उच्चभार से न्यूनभार की ओर चला करती हैं। हवा की प्रवाह-गति वायुभार के अन्तर की न्यूनाधिकता पर निर्भर रहती है। वायुभार में कम अन्तर होगा तो हवा धीमी गति से चलेगी। परन्तु यदि वायुभार में अधिक अन्तर होगा, तो तूफान या आँधी चलेगी। वायुभार के अन्तर को वायुभार का ढाल या बैरोमीटर का ढाल कहा जाता है। मान लीजिये अ और ब दो ऐसे स्थान हैं जिनमें वायुभार क्रमशः २८ ७″ और २८ ६″ है, तो अ से ब की ओर बैरोमीटर का ढाल समझा जायगा। वायुभार का अन्तर धरातल पर जितना अधिक पास पास होगा, ढाल उतना ही प्रपाती होगा और फलतः हवा भी उतनी ही अधिक जोर से चलेगी। समभार रेखाओं के अध्ययन से वायुभार के ढाल का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यदि नक्शे के में समभार रेखायें बहुत पास पास बनी हैं, तो ढाल अधिक प्रपाती

(Steep) है जो तूफ़ान की भविष्यवाणी कर रहा है। परन्तु यदि समभार रेखायें काफी दूर दूर हैं, तो हवा की गति धीमी होगी।

२९६. फैरल का नियम—यद्यपि हवायें उच्चभार की ओर से न्यूनभार की ओर चलती हैं, परन्तु पृथ्वी के पश्चिम से पूर्व की ओर तेजी से घूमने के कारण उनकी दिशा में परिवर्तन हो जाया करता है। हम जानते है कि भूमध्यरेखा की लम्बाई लगभग २५,००० मील, ३०° अक्षांश की २१,६०० मील और ६०° अक्षांश की १,५०० मील है। इन रेखाओं पर स्थित स्थान २४ घटे में पूरा चक्कर काट रहे है। स्पष्ट है कि भूमध्यरेखा पर स्थित स्थान ३०° अक्षांश पर स्थित स्थान से और ३०° अक्षांश का स्थान ६०° अक्षाश के स्थान से अधिक शीघ्रता से घूमता है। अतः जो हवायें ३०° उत्तरी अक्षांश से भूमध्यरेखा की ओर चलती है, वे ठेठ दक्षिण की ओर नही पहुँच पातीं। क्योंकि भूमध्यरेखा पर सभी स्थान ३०° अ: ांश के स्थानों से अधिक तेजी से घूमते हैं, अतः हवायें निर्दिष्ट स्थान से कुछ पीछे रह जाती है। ऐसी दशा में हवा की दिशा कुछ पश्चिम की ओर झुकी हुई प्रतीत होती है। इसी प्रकार ३०° अक्षांश से ६०° अक्षांश की ओर चलने वाली हवायें कुछ पूर्व की ओर झुक जाती हैं। फैरल नामक एक अमेरिकन विद्वान ने हवाओं, धाराओं आदि गतिशील पदार्थो पर पृथ्वी के आवर्तन के प्रभाव का अध्ययन करके यह नियम निकाला कि पृथ्वीतल पर घूमते हुए पदार्थ उत्तरी गोलार्द्ध में अपनी दायी ओर और दक्षिणी गोलार्द्ध में अपने वायी ओर घूम जाते हैं। इस नियम को फैरल का नियम कहते है। फैरल के नियम के अनुसार हवाओं का झुकाव भूमध्यरेखा के समीप बहुत थोड़ा होना है। परन्तु भूमध्यरेखा से ज्यों ज्यों उच्च अक्षाशो की ओर जाते हैं, हवा का यह झुकाव बढता जाता है। संभवतया इसका कारण यह है कि भूमध्यरेखा के समीप पृथ्वी की गोलाई धीरे धीरे कम होती है, परन्तु आगे यह कमी बराबर बढ़ती जाती है। इसी कारण भूमध्यरेखा के समीपस्थ प्रदेशों में हवा उच्चभार से न्यूनभार की ओर चलती हुई कम मुडाव के कारण तीव्र गति से बहती है। तीव्र गति के कारण शीघ्र ही न्यूनभार के स्थान पर पहुँचकर न्यूनभार की स्थिति को समाप्त कर देती है जिससे हवा बहना बन्द हो जाती है। यही कारण है कि भूमध्यरेखिक प्रदेशों में बहुत बार ऊमस (अकुलाहट) रहा करती है।

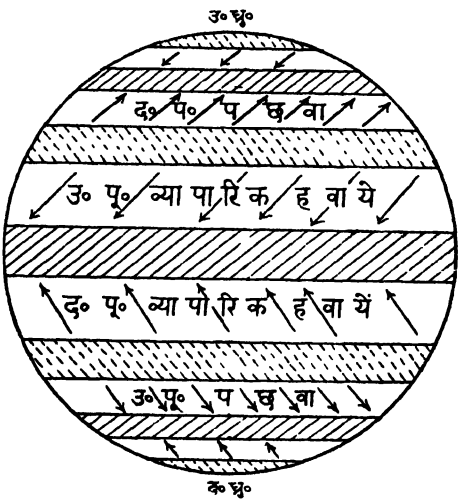
२९७. वायुभार का ढाल—उच्च अक्षांशो में हवायें उच्चभार से लघुभार वाले स्थानों को सीधी नहीं जातीं बल्कि लघुभार वाले स्थानों का चक्कर काटती चलती हैं। यही कारण है कि इनकी गति इतनी अधिक तीव्र नहीं होती। हवाओं की गति के सम्बन्ध में सामान्य नियम यह है कि ध्रुवों से ज्यों ज्यों भूमध्यरेखा की ओर

जाते है त्यो त्यो हवा की गति बढ़ती जाती है। किन्तु हमे यह भी याद रखना चाहिए कि बैरोमीटर का ढाल ऋतुओं के अनुसार भूमध्यरेखा से ध्रुवो की ओर बढ़ता है। इसका भी हवाओ की गति पर बहुत प्रभाव पडता है। वायुभार का ढाल जितना अधिक प्रपाती होता है, हवा की गति उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है।

(१) ग्रहीय हवायें या स्थाई हवायें (Planetary Winds)

२६८. भूमध्यरेखिक शान्त हवा की पेटी या डोल्ड्रम्स— भूमध्यरेखा के आस-पास सूर्य की किरणे सीधी पडती हैं। अतः वहाँ पर वायु अधिक गरम होकर ऊपर की ओर फैलती है। इस प्रकार इस प्रदेश मे वायु का प्रवाह धरातल से ऊपर आकाश की ओर होता है। इस प्रदेश में वायुभार के ढाल का सर्वथा अभाव सा रहता है। अतः यहाँ धरातलीय वायु भी वर्ष के अधिक भार मे शान्त रहती है। ट्रेवार्था महोदय का मत है कि साल मे चार महीने धरातलीय हवायें शान्त रहती है। वायुभार के अभाव के कारण धरातल की हवायें अत्यन्त धीमी और चारो दिशाओ से चलती है। इस प्रकार की अनियमित हवाओं का और शान्त भाग का कोई निश्चित स्थान नहीं रहता।

भूमध्यरेखा की अनियमित हवाओ और शान्त प्रदेश की पेटी वास्तव में समस्त पृथ्वीतल पर एक पेटी के रूप मे नही फैली हुई है। इसका विस्तार ऋतुओ के अनुसार भी बदलता रहता है। बहुत से स्थानों पर कई महीनों तक व्यापारिक हवाओं और मानसून हवाओं के चलने मे यह पेटी लग-भग अदृश्य हो जाती है। प्राचीन काल में जहाज ऐसे प्रदेश में होकर जाया करते थे जहाँ इस पेटी का विस्तार बहुत कम होता था। सामान्यता इस पेटी का विस्तार भूमध्यरेखा के दोनों ओर माना जाता है। परन्तु इसकी स्थिति ऋतु अनुसार बदलती रहती है। बहुत से स्थानों पर इसका विस्तार भूमध्यरेखा १०° अक्षांश से भी आगे तक बढ़ जाता है तथा कहीं कहीं इसका विस्तार व्यापारिक हवाओं द्वारा अत्यन्त सीमित कर दिया गया है।



चित्र ८६. स्थायी हवायें

२९९. व्यापारिक हवायें (Trade Winds)—अयनवृत्तीय उच्चभार से भूमध्यरेखिक न्यूनभार की ओर चलने वाली हवाओ को व्यापारिक हवायें कहते है। ये हवायें ३०° या ३५° अक्षांशों से लगभग १०° या ५° तक के बीच में मुख्यतः जलखण्डो मे चलती है। फैरल के नियमानुसार उत्तरी गोलार्द्ध में दायी ओर मुड जाने के कारण ये हवाये उत्तर-पूर्व मे चलती है। अतः उत्तरी गोलार्द्ध में इनको उत्तर-पूर्वी व्यापारिक हवाये कहते है। दक्षिणी गोलार्द्ध में ये हवायें दक्षिण-पूर्व से चलती है, अत इन्हे दक्षिण-पूर्वी व्यापारिक हवाये कहते है। क्योकि ये हवाये अयनरेखाओं के समीप से भूमध्यरेखा की ओर चलती है, इसलिए निरन्तर गरम होती जाती है। ऐसी अवस्था में ये भाप अधिक बना सकती है किन्तु वर्षा नही कर पाती। यही कारण है कि व्यापारिक हवाये सुखाने वाली हवाये समझी जाती है। अपेक्षाकृत कुछ ठण्डे भागों मे आने के कारण ये ठण्डी होती है और ऋतु को सुहावनी बना देती है। इनकी प्रवाह गति तीव्र नही होती। अधिकतर इनकी गति १० से १५ मील प्रति घण्टा होती है। इन हवाओ के मार्ग मे कोई ऊँचा पर्वत आ जाता है, तो इनसे पर्याप्त वर्षा भी हो जाती है। उदाहरण के लिए ब्रिटिश गायना मे इनके द्वारा पर्याप्त वर्षा होती है। ये हवाये स्थायी और निरन्तर चलती रहती है। प्राचीन काल में इनके द्वारा जहाजों और नावों को चलाने में बडा सुभीता रहता था। इसी कारण इनका नाम व्यापारिक हवाये रक्खा गया था। इसी नाम से ये हवायें आज भी प्रसिद्ध है।

३००. अयनरेखाओं के शान्त प्रदेश अथवा घोडे का अक्षांश (Horse Latitudes)—विषुवत् रेखा के समीप की वायु जब गरम होकर ऊपर पहुँचती है, तो ऊपर की सर्दी पाकर भारी हो जाती है और नीचे उतरना चाहती है। परन्तु नीचे से आने वाली हवा उसका मार्ग रोक देती है जिससे वह अयनरेखाओं के समीप नीचे उतरती है। इसीलिए भूमध्यरेखा के दोनों ओर लगभग ३०° और ४०° अक्षांशों के बीच उच्च वायुभार की शान्त पेटियाँ है। क्योकि इस प्रदेश मे हवायें ऊपर से धरातल पर उतरती है, अतः यहाँ मौसम शुष्क और आकाश साफ रहता है (चित्र ८८)। इस प्रकार उच्चभार की शान्त पेटियो का मौसम भूमध्यरेखा की शान्त पेटी के मौसम से बिलकुल उल्टा रहता है। भूमध्यरेखा की शान्त पेटी में हवायें नीचे धरातल से ऊपर की ओर जाती है, अतः मौसम आर्द्र और आकाश मेघाच्छन्न रहता है। इस पेटी को उपोष्ण उच्चभार की पेटी भी कहते है।

इस शान्त प्रदेश में वायुभार का ढाल बहुत ही धीमा रहता है, अतः जहाँ पर धरातल की हवायें या तो बिलकुल शान्त रहती है अथवा बहुत धीमी और अनिश्चित

रहती है। हवायें सभी दिशाओं मे चलती है। प्राचीन काल में इन शान्त प्रदेशो में मल्लाहो को अपनी नावें चलाने में कठिनाई आती थी। हवा के अभाव में भारी नावें आगे नही बढ पाती थी। फलतः, मल्लाह अपनी नावे हल्की करने के लिए अपने घोड़े समुद्र मे फेंक देते थे। इसीलिए इन प्रदेशो को घोडे का अक्षांश कहते है।

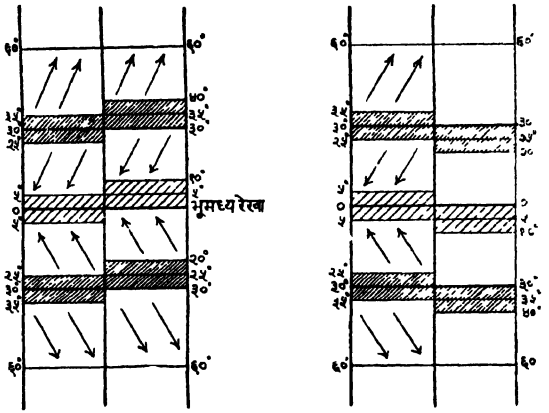
२०१. **पछवा हवाये** (Westerlies)—अयनरेखाओ के उच्चभार की पेटी से ध्रुववृत्तो की ओर चलने वाली हवाओं को पछवा हवाये कहते है। ये हवायें भूमध्यरेखा के दोनो ओर लगभग ३५° या ४०° अक्षांश मे ६०° या ६५° तक चलती है। फेरल के नियमानुसार इनकी प्रवाह-दिशा उत्तरी गोलार्द्ध मे दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व को तथा दक्षिणी गोलार्द्ध मे उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को होती है। ये हावयें अन्य स्थायी हवाओ के विपरीत गरम अक्षाशो से ठण्डे अक्षाशो की ओर चलती है अतः ठण्ड पाकर वर्षा करती है। महाद्वीपो के पश्चिमी तटवर्ती देशो मे जहाँ ये हवाये तट की ओर से पहुँचती है, साल भर वर्षा होती है। चक्रवात और प्रतिचक्रवात हवाओ के चलते रहने के कारण इन हवाओ के क्षेत्र मे बहुत अनियमित अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिससे इनकी गति में अन्तर पड़ जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध में ये हवायें अधिक निश्चित और अस्थायी रहती है। इसका कारण यह है कि दक्षिणी गोलार्द्ध मे इन हवाओ के वेग मे रुकावट डालने वाला स्थलखण्ड नही है। इनके प्रचण्ड वेग के कारण इन्हे दक्षिणी गोलार्द्ध मे गुजरने वाली चालीसा या वीर पछवा (Roaring Forties) कहते है। (चित्र ८९)

३०२. **ध्रुवीय हवाये** (Polar Winds)—ध्रुवो के उच्चभार से ठण्डी हवायें ध्रुववृत्तीय न्यूनभार (Sub-polar Lows) की ओर चलती है। जिस प्रदेश मे ये हवाये शीतोष्ण कटिबन्ध की हवाओं से मिलती है वहाँ पर चक्रवात और प्रतिचक्रवात उत्पन्न हो जाने की अवस्था स्थापित हो जाती है। इनसे उत्पन्न आँधियाँ जाड़े की ऋतु में दक्षिण की ओर बढने लगती हैं।

३०३. **स्थायी हवाओं की पेटियों का खिसकना** (Shifting of Wind Belts)—सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने के कारण वायुभार की पेटियाँ कुछ उत्तर या दक्षिण को खिसक जाती है। अत. स्थायी हवाओ के प्रवाहक्षेत्र की स्थिति में भी अन्तर पड़ जाता है। इन हवाओं के प्रवाह-क्षेत्र की स्थिति बदल जाने से बहुत से प्रदेश एक वर्ष में दो प्रकार की हवाओ के प्रभाव में आ जाते है। इन प्रदेशों में दो प्रदेशों की अवस्था विशेष उल्लेखनीय है—

(क) भूमध्यरेखा के दोनों ओर लगभग ५° से १५° अक्षांशों के बीच के भाग गरमी की ऋतु में डोलड्रम्स या भूमध्य-रेखिक शान्त खण्ड के प्रभाव में रहते हैं। परन्तु जाडे की ऋतु में व्यापारिक हवाओं के प्रभाव में चले जाते हैं।

(ख) भूमध्यरेखा के दोनों ओर लगभग ३०° से ४०° अक्षांशों के बीच के प्रदेश गरमी की ऋतु में अयनवृत्तीय



चित्र ९०. हवा की पेटियों का खिसकना

शान्त खण्डों और व्यापारिक हवाओं के प्रभाव में रहते हैं। परन्तु जाड़े की ऋतु में ये प्रदेश पछवा हवाओं के प्रभाव में चले जाते हैं।

(२) सामयिक हवायें (Seasonal Winds)

३०४. मानसून हवायें (Monsoons)—यदि समस्त धरातल पर जल ही जल होता, तो स्थायी हवायें निरन्तर एक ही प्रकार से वर्ष भर चलती रहती। परन्तु धरातल पर स्थल का भी बहुत बड़ा भाग है। स्थल और जल असमान रूप से गरम और ठण्डे होते हैं। ऋतुओं के अनुसार इनके वायुभार में बहुत अन्तर हो जाता है जिससे हवाओं की प्रवाह दिशा में अन्तर पड़ जाता है। जिन हवाओं की दिशा मौसम के अनुसार बदल जाती है, उन्हें मानसून या मौसमी हवायें कहते हैं। मौसमी हवाओं की उत्पत्ति केवल उन्ही प्रदेशों में सम्भव हो सकती है जहाँ अयन-रेखाओं के समीप एक ओर स्थल का बड़ा भाग और दूसरी ओर जल का बड़ा भाग विद्यमान हो। अयनरेखाओ के समीप में ही मौसमी हवाओं की उत्पत्ति का विशेष कारण यह है कि इसी भाग में ही तापक्रम की मात्रा और वायुभार में जल और स्थल पर-पर्याप्त अन्तर हो जाता है। अधिक अन्तर रहने के कारण ही मानसून हवाये इतनी शक्तिशाली हो जाती है कि व्यापारिक हवाओं का प्रभाव समाप्त हो जाता है। मानसून हवायें भारत, पूर्वी द्वीपसमूह चीन, हिन्दचीन, उत्तर-पूर्वी आस्ट्रेलिया, दक्षिण-पूर्वी संयुक्तराज्य और पूर्वी अफ्रीका में विशेष महत्त्वपूर्ण है।

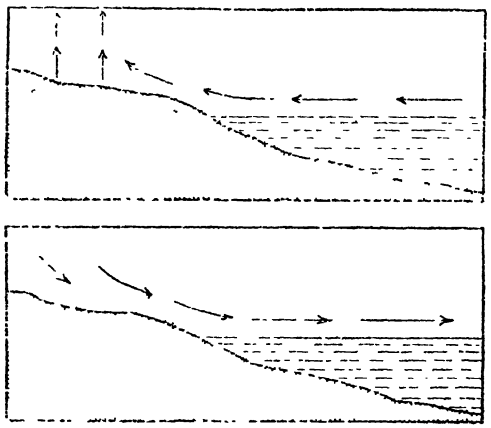
३०५. जाड़े का मानसून—मौसमी हवाओं को पूर्णतया समझने के लिए एशिया की परिस्थिति का ज्ञान आवश्यक है। जिन दिनों सूर्य मकर रेखा पर सीधा

चमकता है, उन दिनों एशिया महाद्वीप का विशाल मध्यभाग हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर की अपेक्षा अधिक ठण्डा हो जाता है जिससे यहाँ का वायुभार भी अधिक हो जाता है। ऐसी दशा में इस ऋतु में मध्य एशिया से महासागरो की ओर हवायें चलने लगती है। इन हवाओं को जाड़े का मानसून कहते है। इन हवाओ की दिशा उत्तरी चीन में उत्तर-पश्चिमी, मध्य चीन में उत्तर, और दक्षिण एशिया में उत्तर-पूर्वी होती है। क्योंकि ये हवायें स्थल से जल की ओर चलती है, इसलिए शुष्क और ठण्डी होती है। गोवी मरुस्थल को पार करने के कारण ये हवायें धूलकणों से लदी रहती है। इन तेज आँधियों के कारण मानसूनी देशों में जाड़े की ऋतु सूखी ही बीतती है। हिमालय पहाड़ के कारण मध्य एशिया की तेज और ठण्डी हवायें भारत में नही पहुँच पाती। इनकी एक शाखा उत्तर-पश्चिम से भारत में प्रवेश करती है। समुद्र के पास उत्तर-पूर्व से चलने लगती है। ये हवायें भूमध्यरेखा के न्यूनभार की ओर बढती है तथा वहाँ से आस्ट्रेलिया के न्यूनभार की ओर मुड़ जाती है। भूमध्यरेखा को पार करके ये उत्तर-पश्चिमी मानसून बन जाती है और आस्ट्रेलिया पर पर्याप्त वर्षा करती है।

३०६ गरमी का मानसून—गरमी की ऋतु में जिस समय सूर्य की प्रचण्ड किरणें कर्क रेखा पर सीधी पड़ती हैं उस समय मध्य एशिया तथा चीन और भारत के विशाल मैदान प्रचण्ड गरमी से तपने लगते हैं। अत्यन्त उत्तप्त हो जाने के कारण इनके ऊपर वायुभार बहुत कम हो जाता है। स्थल भागों की अपेक्षा आस-पास के समुद्रों का तापक्रम कम रहता है और वायुभार अधिक हो जाता है जिससे वायुभार का ढाल समुद्रों से स्थल की ओर रहता है। इस प्रकार जलखण्डों स्थल की ओर चलने वाली हवाओं को गरमी का मानसून कहते है। स्थल की गरम वायु ऊपर की ओर फैलती है और हल्की हो जाती है और भूमध्यरेखा को पार करके आने वाली हवा इस ओर चलने लगती है। क्योंकि इन हवाओं को समुद्र का लम्बा मार्ग पार करना पड़ता है, अतः ये भाप से लदी रहती है और भारी वर्षा करती है। समुद्रों पर इन हवाओं की दिशा दक्षिण-पश्चिम होती है, इसलिए इन्हें दक्षिण-पश्चिमी मानसून हवायें भी कहते है। परन्तु जब ये हवायें स्थल के भीतरी भागों में प्रवेश करती है, तो इनकी दिशा बदल जाती है। चीन में ये हवायें दक्षिण-पूर्व से चलती है।

पृथ्वी के अन्य भागो में दक्षिण-पूर्वी एशिया की तरह मौसमी हवायें नहीं चलती हैं। अन्य भागों में हवाओं की दिशा में इस प्रकार पूर्ण परिवर्तन नहीं हो पाता।

३०७. जल तथा स्थल-पवन (Land and Sea Breezes)—दिन और रात के समय वायुभार मे दैनिक परिवर्तन होते रहने से जल और स्थल-पवन चला करती है। दिन के समय समुद्र के समीप स्थल का भाग समुद्र की अपेक्षा अधिक गरम हो जाता है, अतः स्थल पर जल की अपेक्षा न्यूनभार स्थापित हो जाता है। इस अन्तर के कारण समुद्र की ओर से स्थल पर स्थानीय पवन चलने लगती है जिसे जल-पवन कहते है। जल-पवन दिन के लगभग १० बजे से सूर्यास्त काल तक चला करती है। इन पवनो का प्रभाव तट से लगभग २० मील के भीतर ही हुआ करता है। ये पवन ठण्डी और तर होती है, अत उष्ण कटिबन्ध में तट के उच्च तापक्रम को कम करने मे सहायक होती हैं। कभी कभी जल-पवन के चलने के पश्चात् १५-२० मिनट मे ही तापक्रम १५° से २०° अंश तक कम हो जाता है।



चित्र ६१ जल तथा स्थल-पवन

रात्रि के समय स्थल समुद्र की अपेक्षा जल्दी ठण्डा हो जाता है। अतः स्थल की वायु का दबाव जल पर के वायुभार से अधिक हो जाता है। ऐसी दशा मे स्थल से जल की ओर पवन चलती है, जिसे स्थल-पवन कहते है।

(३) स्थानीय हवायें (Local Winds)

३०८. पर्वत और घाटी पवन (Mountain and Valley Breezes)—जल और स्थल-पवन के समान ही पर्वतीय प्रदेशों में पर्वत और घाटी-पवन चलती है। दिन के समय पर्वत शिखर घाटियों की अपेक्षा अधिक गरम हो जाते है, अतः घाटी की ओर से शिखर की ओर पवन चलती है। रात्रि के समय परिस्थिति उलट जाती है।

३०९. अन्य स्थानीय हवाये (Other Local Winds)—पछवा हवायें राकी पर्वतों के पश्चिमी ढालों पर पानी बरसा कर पूर्व की ओर आगे बढ़ती है, तो पर्वतों से नीचे उतरने के कारण बहुत गरम हो जाती है। इन हवाओं के कारण प्रेरी मैदानों का तापक्रम इतना बढ़ जाता है कि वहाँ की बर्फ पिघल जाती है। इन हवाओं को

चिनूक हवायें कहते है। इसी प्रकार आल्प्स को पार करके उत्तर की ओर जाने वाली हवायें कही कहीं पर तापक्रम में ४०° से भी अधिक अन्तर कर देती है, इन हवाओ को यूरोप में फान हवायें कहते है। इस प्रकार की हवाये फ्रांस मे मिस्ट्रल, स्पेन में सोलानो, इटली में सिराको आदि नामो से प्रसिद्ध है। मिस्र की स्थानीय हवा खामसिन, अरब की सिमून तथा सूडान की हरमाटन कहलाती है।

हिमकणो की भयानक आँधियों को वर्फ की आँधियाँ (Blizzard) कहते है। वे आँधियाँ कनाडा, साइबेरिया आदि ठडे भागो मे चला करती है। जब कोई मनुष्य इन आँधियो में फँस जाता है तो उसको दिशा ज्ञान भी नहो रहता।

प्रश्न

1. Discuss the thermal and dynamic control of average pressure distribution over the earth's Surface (*Agra B.A 1949*)

2. Describe the 'Planetary winds' What other types of winds occur on the earth's surface and how do they arise ? (*U P Inter 1948*)

3. What are local winds ? Explain their mode of origin and describe the more important types. (*Banaras B A. 1948*)

4. Write short notes on :—

(*a*) Doldrums (*b*) Shifting of wind belts (*c*) Periodic winds.
(*d*) Barometric gradient (*e*) Foln winds (*f*) Westerlies.

बाईसवाँ अ-याय

वायुमण्डल की आर्द्रता और वर्षा

३१०. भाप का महत्त्व—वायुमण्डल मे जलवाष्प की मात्रा में पर्याप्त परिवर्तन होता रहता है। इसकी मात्रा शून्य से कुछ ही अधिक से लेकर अधिक से अधिक ४ या ५ प्रतिशत तक हो सकती है। जलवाष्प की मात्रा की न्यूनाधिकता मौसम की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी मात्रा के अनुसार ही ओस, कुहरा, बादल, वर्षा, ओले तथा वर्फ गिरती है। वर्षा के समान पेड़-पौधो तथा पशु-पक्षियों के जीवन को प्रभावित करने वाला मौसम का दूसरा कोई तत्त्व नही है। जीव तथा वनस्पति का विकास वर्षा पर निर्भर है। हम यह देख चुके है कि भाप धरातल से निकली हुई गरमी को सोखकर तापक्रम की विषमताओ को अधिक बढ़ने नहीं देती। भाप की अधिक मात्रा मानव-शरीर की गरमी को कम नही होने देती। इस प्रकार भाप मानव-जीवन को अत्यधिक प्रभावित करती है।

३११. जलवाष्प का स्रोत—धरातल पर सूर्य की गरमी से निरन्तर भाप बना करती है। धरातल के तीन चौथाई भाग पर फैले हुए महासागर भाप के अजस्र स्रोत है। महासागरों से वायुमण्डल यथाशक्य भाप प्राप्त कर सकता है। इनके अतिरिक्त झील, नदी-नद, तालाब, कुएँ आदि सभी प्रकार के जलाशयों का जल भाप के रूप में परिणित होकर वायुमण्डल में पहुँचता रहता है। हरे पेड़-पौधों का रस सूखकर वायुमण्डल में मिलता रहता है।

३१२. जलवाष्प में गुप्त (Latent) ताप शक्ति—हम पहले कह चुके हैं कि ताप कोई भौतिक पदार्थ नही है, किन्तु शक्ति का एक विशेष रूप है। जब कोई पदार्थ इस शक्ति को ग्रहण करता है, तो उसके परमाणु (Molecules) तेजी के साथ इधर-उधर हरकत करने लगते हैं। दूसरे शब्दो में पदार्थो के परमाणुओं की हरकत ही ताप है। ज्यों-ज्यों हम किसी पदार्थ की गरमी को खीचते हैं, त्यों-त्यों उस पदार्थ के परमाणुओं की हरकत भी मन्द पड़ती जाती है। यदि हम पानी को ठण्डा करें तो उसके परमाणुओं की हरकत मन्द हो जाती है, और वे एक-दूसरे से गुंथकर ठोस रूप में बन जाते हैं। परन्तु यदि पानी को गरम करें, तो पानी के परमाणुओं की हरकत बढ़ जाती है और वे अधिक फैलकर भाप के रूप में बदल जाते हैं। स्पष्ट है कि भाप में जल की अपेक्षा अधिक ताप-शक्ति विद्यमान रहती है। जल की अपेक्षा भाप में जितनी अधिक ताप विद्यमान रहती है उसे गुप्त ताप (Latent heat) कहते

है। यह गुप्त ताप भाप के ठण्डी होकर द्रव रूप में परिणित होने पर निकल जाती है और वायु उसे ग्रहण करके अधिक गरम हो जाती है। यही कारण है कि तूफान के बीच में जब कभी भाप ठण्डी होकर बादलों के रूप में बदल जाती है, तो भाप से निकली हुई गरमी से संवाहनधाराओं की गति बढ़ जाती है और तूफान भयंकर हो उठता है।

३१३. आर्द्रता या नमी (Humidity)—सूर्य की गरमी से जलाशयों का जल भाप के रूप में परिणित होकर वायु मे मिलता रहता है। यह भाप वायु में मिलकर उसे आर्द्र बनाती रहती है। वायु में भाप की मात्रा उसकी आर्द्रता कहलाती है। वायु की भाप को धारण करने की शक्ति उसके तापक्रम पर निर्भर होता है। वायु का तापक्रम जितना अधिक बढता है, उसमें उतनी अधिक भाप धारण करने की शक्ति होती है। एक घनफुट वायु में तापक्रम के अनुसार अधिक-से-अधिक निम्न मात्रा में भाप रह सकती है—

वायु का तापक्रम	भाप की मात्रा	तापक्रम में १०° फा० अंतर होने पर भाप धारण की शक्ति में अन्तर
३०° फा०	१·९ ग्रेन	...
४०° ,,	२.९ ,,	१·०
५०° ,,	४.१ ,,	१·२
६०° ,,	५·७ ,,	१·६
७०° ,,	८·० ,,	२·३
८०° ,,	१०·९ ,,	२·९
९०° ,,	१४·७ ,,	३·८
१००° ,,	१९·७ ,,	५·०

उपर्युक्त तालिका से विदित होता है कि ठण्डी हवा की अपेक्षा गरम हवा अधिक भाप रख सकती है और तापक्रम की वृद्धि के साथ-ही-साथ भाप धारण करने की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि होती जाती है। यदि ४०° फा० तापक्रम वाली हवा की गरमी १०° फा० बढकर ५०° फा० हो जाय, तो उस हवा के प्रति घनफुट में १·२ ग्रेन और मिला लेने की शक्ति बढ़ जायगी। परन्तु यदि ९०° फा० तापक्रम वाली हवा की गरमी को १०° बढ़ा दिया जाय, तो उसमें भाप ग्रहण करने की शक्ति प्रति घनफुट पर ५ ग्रेन बढ़ जायगी। स्पष्ट है कि गरम हवा में वर्षा करने की शक्ति भी धिक ही होगी। और गरमी बढ़ने की परिस्थिति में देश को शुष्क बनाने की शक्ति

भी अधिक ही होगी। यही कारण है कि शुष्क मरुस्थल उष्ण कटिबन्ध में ही अधिक पाये जाते हैं।

तापक्रम के अनुसार हवा में जितनी मात्रा में भाप रह सकती है उतनी यदि हवा में मौजूद हो, तो उस हवा को **सम्पृक्त** (Saturated) कहेंगे। सम्पृक्त हवा का तापक्रम जब तक नही बढेगा, तब तक वह और अधिक भाप ग्रहण नही कर सकेगी। तापक्रम एक समान और दबाव पर भाप हवा से हल्की होती है। भाप और हवा के भार में ५ और ८ का अनुपात बताया जाता है। यही कारण है कि **भाप से लदी हुई हवा सूखी हवा से हल्की होती है।** सम्पृक्त हवा में और अधिक भाप मिलते ही वह पानी के रूप में बरसने लगेगी।

३१४. प्रकेवल आर्द्रता (Absolute Humidity)—वायु में जलवाष्प जितनी मात्रा होती है उसे वायु की प्रकेवल आर्द्रता कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि १ घनफुट वायु में ४०° फा० तापक्रम पर २ ग्रेन भाप मौजूद है तो हम इसे वायु की प्रकेवल आर्द्रता कहेगे। सम्पृक्त होने के लिए उसे ६ ग्रेन भाप और चाहिए। तापक्रम के परिवर्तन से वायु की प्रकेवल आर्द्रता की मात्रा में कोई अन्तर नही पडता। वायु में अधिक भाप मिलने से अथवा भाप के किसी रूप में निकल जाने से ही इसकी मात्रा में अन्तर पडता है। धरातल के सभी भागों में जलवाष्प की मात्रा एक समान नहीं होती। जिन प्रदेशों में गरमी अधिक पडती है और जलाशय भी अधिक हैं उनमें जलवाष्प की मात्रा अधिक रहती है। इसी कारण भूमध्यरेखा के समीप आर्द्रता अधिक होती है और ध्रुवों के समीप कम रहती है। भाप की मात्रा प्रति घनफुट में ग्रेनों के अनुसार नापी जाती है।

३१५. सापेक्ष आर्द्रता (Relative Humidity)—हवा में किसी तापक्रम पर कुल जितनी जलवाष्प रह सकती है उसका जितना प्रतिशत भाप हवा में मौजूद होती है उसे हवा की सापेक्ष आर्द्रता कहते हैं। उदाहरण के लिए ७०° फा० तापक्रम पर एक घनफुट वायु में ८ ग्रेन जलवाष्प रह सकती है। मान लीजिए इस तापक्रम पर एक घनफुट वायु में ८ ग्रेन भाप मौजूद है, तो हवा की सापेक्ष आर्द्रता $\frac{४ \times १००}{८} = ५०$ प्रतिशत है। वायु के तापक्रम में परिवर्तन होते ही उसकी भाप धारण करने की शक्ति में भी अन्तर पडेगा और उसी के अनुसार सापेक्ष आर्द्रता में भी अन्तर पड़ता जायगा। मौसम के ज्ञान के लिए सापेक्ष आर्द्रता का जानना आवश्यक है। किसी स्थान की वायु में भाप की मात्रा अधिक हो, परन्तु सापेक्ष आर्द्रता कम हो तो वहाँ का जलवायु सूखा ही रहेगा। उदाहरण के लिए सहारा मरुस्थल में वायु में भाप की मात्रा पर्याप्त होती है, परन्तु ऊँचे तापक्रम के कारण वहाँ पर वायु की सापेक्ष

आर्द्रता लगभग १० प्रतिशत ही रह जाती है। सापेक्ष आर्द्रता से ही हम उस देश की वर्षा का हाल जान सकते हैं।

३१६. आर्द्रता की नाप—वायु की आर्द्रता नापने के लिए एक विशेष ढंग का यन्त्र काम में लाते है जिसको 'आर्द्र एवं शुष्क बल्ब वाला आर्द्रतामापक कहते हैं। इसमें दो थर्मामीटर लगे रहते हैं। एक थर्मामीटर की घुण्डी खुली हवा में रहती है और दूसरे थर्मामीटर की घुण्डी पर जल में भीगा हुआ बारीक मलमल का टुकड़ा लपेट देते हैं। कपडे का एक सिरा नीचे जल में डूबा रहता है। पानी इस कपड़े के सहारे ऊपर चढकर घुण्डी को हर समय तर रखता है। यदि हवा में आर्द्रता कम हुई तो घुण्डी का पानी भाप बनकर उठेगा और घुण्डी ठण्डी रह जायगी। फलतः, गीली घुण्डी वाले थर्मामीटर का तापक्रम खुली हवा में घुण्डी वाले थर्मामीटर के तापक्रम से कम होगा। इस अन्तर को मालूम करके एक विशेष प्रकार से तैयार किये हुए चार्ट की सहायता से वायु की आर्द्रता जानी जाती है तथा इसी की सहायता से सापेक्ष आर्द्रता ज्ञात की जाती है (इसकी पूरी विधि जानने के लिए लेखक की "मानचित्र प्रवेशिका" के पृष्ठ ९६-९७ देखिए)। स्पष्ट है कि समुद्रों के समीप वायु में नमी अधिक रहती है और महाद्वीपों के भीतरी भागो मे कम रहती है।

३१७. वाष्पीभवन और घनीभवन की क्रियायें (Evaporation and Condensation)—वायु की नमी (आर्द्रता) वायु के तापक्रम अथवा भार में परिवर्तन होने के कारण निरन्तर बदलती रहती है। नमी के घटने-बढने के लिए यह आवश्यक है कि जलवाष्प का रूप (१) पानी से भाप रूप में (२) भाप से पानी रूप में बदलता रहे। जल के रूप को बदलने वाली इन क्रियायों को वाष्पीभवन और घनीभवन या सघनन कहते हैं। वर्षा के विभिन्न रूपो को हृदयगम करने के लिए हमे इन दोनों क्रियायों को भली भाँति समझ लेना चाहिए।

३१८. उद्वाष्पन या वाष्पीभवन (Evaporation)—इस क्रिया मे पानी भाप रूप में बदलता है। इसके लिए उष्णता की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए एक सेर पानी को उबालने के लिए जितना ईंधन लगेगा उससे पाँच गुना ईंधन उस पानी को भाप बनाने में खर्च होगा। परन्तु तापक्रम नापने पर जितनी उष्णता उबले जल में रहती है उतनी ही उष्णता पानी के भाप बनकर उड़ जाने तक बनी रहती है। तब यह पाँच गुनी उष्णता कहाँ जाती है ? यह पाँच गुनी उष्णता भाप में विद्यमान रहती है जिसे हम देख नही सकते। अतः इस उष्णता को **गुप्त ताप** (Latent Heat) कहते हैं। इस गुप्त उष्णता को पुनः उत्पन्न किया जा सकता है। यदि हम किसी बर्तन मे अत्यन्त ठण्डा पानी भरकर उसमें थोड़ी सी भाप छोड़ दे, तो पानी का

तापक्रम बढ़ने लगेगा तथा पानी की मात्रा भी बढ़ जायगी। निश्चित है कि भाप ने जल के रूप में बदलकर जो ताप छोड़ी उसी से पानी का तापक्रम बढ़ गया। स्मरण रहे कि पदार्थ और शक्ति दोनों ही अविनाशी है। हाँ, उनका रूपान्तर अवश्य हो जाता है। उदाहरण के लिए पेड़-पौधे वातावरण की उष्णता ग्रहण करके उसे लकड़ी के रूप में संग्रह करते रहते हैं। इसी लकड़ी को जला कर हम पुनः उष्णता प्राप्त कर लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वाष्पीभवन क्रिया द्वारा वायु वातावरण की उष्णता को सोख लेती है। इसीलिए वाष्पीभवन द्वारा वायु की गुप्त ताप बढ जाती है।

३१९. संघनन या घनीभवन (Condensation)—उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा भाप पानी के रूप में बदल जाय। जब तक हवा गरम रहती है, तब तक वह भाप को वायव्य रूप मे अपने मे मिलाए रहती है। परन्तु जब वह ठण्डी होती है, तो भाप सघन होकर जल के रूप मे प्रकट हो जाती है। सघन होकर भाप पानी की छोटी-छोटी बूंदो के रूप में या हिम रूप में परिवर्तित होती है। वाष्प के ये अत्यन्त सूक्ष्म जलसीकर या हिमसीकर वायु मे ही टिके रहते है, तो धुन्ध या बादल का रूप धारण कर लेते है। परन्तु यदि बूंदो का रूप बड़ा हो जाता है तो वर्षा आदि के रूप में धरातल पर गिर जाती हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि हवा में जलवाष्प को अदृश्य रूप में ग्रहण करने का गुण है। परन्तु परिमित तापक्रम वाली हवा मे परिमित सीमा में ही भाप ग्रहण करने की शक्ति होती है। इस सीमा तक भाप ग्रहण कर लेने पर वायु सम्पृक्त हो जाती है तथा उसमें और अधिक भाप समाने की गुञ्जाइश नही रहती। इस सीमा से अधिक भाप प्राप्त होते ही वह सघन होकर जलसीकरो या हिमकणो का रूप ग्रहण कर प्रकट हो जायगी। इस प्रकार संपृक्त हवा मे अधिक भाप मिलते ही घनीभवन या सघनन (Condensation) की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

३२०. संघनन की दूसरी विधि—एक अन्य प्रकार से भी जलवाष्प सघन होकर प्रकट हो जाती है। मान लीजिए कि एक विशेष तापक्रम वाली हवा में भाप इतनी कम है कि उसको पानी या हिमकण के रूप में बदलने के लिए हवा में बहुत ज़्यादा भाप मिलानी पड़ेगी। परन्तु भाप के अभाव में यदि वायु का तापक्रम घटाया जाय और घटते-घटते तापक्रम इतना कम हो जाय कि हवा में वर्तमान भाप से अधिक भाप ग्रहण करने की शक्ति शेष न रह जाय, तो थोड़ा सा तापक्रम और गिरते ही भाप सघन होकर जल या हिम रूप में प्रकट होने लगेगी। वायु का तापक्रम गिरते गिरते जब इतना कम हो जाता है कि वायु की और अधिक भाप ग्रहण करने की शक्ति समाप्त हो जाती है अथवा दूसरे शब्दों में तापक्रम के घटने से वायु सम्पृक्त अवस्था

में पहुँच जाती है, तो वायु के उस तापक्रम को **ओसबिन्दु** (Dew-point) कहा जाता है। स्पष्ट है कि ओसबिन्दु का वायु की सापेक्ष आर्द्रता से घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि वायु मे सापेक्ष आर्द्रता (Relative Humidity) अधिक होगी, तो वायु थोडी ठण्डी होने पर ही ओसबिन्दु पर पहुँच जायगी। परन्तु यदि हवा मे सापेक्ष आर्द्रता कम होगी तो ओसबिन्दु तक पहुँचने के लिए हवा का तापक्रम बहुत घटाना पडेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि भाप के सघन होने के लिए दो बातो की आवश्यकता है— (अ) हवा का तापक्रम गिरना या हवा का ठण्डा होना तथा (ब) हवा की सापेक्ष आर्द्रता का परिमाण। यही कारण है कि शुष्क प्रदेशो में हवा के तापक्रम को ओसबिन्दु तक पहुँचने के लिए अर्थात् भाप को सघन होकर प्रकट होने के लिए हवा को पर्याप्त ठण्डा होना पडता है। यदि हवा ओसबिन्दु पर ३२° फा० से ऊँचे तापक्रम पर ही पहुँच जाती है, तो भाप सघन होकर जलबिन्दुओं के रूप मे प्रकट होती है। परन्तु यदि ओसबिन्दु तक पहुँचते-पहुँचते हवा का तापक्रम ३२° फा० से नीचे गिर जाता है, तो भाप सघन होकर हिमसीकरो के रूप प्रकट होती है।

३२१. संघनन की तीन परिस्थियाँ—भाप के सघन होने योग्य तापक्रम तब हवा के ठण्डे होने के लिए तीन प्रकार की परिस्थियो में किसी एक की आवश्यकता होती है—

(क) शान्त हवा का शीतल वस्तुओं के सम्पर्क में आना।

(ख) आर्द्र हवा का ठण्डी वस्तुओं को स्पर्श करते हुए बहना।

(ग) हवा का ऊपर उठते हुए फैलना।

(क) शान्त हवा का शीतल वस्तुओं के सम्पर्क में आना—दिन के समय विकिरण (Radiation) द्वारा सूर्य से जो उष्णता धरातल को प्राप्त होती है वह रात्रि को परावर्तित हो जाती है। जब कभी उष्णता इतनी अधिक घट जाती है कि ठण्डे पदार्थो का संसर्ग पाकर हवा का तापक्रम ओसबिन्दु पर पहुँच जाता है, तो हवा में विद्यमान भाप ओस, पाला आदि के रूप में परिणित हो जाती है। ओस, पाला आदि गिरने के लिए कई बातो का आवश्यकता होती है। प्रथम तो आकाश स्वच्छ हो और हवा सूखी हो। स्वच्छ आकाश और सूखी हवा दिन में प्राप्त की हुई सूर्यताप को शीघ्रतापूर्वक परावर्तित करने में सहायक होते है। पहले बताया जा चुका है कि धरातल की उष्णता को रोकने में बादलों तथा आर्द्रहवा का बहुत बडा हाथ रहता है। दूसरे यह भी आवश्यक है कि हवा शान्त हो अन्यथा हवा का कोई भी भाग अधिक समय तक शीनल वस्तुओं के सम्पर्क में नहीं रहेगा और अधिक ठण्डा हुए बिना सूखी हवा की भाप जल रूप में सघन न हो सकेगी। स्मरण रहे कि वायु में जलवाष्प

न्यूनाधिक परिमाण मे हमेशा विद्यमान रहती है और यही भाप ओस आदि की उत्पत्ति का कारण है।

आपने देखा होगा कि ओस प्राय जाड़े की ऋतु मे गिरती है। इसका विशेष कारण यह है कि गरमी की ऋतु मे रात्रि की अपेक्षा दिन बडा होना है और इस ऋतु में गरमी भी अधिक पडती है। अतः दिन भर मे जो गरमी प्राप्त होती है वह रात भर मे परावर्तित नही हो पाती। परिणामस्वरूप गरमी बढती जाती है और हवा में अधिक भाप मिलाये बिना ऐसी अवस्था नही आ पाती कि हवा का तापक्रम ओसबिन्दु तक पहुँच जाय। यही कारण है कि गरमी की ऋतु मे ओस नही पडती। इसके विपरीत जाडे की ऋतु मे दिन की अपेक्षा रात बडी होती है। दिन भर मे सूर्य से जो उष्णता प्राप्त होती है उसे लम्बी रात्रि मे परावर्तित होने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। इसी कारण रात के समय जो वस्तुएँ बहुत ठण्डी हो जाती है उनके सम्पर्क में आने वाली हवा का तापक्रम गिरते-गिरते ओसबिन्दु से कम हो जाता है और ओस गिरने लगती है। कुछ विद्वानो का मत है कि वृक्ष अपनी लम्बी जडो की सहायता से पृथ्वी के भीतर से तरी खीच लेते है। यह तरी हवा की गरमी से भाप रूप मे बदल जाती है और घास व पेड-पौधो पर शीतलता उत्पन्न हो जाती है। हवा जब इन ठण्डी वस्तुओ के संसर्ग मे आती है, तो भाप को ओस की बूंदो के रूप मे छोड़ देती है। ध्यान रहे कि यदि ओसबिन्दु ३२° फा० से ऊँचे तापक्रम पर पहुँचता है, तो भाप जलबिन्दुओं के रूप मे जमती है जिसे हम ओस कहते है। परन्तु यदि ओसबिन्दु ३२° फा० से नीचे के तापक्रम पर होता है, तो भाप हिमकणो के रूप मे जमती है जिसे पाला (Hoar-frost) कहते है।

(ख) आर्द्र हवा का ठण्डी वस्तुओं को स्पर्श करते हुए बहना—यदि आर्द्र हवा ठण्डे जल, ठण्डी धारा या हिममण्डित भूभाग के ऊपर होकर बहती है, तो जल्दी ठण्डी हो जाती है और भाप जलबिन्दुओं के रूप मे परिणित हो जाती है। ये जलसीकर अत्यन्त छोटे होने के कारण हवा में बने रहते है जिससे वातावरण मे धुआँ सा प्रतीत होने लगता है। इसे कुहरा (Fog) कहते है। यदि गरम और आर्द्र हवा पर्वत-शिखर पर होकर बहती है तो ठडी बर्फ के ससर्ग मे वहाँ कुहरा उत्पन्न हो जाया करता है। न्यू फाउण्डलैण्ड के समीप जब गल्फस्ट्रीम पर बहने वाली गरम तथा आर्द्र हवा लेब्रेडोर की ठण्डी धारा के सम्पर्क मे आती है तो वहाँ कुहरा छा जाता है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी कुहरा सा उत्पन्न हो जाया करता है।

(ग) हवा का ऊपर उठकर फैलना—पृथ्वी के धरातल के पास की हवा पर वायुमण्डल का भार अधिक रहता है, अतः वहाँ की हवा घनी रहती है। परन्तु भूतल

से ज्यों-ज्यों ऊँचे चढते जाते हैं, त्यों-त्यो वायुमण्डल का भार भी कम होता जाता है जिससे ऊपर की हवा भी अधिकाधिक हल्की होती जाती है। हवा के हल्के हो जाने से उसकी ताप या उष्णता को रोके रखने की शक्ति नष्ट हो जाती है। प्रयोगो द्वारा ज्ञात हुआ है कि प्रति ३३° फुट की ऊँचाई पर १° फा० तापक्रम घट जाता है। यही कारण है कि जब कभी किसी भी कारणवश हवा को ऊपर की ओर जाना पडता है तो वह फैलकर हल्की होती है और उसी के परिणामस्वरूप ठण्डी होती है। इसके विपरीत जब हवा को ऊपर से नीचे की ओर आना पडता है, तो वह अधिकाधिक घनी और भारी होती जाती है और उसमे गरमी भी बढ़ती जाती है। हवा के ठण्डे होने से संघनन और गरम होने से वाष्पीभवन की क्रिया मे मदद मिलती है।

३२२. कुहरा और धुन्ध—भाप के सघन होने पर जल अथवा हिम के सूक्ष्मकण वायु मे अवलम्बित रहकर धुन्ध या कुहरे का रूप धारण करते है। परन्तु यदि भाप के सघनन की क्रिया अधिक विस्तार और गहराई के कारण होती है, तो उनको बादल कहते है। हमें याद रखना चाहिए कि जलबिन्दु या हिमकण हवा मे विद्यमान धूलकणो के ऊपर स्थित होते है। यदि हवा मे धूल के कण न हो, तो न ओस गिरे, न बादल बने और न वर्षा होने की नौबत आये।

३२३. बादल—जब हवा का तापक्रम ओसबिन्दु (Dew-point) से नीचे गिर जाता है, तो भाप धूल अथवा धुएं के कणो को केन्द्रित करके जल के सूक्ष्मकणो के रूप मे परिणित होने लगती है और घनीभवन (सघनन) की क्रिया के विस्तार से बादल बन जाते है। जब आकाश मे एक ही तल पर स्थित जल की नन्ही-नन्ही बूँदो पर सूर्य की किरणे पड़ती है, तो प्रत्येक नन्ही बूँद एक त्रिपार्श्व काँच (Triangular Prism) के समान सूर्य किरण को सात रगों में विभाजित कर देती है। इस प्रकार हमें आकाश मे इन्द्र धनुष की छटा दिखाई पडती है। हम पहले कह चुके है कि बादल भूतल से कुछ ऊँचाई पर बनते है। अत धरातल से अनेक रूपो में दिखाई पड़ते है। इनकी ऊँचाई-निचाई या विस्तार मे अन्तर होने से, प्रकाश सीधे अथवा आडे-तिरछे पड़ने या न पडने से तथा धूलकणो और जलसीकरो की मात्रा के भेद से इनके अनेक रूप दिखाई पड़ते है। सामान्यतः इनको चार प्रमुख भागों में बाँटा जाता है—

(क) अलका मेघ (Cirrus)—ये बादल आकाश में सबसे अधिक ऊँचाई पर होते है इसीलिए इनको अलका मेघ कहते है। ध्यान रहे कि अलकापुरी इन्द्र की नगरी है। इनकी ऊँचाई ५ मील से ९ मील तक होती है। ऊँचाई के कारण इनका तापक्रम हिमांक से कम होता है और ये नन्हें हिमकणों से बने होते है। इन पर प्रकाश

पडने से बडे विचित्र रूप दिखाई देते हैं। प्राय ये घुँघराले बालों या झिल्ली जैसे दिखाई देते हैं। इनके कारण वर्षा नहीं होती, परन्तु कभी-कभी इनके बाद शीतोष्ण कटिबन्ध में झंझावृष्टि होती है।

(ख) **पुंज मेघ** (Cumulus)—अलका मेघों से कुछ ही नीचे पुंज मेघमाला के सुन्दर रूप बनते है। इनकी आकृति रूई के ढेर जैसी होती है जिसका तला फैला हुआ होता है और ऊपर की ओर छोटा होता जाता है। इनका निर्माण वायु की वाहनिक धाराओं के कारण होता है। इनके बीच-बीच मे नीचे आकाश का खुला हुआ भाग बडा सुन्दर दिखाई देता है। इन बादलो में गड़गडाहट अधिक होती है।

(ग) **परतीले मेघ** (Stratus)—ये बादल धरती से अधिक-से-अधिक एक या दो मील की ऊँचाई पर बनते हैं। परन्तु आकाश पर पूरी तरह छा जाते हैं। इनकी आकृति सर्वत्र एक-सी रहती है। ये बादल शीतोष्ण कटिबन्ध मे प्राय. जाडे की ऋतु में अधिक बनते हैं क्योंकि इनका निर्माण दो भिन्न-भिन्न प्रकार की हवाओं के मिलने से होता है।

(घ) **जलद मेघ** (Nimbus)—काले-काले बादलो की मेघमाला धरती से एक मील की ऊँचाई पर बनती है। ये कुंज रूप से छाए हुए बादल बडी जल्दी वर्षा करते हैं। घने होने के कारण सूर्य की किरणें इनमें होकर प्रवेश नहीं कर पाती।

३२४. **मेघों का अन्तर्राष्ट्रीय वर्गीयकरण**—अन्तर्राष्ट्रीय घनवातिकी कॉंग्रेस ने मेघों को दस भागों मे बाँटा है—(१) अलका मेघ, (२) अलका-स्तार मेघ, (३) अलका-पुंज मेघ, (४) उच्च-पुंज मेघ, (५) उच्च-स्तार मेघ, (६) स्तार-पुंज मेघ, (७) पुंज मेघ, (८) पुंज-जलद मेघ, (९) जलद मेघ और (१०) स्तार मेघ।

(क) **ऊँचे बादल**—इनकी ऊँचाई ७ से १२ किलोमीटर तक (४½—७½ मील) होती है।

अलका मेघ (Cirrus)—सबसे ऊँचे बादल हैं। नन्हें हिमकणों से बने हल्के बादल आकाश में झिल्ली-जैसे या पंखों-जैसे फैले होते है। इन बादलों के छाने पर यह समझना चाहिए कि चक्रवात या साइक्लोन आने वाला है। नकशे में इनका चिन्ह 7 होता है।

अलका-स्तार मेघ (Cirro-Stratus)—इनका पतला सा सफेद परत आकाश में छा जाता है। इनका चिन्ह ≥ है।

अलका-पुंज मेघ (Cirro-Cumulus)—नन्हें हिमकणों से बने छोटे-छोटे गोले-से होते हैं। इनकी छाया नहीं पड़ती। इनके आने पर समझना चाहिए कि मौसम सुहावना होगा। नकशे में इनका चिन्ह ∽ होता है।

(ख) **मध्यम ऊँचाई के बादल** —ऊँचाई ३ से ७ किलोमीटर तक (२ से ४ मील तक)।



१ अलका मेघ — Cirrus

२. अलका-स्तार मेघ — Cirro-Stratus

३. अलका-पुज मेघ — Cirro-Cumulus

४. उच्च-पुंज मेघ — Alto-Cumulus

५. उच्च-स्तार मेघ — Alto-Stratus

६. स्तार-पुज मेघ — Strato-Cumulus

७. पुंज मेघ — Cumulus

८. पुंज जलद मेघ — Cumulo-Nimbus

९. जलद मेघ — Nimbus

१०. स्तार मेघ — Stratus

चित्र ९२.

उच्च-पुंज मेघ (Alto-Cumulus)—सफेद या मटमैले रंग के ये बादल केन्द्र में गोले की तरह गुम्फित रहते हैं किन्तु किनारों की तरफ फटे-फटे से रहते हैं। इनका चिन्ह ω है।

उच्च-स्तार मेघ (Alto-Stratus)—नीलिमामिश्रित मटमैले रँग के घने बादल होते हैं। इनका चिन्ह < है।

(ग) नीचे बादल—ऊँचाई २½ मील तक।

स्तार-पुंज मेघ (Strato-Cumulus —काले-काले रूई के ढेर-जैसे बादल प्रायः आकाश को घेर लिया करते हैं। इनका चिन्ह ℧ है। ये शीतोष्ण कटिबन्ध में प्रायः जाड़े की ऋतु मे अधिक बनते है।

जलद-स्तार मेघ (Nimbo-Stratus)—ये काले-काले बादल कुंज की तरह आकाश में छा जाते है। इन्हे वर्षा वाले बादल कहा जाता है। घने होने के कारण सूर्य की किरणें इनमे होकर प्रवेश नही कर पाती। इनका चिन्ह λ है।

स्तार-मेघ (Stratus)—ये नीचे घने बादल परतो के रूप में छा जाते हैं। ये संघनन की क्रिया (Condensation) से बनते है अतः प्रातःकाल और संध्या के समय दिखाई देते है। इन बादलों को देखकर सुहावने मौसम का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। हवा ऐसे समय शान्त रहती है। कभी-कभी ये बादल आकाश को पूर्णतया घेर लेते है और हवा चलने पर ही फटते हे। इनका चिन्ह — है।

(घ) अधिक फैलाव वाले बादल—इनका विस्तार १६०० फुट से लेकर ६ या ७ मील की ऊँचाई तक होता है।

पुंज मेघ (Cumulus)—रूई की ढेर की तरह फैला हुआ तला और ऊपर की तरफ छोटा होता जाता है। इनका निर्माण वाहनिक हवाओं से होता है। इनमें गड़गड़ाहट अधिक होती है। इनका चिन्ह ∩ है।

पुंज-जलद मेघ (Cumulo-Nimbus)—घोर गर्जना करने वाले काले-काले पर्वताकार बादल मूसलाधार वर्षा करते हैं। इनका चिन्ह ⋀ है।

वृष्टि (Precipitation)

किसी क्षेत्र पर वायुमण्डल से गिरने वाली समस्त जलराशि को वृष्टि कहा जाता है। इसके तीन मुख्य रूप हैं—जलवृष्टि, (२) हिमवृष्टि, तथा (३) ओले गिरना।

३२५. वर्षा (Rainfall)—हवा में मिली हुई भाप जब जल की बूंदो के रूप में या तुषार-कणों के रूप में भूतल पर बरसती है तो उसे वर्षा कहते हैं। वर्षा होने के लिए दो बातों की आवश्यकता है। एक तो वायु में पर्याप्त आर्द्रता होना तथा दूसरे वायु का किसी-न-किसी प्रकार ठण्डा होना। हवा में थोड़ी या बहुत भाप हमेशा रहती है। इसके अतिरिक्त नदी-नाले आदि जलाशयों से भाप बनकर हवा में मिलती रहती है। यह भाप जल बरसाने में बहुत सहायता पहुँचाती है। हवा चार प्रकार से ठण्डी हो सकती है—

(क) धरातल की गरमी से वायु गरम होकर ऊपर की ओर फैलती और ऊपर पहुँचकर ठण्डी हो जाती है। भूमध्यरेखा के आस-पास इसी प्रकार ठण्डी होती है।

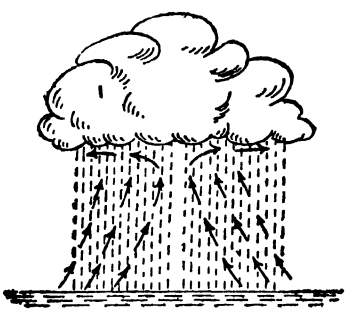
(ख) हवा के मार्ग में किसी पर्वत के आ जाने से उसे बाध्य होकर ऊपर उठना पड़ता है और ऊपर जाकर ठण्डी हो जाती है। पश्चिमी घाट पर इसी प्रकार ठण्डी होती है।

(ग) गरम अक्षांशों से ठण्डे अक्षांशों की ओर चलने से हवा ठण्डी होती है। पछवा हवा इसी प्रकार ठण्डी होती है।

(घ) गरम हवा और ठण्डी हवा के मिलने पर हल्की होने के कारण गरम हवा को ऊपर चढना पड़ता है और ऊपर जाने पर हवा ठण्डी हो जाती है। चक्रवात हवाओं (Cyclones) में इस प्रकार हवा ठण्डी हुआ करती है।

३२६. **वर्षा के भेद**—वर्षा के तीन मुख्य भेद हैं—(क) वाहनिक; (ख) पार्वत्य; और (ग) चक्रवातीय।

(क) **वाहनिक वर्षा** (Convectional Rain)—गरम हवा हल्की होने के कारण स्वभावतः ऊपर की ओर फैलती है। ऊँचे पहुँचने पर हवा का तापक्रम कुछ कम हो जाता है और उसकी भाप ठण्डी होकर बरस पड़ती है। भूमध्यरेखा के आस-पास सभी ऋतुओं मे काफी गरमी पड़ती है, अतः भूमि के सम्पर्क में आकर वायु गरम होकर ऊपर को फैलती है। पास के भागो की ठण्डी हवा इस हवा को ऊपर ठेल देती है। यह भारी और ठण्डी हवा भी धरातल से गरमी पाकर ऊपर को जाती है। जब तक यह वायु अपने समान घनत्व वाली वायु तक नही पहुँचती, तब तक ऊपर की ओर चढ़ती चली जाती है। इसीलिए जिन दिनो भीषण गरमी पड़ती है, उन दिनो गरम वायु को बहुत ऊँचा चढ़ना पड़ता है और बादल ऊँचाई तक फैल जाते हैं। काँगो और अमेजन नदियों के बेसिन में तथा पूर्वी द्वीपसमूह (इण्डोनेशिया) में इसी प्रकार की वर्षा होती है।

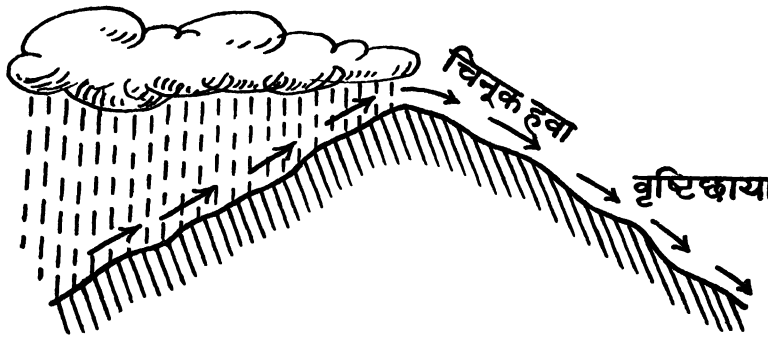


चित्र ९३ वाहनिक वर्षा

ग्रीष्म ऋतु में उत्तरी गोलार्द्ध में स्थित महाद्वीपों के भीतरी भाग का तापक्रम बढ़ जाता है, अतः वहाँ की हवा गरम होकर ऊपर को उठती है और वर्षा हो जाती है। हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि उत्तरी महाद्वीपों के मध्य भाग में वाहनिक वर्षा (Convectional) होती है।

वाहनिक वर्षा हमेशा साल के गरम भाग में और दिन में दोपहर के बाद शुरू होती है। यह वर्षा मूसलाधार होती है और जल्दी ही समाप्त हो जाती है। अधिक वर्षा वाले भूमध्यरेखिक भागों मे इस वर्षा के कारण भूमि की कटान सम्बन्धी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(ख) पार्वत्य वर्षा (Relief Rain)—भाप से लदी हुई हवाओं के मार्ग में जब कोई पर्वत आ जाता है तो उनको ऊपर की ओर चढ़ना पड़ता है। ऊपर चढने पर वह फैल जाती है और ठण्डी होकर वर्षा कर देती है। इस प्रकार की वर्षा को पार्वत्य वर्षा कहते हैं। ऐसी वर्षा पर्वतों के पवनाभिमुख भाग (Windward side)



चित्र ९४. पार्वत्य वर्षा

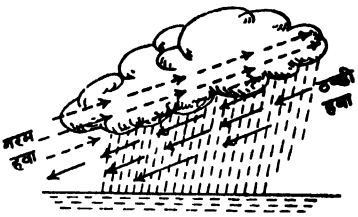
पर ही होती है। जब हवाये पर्वतो के दूसरी ओर पहुँचती हैं, तो उनको नीचे उतरना पड़ता है। फलतः, पर्वतों के इस भाग मे हवाये अधिक दबाव से गरम हो जाती हैं और वर्षा करने के स्थान पर उनकी भाप धारण करने की शक्ति बढ़ जाती है। पर्वतों के इस शुष्क भाग को पवनविमुख भाग (Leeward side) कहते हैं। पर्वत के पवनविमुख भाग के समीप का सारा प्रदेश, जो बिना वर्षा के रह जाता है, वृष्टिछाया का भाग (Rain Shadow Area) कहलाता है। तिब्बत इसी प्रकार के 'वृष्टिछाया' भाग में स्थित है।

पश्चिमी घाट के पश्चिमी ढालो पर तथा हिमालय के दक्षिणी ढालों पर इसी प्रकार की वर्षा होती है।

(ग) चक्रवातीय वर्षा (Cyclonic Rain)—जिन देशों में चक्रवात अथवा न्यूनभार वाले तूफ़ान चलते हैं वहाँ विभिन्न दिशाओं से हवायें केन्द्र की ओर आती हैं और इसी कारण उनके तापक्रम और घनत्व में बहुत अन्तर होता है। तूफ़ान के भीतरी भाग में विभिन्न तापक्रम की हवायें मिलती हैं और ठण्डी हवायें गरम हवाओं

को ऊपर की ओर ठेल देती है। ऊपर की ओर पहुँचकर हवायें ठण्डी हो जाती हैं और वर्षा कर देती है। इस वर्षा को चक्रवातीय वर्षा कहते है।

इस प्रकार की वर्षा फुहारों के रूप में होती है क्योंकि गरम हवा भूमध्यरेखिक वायुधाराओं की तरह एकदम ऊपर की ओर नही चढती, किन्तु धीरे-धीरे और कुछ टेढ़ी होकर ऊपर की ओर गिरती है। इस प्रकार की वर्षा पछवा हवाओं की पेटियों में जाड़े की ऋतु में सबसे अधिक होती है।



चित्र ९५. चक्रवातीय वर्षा

उत्तर-पश्चिमी भारत में भी शीतकाल में चक्रवातीय वर्षा होती है।

३२७. वर्षा का सामान्य वितरण—सामान्य रीति से वर्षा का वितरण निम्न प्रकार से होता है—

(१) भूमध्यरेखा के समीप संवाहन के कारण वायु सदा ऊपर को उठती है। ऊपर उठने वाली वायु ठण्डी होती है और पानी बरसाती है। अतएव इस क्षेत्र में वर्षा अधिक होती है।

(२) ३० अक्षांशों के समीप वायु ऊपर से नीचे की तरफ उतरती है। नीचे उतरने वाली वायु गरम होने लगती है और शुष्कता उत्पन्न करती है। इसीलिए इस क्षेत्र मे वर्षा का अभाव रहता है।

(३) शीतोष्ण कटिबन्ध में ध्रुवीय ठण्डी हवा और उष्ण देशों की गरम हवा दोनों मिलती है जिससे चक्रवातीय वर्षा होती है।

(४) ध्रुवीय प्रदेशों में अत्यधिक ठण्ड रहने के कारण जल नहीं बरसता। यहाँ पर केवल हिमवर्षा हुआ करती है।

३२८. हिमपात (Snowfall)—जब भाप के सघन होते समय हवा का तापक्रम ३२° फा० अथवा उससे कम हो जाता है तो भाप हिमकणों के रूप में प्रकट होती है। ऊँचे अक्षांशों और ऊँचे पर्वतों पर हवा में आर्द्रता कम रहती है। अतः ओसबिन्दु तक पहुँचने के लिए तापक्रम का बहुत कम होना जरूरी है। परन्तु भारी हिमपात होने के लिए हवा में पर्याप्त नमी भी होना आवश्यक है तथा हवा का तापक्रम भी कम होना चाहिए। ऐसी अवस्था ऊँचे पर्वतों पर पाई जाती है। अतः वहाँ हिमपात अधिक होता है। धरातल पर हिमपात होने के लिए यह आवश्यक है कि वायु के निचले भाग का तापक्रम भी ३२° फा० के आस-पास हो अन्यथा हिमपात के समय हिमकण मार्ग में ही पिघलकर जलसीकरों के रूप में बदल जायेंगे। ऐसी स्थिति

ध्रुवीय देशों में तथा जाड़े की ऋतु में शीतोष्ण कटिबन्ध के भीतरी भागों में होती है। अतः इन देशों में भी हिमपात अधिक होता है।

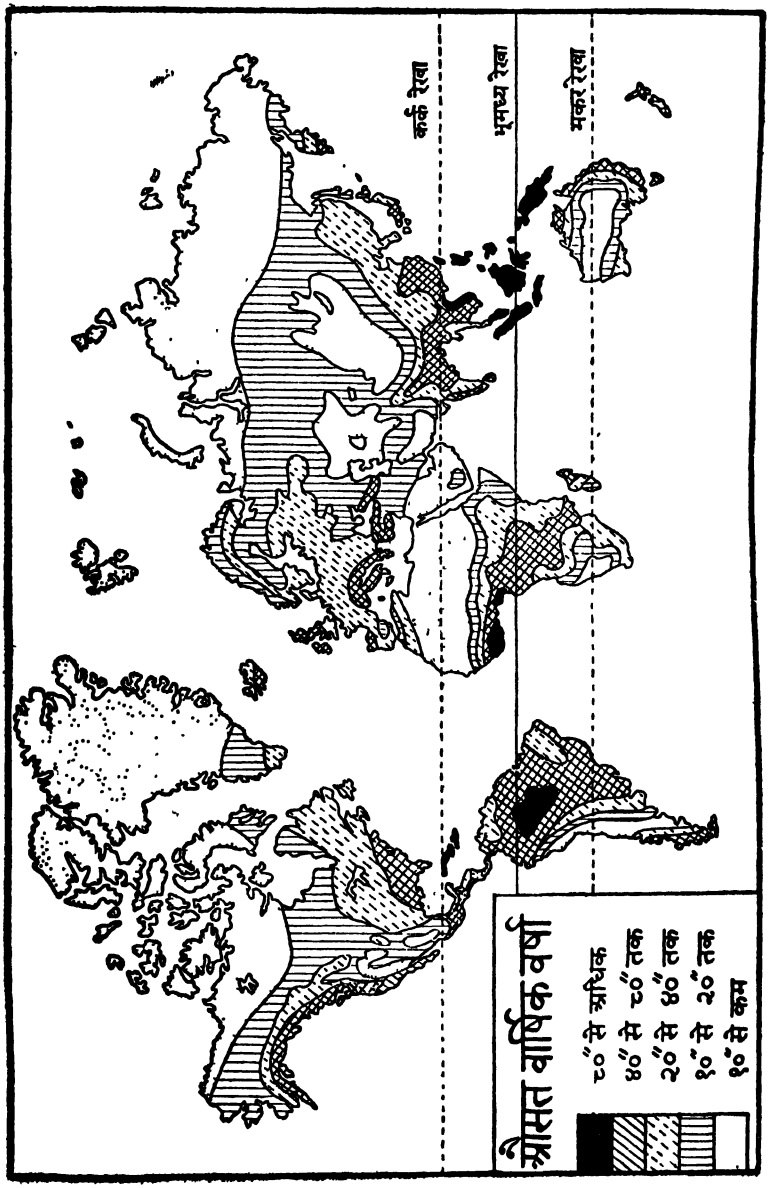
जिन प्रदेशों में हिमकण भूमि पर पर्याप्त समय तक पड़े रहते हैं, वहाँ रात्रि के समय ताप का परावर्तन शीघ्रतापूर्वक नही होता जिससे उन भागों का तापक्रम स्थिर रहने में बड़ी सहायता मिलती है। कोणधारी वनों (Coniferous forests) के क्षेत्र में भूमि पर कई फुट गहरी बर्फ जमा हो जाती है जिससे वहाँ पर भूमि का तापक्रम स्थिर रहता है। परन्तु इन वनो के दक्षिण में स्टेपीज के मैदानो में शीतकाल में बर्फ नही गिरती। फलतः, वहाँ रात्रि के समय ताप शीघ्रतापूर्वक परावर्तित हो जाती है और भूमि शीतल हो जाती है। यही कारण है कि इस क्षेत्र मे पेड़ नहीं पनप पाते।

हिमपात से दूसरा लाभ यह है कि हिम धीरे-धीरे पिघलती है, अतः वर्षा के जल की भाँति बर्फ से पिघला हुआ जल जल्दी नही बह सकता। इसीलिए जिन प्रदेशों में हिमपात होता है उनमे भूमि कई फुट की गहराई तक तर हो जाती है। इस तरी से खेती को अत्यधिक लाभ पहुँचता है। प्रेरी के मैदानों मे भूमि को इसी प्रकार की तरी मिलती है।

३२९. ओला और बिजली (Hailstorm)—कभी झंझावात के साथ जल का ठोस रूप ओलों के रूप में गिरता है। ओलो की बनावट की परीक्षा करने पर पता चला है कि हिम के पतले-पतले परत मिलकर ओलो के रूप मे बनते हैं। उनकी बनावट से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जल का इतना ठोस रूप वायु की वेगवती धाराओं के शीघ्रतापूर्वक ऊपर-नीचे बहने से बना होगा। इन धाराओं के साथ हिमकण भी ऊपर-नीचे नाचते होगे और परस्पर टकराकर एक दूसरे से गुँथ जाते होंगे। जब ये ओले इतने बडे हो जाते होंगे कि वायुधाराओं के झोंके इनको नही सँभाल सकें, तभी ये धरती पर बरस पडते होंगे। ओलों का गिरना बिजली की चमक के साथ सम्बन्धित बताया जाता है। सिम्पसन का मत है कि बादलों के भीतर जलसीकर घनात्मक (Positive) विद्युत से युक्त होते हैं। हवा की ऊपर जाने वाली धारा के साथ ऋणात्मक (Negative) बिजली बादलों के शेष भाग में पहुँच जाती है। जब जलबिन्दुओं की विद्युत हवा के साथ अन्य बादलों के सम्पर्क में आती है तो लम्बी धारा के रूप में बिजली चमक उठती है। बिजली चमक कर अपने आगे की हवा को हटा देती है और दूसरी हवाएँ उस स्थान को भरने तेजी से दौड़ पड़ती है जिससे तीव्र ध्वनि उत्पन्न होती है। इसकी प्रतिध्वनि बादलों में होती है।

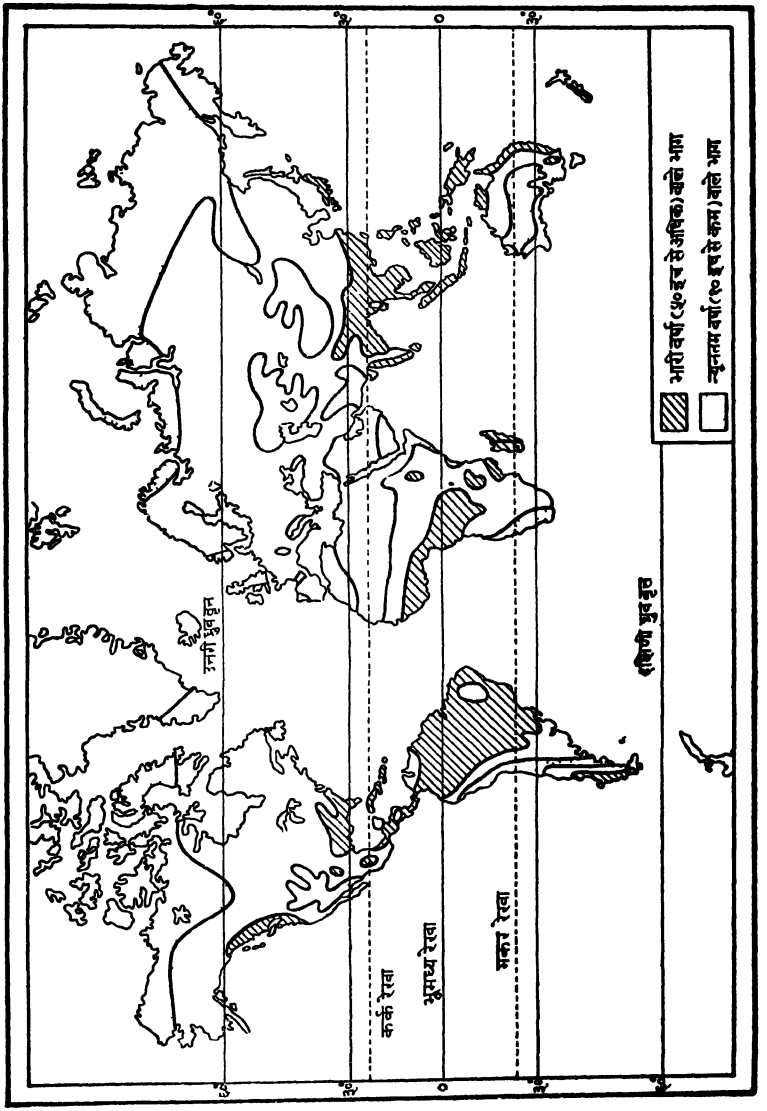
३३०. वर्षा की माप—वर्षा इंचों या मिलीमीटरों में नापते हैं। वृष्टिमापक यंत्र द्वारा किसी स्थान के एक मास के प्रत्येक दिन की वर्षा नापते हैं और महीने के

सब दिनों की वर्षा जोड़कर मासिक वर्षा ज्ञात की जाती है। कुछ वर्षों तक उसी महीने की वर्षा ज्ञात करके उनको जोडकर तथा वर्षों की संख्या से भाग देकर उस महीने की



चित्र ९६. संसार की वार्षिक वर्षा

औसत मासिक वर्षा (Normal Monthly Temperature) ज्ञात की जाती है। इसी प्रकार बहुत से वर्षों की वर्षा निकालकर उस स्थान की औसत वार्षिक वर्षा (Mean



चित्र ६७. भारी या कम वर्षा वाले भाग

Annual Rainfall) जानी जाती है। इन्ही औसत वार्षिक वर्षा के आँकड़ों की सहायता से वृष्टिद्योतक मानचित्र (Rainfall Maps) बनाये जाते हैं।

३३१. **वृष्टिद्योतक मानचित्रों का अध्ययन**—जिन स्थानों पर एक समान वर्षा होती है उन्हें एक रेखा द्वारा मिला दिया जाता है। इन रेखाओं को समवृष्टि रेखायें (Isohyets) कहते हैं। इस प्रकार की समवृष्टि रेखाओं द्वारा वृष्टिद्योतक मानचित्र बनाये जाते हैं।

इन मानचित्रों के अध्ययन के समय हमें दो बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए—

(१) वर्षा को अधिक, मध्यम, अल्प और अत्यल्प भागों में विभक्त किया जाता है। हमें देखना चाहिए कि वह स्थान इनमें से कौन से विभाग में आता है। इन विभागों का सामान्य विभाजक नियम निम्न प्रकार है—

उष्ण कटिबन्ध में —

(क) ८०" से अधिक वर्षा को भारी वर्षा या अतिवृष्टि (Heavy Rainfall) कहते हैं।

(ख) ४०" से ८०" तक की वर्षा मध्यम वर्षा (Moderate Rainfall) है।

(ग) १५" से ४०" तक की वर्षा अल्पवृष्टि (Light Rain) है।

(घ) १५" से कम वर्षा अत्यल्पवृष्टि (Poor Rain) है। ऐसी वर्षा वाले भाग मरुस्थल हैं।

शीतोष्ण कटिबन्ध में—

(क) ४०" से अधिक वर्षा वाले भागों को अतिवृष्टि वाले विभाग मानते हैं।

(ख) २५" से ४०" तक वर्षा वाले प्रदेशों को मध्यमवृष्टि वाले विभाग कहते हैं।

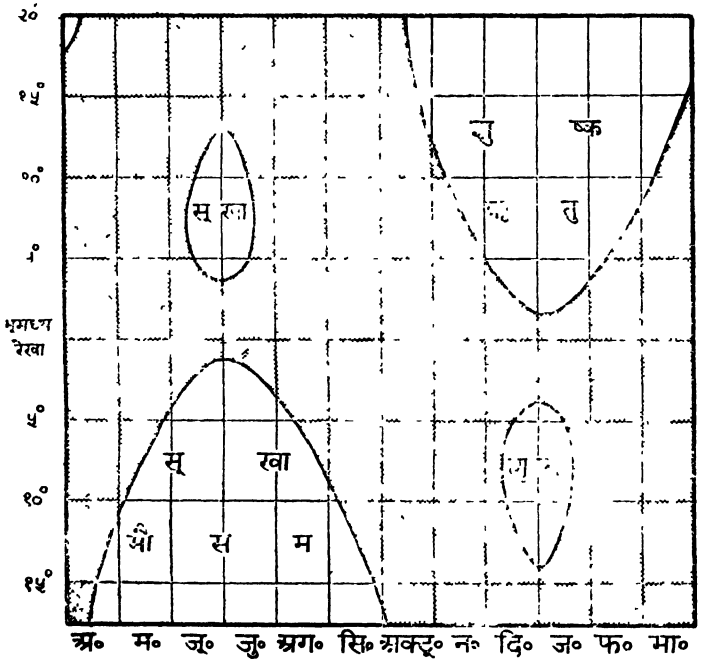
(ग) ५" से २०" तक वर्षा को अल्पवृष्टि माना जाता है।

(घ) ५" से कम वर्षा को अत्यल्पवृष्टि माना जाता है। ऐसी वर्षा वाले भाग मरुस्थल हैं।

(२) दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वर्षा किस ऋतु में अधिक होती है। हम जानते हैं कि खेती की उपज के लिए गरमी एक आवश्यक वस्तु है। अतः गरमी की ऋतु में वर्षा खेती की दृष्टि से अधिक लाभदायक है।

यदि हम वर्षा के नक्शों को देखें, तो पता चलता है कि संसार में सबसे अधिक वर्षा उष्ण कटिबन्ध में होती है। इसका कारण यह है कि उष्ण कटिबन्ध में गरमी अधिक पड़ने के कारण भाप अधिक बनती है। ध्रुवीय प्रदेशों में अधिक ठण्ड के कारण भाप कम बनती है। अतः यहाँ पर होने वाली हिमपात की मात्रा कम होती है। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि वर्षा और वाष्पीभवन में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

भूमध्यरेखिक प्रदेशों में वाहनिक वर्षा होती है । इन भागों मे वर्षा सूर्य के पीछे चलती है अर्थात् जब सूर्य सबसे अधिक ऊँचा चमकता है उसी समय वर्षा भी सबसे अधिक होती है और जब सूर्य नीचा होता है उस समय वर्षा सबसे कम होती है । भूमध्यरेखिक प्रदेशो मे सूर्य की गति के अनुसार वर्ष में दो बार वर्षा ऋतु और दो बार शुष्क ऋतु होती है । चित्र ९८ मे वाहनिक वर्षा का बडा सुन्दर चित्रण दिया है । इस प्रकार की वर्षा का सबसे अच्छा उदाहरण अफ्रीका महाद्वीप के मध्य भाग में मिलता है । यहाँ पर कागो के मध्यवर्ती बेसिन और पूर्वी तट पर साल भर वर्षा होती है । यहाँ से कुछ उत्तर और दक्षिण में जाने पर वर्ष में दो शुष्क ऋतुएँ होती



चित्र ९८. भूमध्यरेखिक प्रदेश की वर्षा

हैं । धीरे-धीरे दो शुष्क ऋतुएँ गायब हो जाती है और केवल एक लम्बी वर्षा ऋतु और एक शुष्क ऋतु रह जाती है ।

उष्ण कटिबन्ध से बाहर वाहनिक वर्षा बहुत कम होती है । अतः वर्षा सूर्य के पीछे नहीं चलती, किन्तु मुख्यतया हवाओं की दिशा पर निर्भर रहती है । विश्व के कुछ भागों में ऋतुओं के अनुसार हवाओं की दिशा बदलती है और जिस ऋतु में हवायें समुद्र से स्थल की ओर चलती है उसी ऋतु में सबसे अधिक वर्षा होती है ।

इन भागों में पार्वत्य वर्षा होती है, अतः इन प्रदेशों मे जो भाग पर्वतों के पवनाभिमुख (Windward) भाग में स्थित होते है वहाँ सबसे अधिक वर्षा होती है और पवन-विमुख (Leeward side) मे बहुत कम वर्षा होती है। यही कारण है कि समार की सबसे अधिक वर्षा भारत के चेरापूंजी स्थान पर (४२४ इच) और हवाई द्वीप के कौए द्वीप में (४७६ इच) होती है।

३५° अक्षाश मे आगे पछवा हवाओं का क्षेत्र प्रारम्भ होता है। इन हवाओ के क्षेत्र में महाद्वीपो के पश्चिमी भाग अधिक वर्षा के प्रदेश है। पछवा हवायें शीत-काल के महाद्वीपों के भीतरी भागो में प्रवेश नहीं कर पाती क्योंकि इस ऋतु मे भीतरी भागो मे वायु के उच्चभार के क्षेत्र स्थापित हो जाते है। पछवा हवाओ के क्षेत्र में चक्रवातीय वर्षा होती है। चक्रवाती वर्षा का अधिक जोर शीतकाल मे होना है। यही कारण है कि इन भागो में जाडे की ऋतु मे सबसे अधिक वर्षा होती है। गरमी की ऋतु मे झझावात से वर्षा हुआ करती है।

प्रश्न

1 Discuss the distribution and periodic variation of atmospheric humidity and precipitation on the surface of the earth.

(*Agra B.A. 1950*)

2. 'Rainfall in the equatorial region is of the convectional type'. Explain why this should be so, and point out the inter-relationship of temperature, pressure and rainfall

(*Agra B.A. 1952*)

3. Discuss the general distribution of rainfall on the globe with due regard to the seasonal influence of winds and the distribution of land and sea.

(*U.P. Inter. 1937*)

4. Explain the term 'Relative Humidity'. Mention the various forms of precipitation on the earth's surface.

(*Ajmer Inter. 1950*)

5. Explain the factors favouring the formation of rain indicating regions where such types, as you suggest, prevail.

तेईसवाँ अध्याय

वायु विक्षोभ और उनका मौसम पर प्रभाव

(The Minor Circulations of the Atmosphere and Associated Weather)

३३२. वायु विक्षोभ क्या है—अभी तक हमने वायुमण्डल मे होने वाले परिवर्तनो के सामान्य रूपों पर विचार किया है। परन्तु पृथ्वी की विचित्र परिस्थितियों के कारण इन सामान्य रूपो मे विशेष परिवर्तन होता रहता है। इन परिवर्तनो के कारण स्थान विशेष के मौसम पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अत हमें इनका अध्ययन करना चाहिए। पिछले अध्यायो में हवाओ की प्रवाह-दिशा पर विचार किया जा चुका है। परन्तु हवा सदैव सीधी एक ही दिशा की ओर नही चलती। जिस प्रकार बहते जल मे भँवर पड़ते है, उसी प्रकार हवा मे भी भँवर या चक्कर पैदा हो जाते है। वायुप्रवाह का ऐसा भँवर बढ़ते बढ़ते कभी-कभी भयकर तूफान या बवण्डर बन जाता है। उदाहरण के लिए, बगाल की खाड़ी मे काफी भयकर तूफान उठा करते है। ये तूफान अनियमित रूप से चला करते है। इन तूफानो की न कोई दिशा स्थिर होती है और न क्षेत्र निश्चित रहता है। ये असाधारण कारणो से अचानक उत्पन्न हो जाते है और चलने के उपयुक्त कारण उत्पन्न होते ही चल पड़ते है। परन्तु इनका प्रवाह सीमित नही होता। इनकी एक सीमा होती है। इसी सीमा के भीतर इनका उत्पात फैल जाता है। इनके साथ कभी-कभी जल या हिम की वर्षा होती है। इसके अतिरिक्त ये बवण्डर अपने साथ अपना विशेष प्रकार का तापक्रम ले जाते है और अपनी सीमा के भीतर वाले देशो मे मौसम पर प्रभाव डालते है। इन बवण्डरो को चक्रवात (Cyclones) और प्रतिचक्रवात (Anti-cyclones) कहते है। इनके अतिरिक्त कुछ छोटे बवण्डर भी है, जैसे अप्रधान चक्रवात (Secondary Cyclone), टक (Wedge), ग्रीवा (Col) और V जैसी आकृति के गर्तचक्र आदि।

जब चक्रवात या प्रतिचक्रवात चलते है तो ऐसा मालूम पड़ता है मानो हवा एक केन्द्रीय धुरी के चारो ओर एक भँवर के रूप में नाच रही है। परन्तु दोनो के नाचने की दिशा में अन्तर होता है। चक्रवात में केन्द्र के पास न्यून वायुभार होता है और चारो ओर उच्चभार रहता है। अत हवा का नाचता हुआ भँवर बाहर की हवा को भीतर की ओर ठेलता है। उत्तरी गोलार्द्ध में चक्रवात की हवायें घडी की सूइयो के प्रतिकूल दिशा में (Anti-clockwise) चलती है। इसके विपरीत प्रति-

चक्रवात में केन्द्र के समीप उच्चभार रहता है जिससे हवा का नाचता हुआ भंवर केन्द्र के समीप की हवा को बाहर की ओर ठेलता है । इसमें हवा नाचने की दिशा उत्तरी गोलार्द्ध में घड़ी की सुइयों की चाल की तरह (Clockwise) रहती है । दक्षिणी गोलार्द्ध में दोनों प्रकार के बवण्डरों के नाचने की दिशा उल्टी हो जाती है ।

चक्रवात और प्रतिचक्रवात के सम्बन्ध में एक्सनर (Exner) नामक वैज्ञानिक का मत है कि ये अनियमित हवायें पृथ्वी के धरातल पर चलने वाली मुख्य हवाओं (व्यापारिक और पछवा हवाओं) के प्रवाह को स्थायी बनाए रखने में सहायक होती हैं । हम पढ़ चुके हैं कि भूमध्यरेखा के समीपस्थ प्रदेश की वायु सूर्य की गरमी से गरम होकर ऊपर उठती है । ऊपर उठी हुई वायु अधिक ऊँचाई पर पहुँचकर ठण्डी होती है और सिकुड़ने लगती है । इस सकोच से भार बढ़ता है और ऊपरी वायु नीचे उतरती है । नीचे उतरने पर यह वायु कर्क और मकर रेखाओं के पास पहुंच जाती है । इस प्रकार भूमध्यप्रदेश की वायु निरन्तर उत्तर और दक्षिण की ओर जाती रहती है । वायु की इस असमानता को दूर करने के लिए प्रकृति ने चक्रवात और प्रति-चक्रवात का प्रबन्ध कर रखा है । चक्रवात के पिछले भाग में और प्रतिचक्रवात के अगले भाग में हवायें भूमध्यरेखा की ओर चलती हैं । इसी प्रकार इन हवाओं द्वारा अन्य स्थानों पर भी भार की समानता होती रहती है ।

चक्रवात और प्रतिचक्रवात दोनों ही उष्ण कटिबन्ध तथा शीतोष्ण कटिबन्ध में चला करते हैं । उष्ण कटिबन्ध के बवण्डर अधिकतर ग्रीष्म काल में चलते हैं । इसी ऋतु में यहाँ पर स्थल के उच्च तापक्रम और समुद्र के न्यून तापक्रम में सबसे अधिक अन्तर रहता है । परन्तु शीतोष्ण कटिबन्ध के तूफान अधिकतर जाड़ों में उत्पन्न होते हैं क्योंकि जाड़ों में हिमाच्छादित ग्रीनलैण्ड के न्यून तापक्रम और गल्फस्ट्रीम गरम धारा से प्रभावित अटलाण्टिक महासागर के उच्च तापक्रम में सबसे अधिक अन्तर रहता है । उष्ण कटिबन्ध की तूफानी हवायें व्यापारिक हवाओं (Trade Winds) के क्षेत्र में उत्पन्न होती हैं । अत वे पूर्व से पश्चिम की ओर चलती हैं । परन्तु शीतोष्ण कटिबन्ध में ये हवायें पछवा हवाओं के क्षेत्र में पैदा होती हैं । अत इनका मार्ग पश्चिम से पूर्व की ओर जाता है ।

चक्रवात (Cyclones)

चक्रवात में समभार रेखाओं (Isobars) की एक ऐसी विशेष व्यवस्था होती है, जिसके मध्य में सबसे कम वायुभार रहता है और चारों दिशाओं में क्रमशः बढ़ता जाता है । चक्रवात की समभार रेखायें प्रायः वृत्ताकार (Circular) या दीर्घ-वृत्ताकार (Elliptical) होती हैं । सबसे कम वायुभार चक्रवात के ठीक बीच में नहीं

होता, किन्तु कुछ पीछे हटा हुआ होता है। फिर भी इसे चक्रवात का केन्द्र कहते हैं। चक्रवात जिस दिशा में चलता है उसको हम चक्रवात की गतिदिशा कह सकते हैं। यदि हम चक्रवात के केन्द्र से गुजरती हुई एक ऐसी रेखा खींचें जो उसकी गतिदिशा पर समकोण बनाती हो तो उस रेखा को द्रोणी (Trough) कहा जायगा। द्रोणी रेखा के आगे के भाग को चक्रवात का अग्र (Front) और उसके पिछले भाग को पृष्ठ (Back) कहा जाता है।

शीतोष्ण कटिबन्ध के चक्रवात (Temperate Cyclones)

शीतोष्ण कटिबन्ध में चलने वाले चक्रवात बवण्डरों को गर्तचक्र या डिप्रेशन (Dipression) कहा जाता है। इन डिप्रेशनों या गर्तचक्रों की उत्पत्ति के अनुसार कई भेद हो सकते हैं, यथा—

(क) सीमान्तजन्य (Frontal)।

(ख) तापज चक्रवात (Thermal)।

३३३. सीमान्तजन्य गर्तचक्र (Frontal Depression)—जब दो विभिन्न प्रकार के तापक्रम वाली दो हवायें मिलती हैं, तो दोनों की मध्यवर्ती सीमा के पास कहीं अचानक न्यूनभार उत्पन्न होते ही गर्तचक्र का जन्म हो जाता है। **इस गर्तचक्र या डिप्रेशन का विकास मुख्यतया न्यूनभार की कमी बेशी पर ही निर्भर रहता है।** यदि न्यूनभार तुरन्त ही समाप्त हो जाता है तो गर्तचक्र ही जन्मते ही मर जाता है। परन्तु यदि अनुकूल कारणों से न्यूनभार शीघ्र ही समाप्त न होकर बराबर कई दिनों तक बना रहता है और बढ़ता रहता है, तो फिर गर्तचक्र (डिप्रेशन) भी विकसित होकर स्थायी हवाओं के मार्ग पर चल पड़ता है।

३३४. ध्रुवीय अग्र (Polar Front)—हम जानते हैं कि शीतोष्ण कटिबन्ध में ध्रुवीय प्रदेशों से ठण्डी हवायें उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिण की तरफ और दक्षिणी गोलार्द्ध में उत्तर की तरफ चलती हैं। इन हवाओं की प्रवाह-दिशा पृथ्वी के आवर्तन (Rotation) के कारण बदल जाया करती है। इन हवाओं के अतिरिक्त अयनरेखाओं (Tropics) के पास से गरम हवायें भी शीतोष्ण कटिबन्ध में चलती हैं। इन गरम हवाओं का प्रवाह ध्रुवों की ओर होता है, परन्तु आवर्तन के कारण इनका रुख उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिण-पश्चिम या पश्चिम की तरफ से उत्तर-पूर्व या पूर्व की ओर हो जाता है। यदि पृथ्वी की परिस्थितियाँ सदैव एक समान बनी रहतीं, तो हवाओं की ये धारायें निरंतर निर्बाध गति से बहती रहतीं। इन दोनों प्रकार की हवाओं के बीच की सीमा को ध्रुवीय अग्र (Polar Front) कहते हैं। उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में यह सीमा हिममण्डित ग्रीनलैण्ड की स्थिति के कारण कई

अक्षांशों तक फैली हुई है। निरीक्षणों के आधार पर पता चला है कि यह सीमा सीधी नही होती, किन्तु लहरदार (टेढ़ी-मेढ़ी) होती है।

३३५. ध्रुवीय अग्र (Polar Front) के लहरदार होने के कारण—

(क) ध्रुवों की ओर से चलने वाली वायुधारा (Air Stream) ठण्डे धरातलों और हिमखण्डों से आच्छादित समुद्रों के ऊपर होकर आती है अत: काफी ठण्डी होती है। ज्योंही यह हवा अपेक्षाकृत कुछ गरम महासागरों पर पहुँचती है, वहाँ पर परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। समुद्रतल के ससर्ग से इस वायुधारा का निचला भाग कुछ गरम हो जाता है और ऊपर की ओर फैलता है। इसी कारण **इस हवा का मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा या लहरदार हो जाता है।** समुद्रतल से ऊपर उठने वाली हवा अपने साथ भाप भी ले जाती है और ऊपर पहुँचने पर पुंज मेघ (Cumulus Clouds) आकाश में फैलने लगते हैं। अनुकूल स्थिति होने पर पुंज-जलद (Cumulo-Nimbus) मेघमाला छा जाती है और ध्रुवीय हवाओं मे तेज बौछारों के रूप में वर्षा भी हो जाती है।

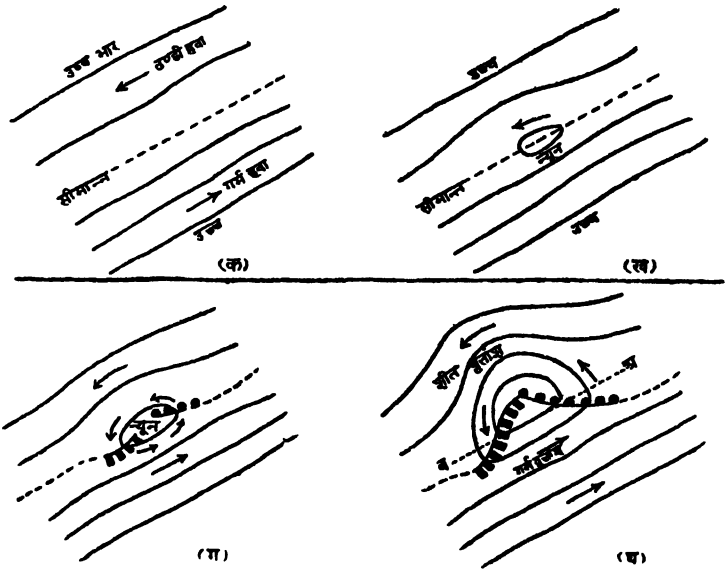
(ख) अयनरेखाओं की ओर से चलने वाली हवायें गरम अक्षांशों से ठण्डे अक्षांशों की तरफ आती हैं। ठण्डे अक्षांशों में आकर इन्हे ठण्डे स्थल अथवा समुद्र पर होकर जाना पडता है। अत इनका निचला भाग धरातल के स्पर्श मे ठण्डा हो जाता है। ठण्डा भाग सकोच से भारी हो जाता है और हवा मजबूती से आगे को बढती है जिससे ध्रुवीय अग्र टेढा-मेढा हो जाती है।

गरम हवा का धरातलीय भाग ठण्डा होने रहने के कारण धरातल के पास कुहरा या धुन्ध सी छायी रहती है। यदि इस हवा की गति अधिक तेज होती है, तो धुन्ध के स्थान पर परतीले बादल (Stratus) बहुत नीचे तक छा जाते हैं।

३३६. गर्तचक्र (डिप्रेशन) की उत्पत्ति—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ठण्डी हवा और गरम हवा के बीच की सीमा, जिसे ध्रुवीय अग्र (Polar Front) कहा जाता है, बहुत ही टेढी-मेढी और परिवर्तनशील होती है। दिए हुए चित्र में ध्रुवीय अग्र बिन्दुदार रेखा से दिखाया गया है। चित्र के 'क' भाग में सीमान्त या अग्र के दोनो ओर समभार रेखायें हैं और तीर द्वारा हवाओं की प्रवाह-दिशा बतलाई गई है। अनुकूल परिस्थिति होने पर यदि अग्र (सीमान्त) के किसी भाग मे कुछ हवा ऊपर की ओर उठ जाती है तो निम्न भार बन जाता है। यह स्थिति चित्र 'ख' भाग में दिखाई गई है।

न्यूनभार चाहे जितना थोड़ा क्यो न हो कुछ-न-कुछ हवा उसकी पूर्ति के लिए दौड़ पड़ती है। हवा की दौड सीधी न्यूनभार की ओर नहीं होती। इस सम्बन्ध

में प्रो० बाइज बैलट नामक एक डच विद्वान् का बताया हुआ नियम याद रखना चाहिए। बाइज बैलट नियम इस प्रकार है—'यदि हम उत्तरी गोलार्द्ध में अपनी पीठ हवा की ओर करके खडे हो जायँ, तो हमारे बायें हाथ की ओर न्यूनभार और



चित्र ९९. गर्तचक्र की उत्पत्ति

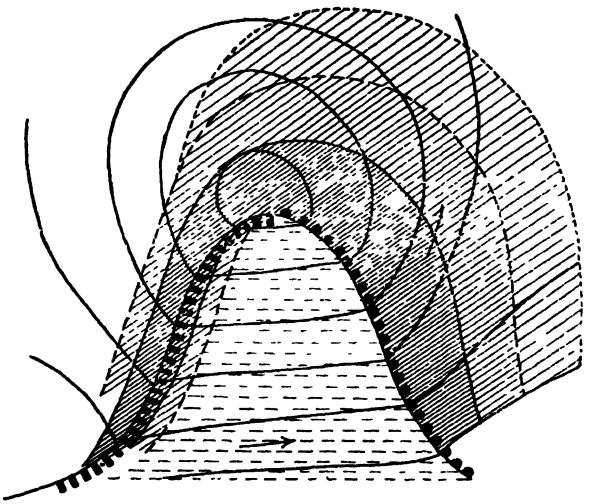
दाहिने हाथ की ओर उच्चभार रहेगा। दक्षिणी गोलार्द्ध मे इसका बिलकुल उल्टा होगा।'

हवाओं के इस प्रकार दौडने पर न्यूनभार के पूर्वीय कोने पर दक्षिण की गरम हवा आगे बढ़कर उत्तर की ठण्डी हवा के ऊपर चढ जायगी। इस प्रकार न्यूनभार के पश्चिमी कोने पर उत्तर की ठण्डी हवा दक्षिण की गरम हवा को हटाकर ऊपर को ठेल देगी। यह स्थिति चित्र के 'ग' भाग में दिखाई गई है। इसमें अग्र कुछ टेढ़ा-मेढा हो गया है।

हमें यहाँ यह बात साफ तौर से समझ लेनी चाहिए कि दोनो प्रकार की हवाओं की सीमा या अग्र कोई दीवार जैसी चीज नही है जिसमें टेढ पड जाती हो। परन्तु यह सीमा तो एक सीमित क्षेत्र में फैला हुआ बैरोमीटर का ढाल मात्र है जिसका अन्तिम छोर पृथ्वी के उस भाग को छूता है जो बिन्दुदार रेखा द्वारा दिखाया गया है। इसलिए जहाँ कहीं पर भी बैरोमीटर के ढाल की अन्तिम सीमा होगी, वही पर अग्र या सीमान्त समझा जायगा।

अस्तु, न्यूनभार के पूर्वी भाग पर गरम हवा ठण्डी हवा के ऊपर चढकर ठण्डी हवा के ऊपरी कुछ भाग को हटा देगी जिसमे वहाँ पर भी भार कम हो जायगा। इस प्रकार धीरे-धीरे वायुभार पूर्व की ओर घटता जायगा, और न्यूनभार के बढने पर हवायें अधिकाधिक वेग से चलने लगेंगी। कुछ काल बाद शीतोष्ण कटिबन्ध का गर्त-चक्र पूरे ज़ोर मे चल पडेगा। पूर्ण विकसित डिप्रैशन या गर्तचक्र चित्र के 'घ' भाग में दिखाया गया है। अग्र ने वक्राकार होकर पूर्ण वृत्त को दो भागो में बाँट दिया है। उत्तर-पश्चिम के वृत्तांश (Sector) को शीत वृत्तांश (Cold Sector) कहते हैं क्योंकि इस भाग में ठण्डी हवायें चलती है। ठण्डी हवाओ की अन्तिम सीमा को शीत सीमान्त (Cold Front) कहते है। दक्षिण-पूर्व के वृत्तांश को गरम वृत्तांश (Warm Sector) कहते है क्योंकि इस भाग में दक्षिण से आई हुई गरम हवा चलती है। गरम हवा के अन्तिम छोर को गरम सीमान्त (Warm Front) कहते है।

३३७ गर्तचक्र में मौसम की दशा—जब गर्तचक्र आगे की ओर बढता है तो अपने साथ विशेष प्रकार का मौसम ले जाता है। इस मौसम को समझने के लिए हमें पहले इसकी बनावट का अध्ययन कर लेना चाहिए। इसके बीचोबीच न्यूनभार होता है। इस केन्द्र के उत्तर-पूर्व मे गरम अग्र (Warm Front) है जहाँ पर गरम हवा लगातार आगे बढ़कर ठण्डी हवा के ऊपर पहुँच रही है। गरम हवा समुद्रो पर होकर आती है जिसमे उसमें काफी नमी होती है। इसमें ऊपर चढने के कारण निरन्तर घने बादल बनते रहते है और भारी वर्षा अथवा हिमपात होता है। गरम अग्र या गरम सीमान्त से उत्तर-पूर्व की ओर जितनी अधिक दूर जाते हैं, गरम हवा वहाँ उतनी ही



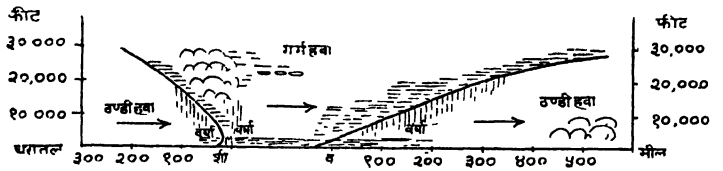
चित्र १००.

पूर्ण विकसित गर्तचक्र (बिन्दूदार भाग गरम वृत्तांश है)

कम मात्रा मे पहुँच पाती है । अत. जैसा कि चित्र मे दिखाया गया है गरम अग्र के पास जलद-स्तार (Nimbo-stratus) मेघ बनते है । इन बादलो से आगे उच्च स्तार (Alto-stratus) बादल बनते है क्योकि यहाँ पर गरम हवा पहले से कुछ अधिक ऊंचाई पर होती है । इससे आगे अलका-स्तार (Cirro-stratus) और उनसे भी आगे अलका (Cirrus) मेघ जहाँ-तहाँ दिखाई पडते है ।

अब जरा चित्र मे दिए हुए शीत सीमान्त या शीत अग्र की ओर देखिए । यहाँ पर ठण्डी हवा आगे बढकर गरम हवा को ऊपर की तरफ ठेल देगी । स्पष्ट है कि इस भाग मे भी बादल बनेगे और वर्षा होगी । परन्तु इस ओर बादलों और वर्षा का यह क्षेत्र काफी सकुचित होगा । इस क्षेत्र मे गरम हवा ठण्डी हवा से ठेली जाने के कारण बडी तेजी से ऊपर उठेगी जिससे पुज-जलद मेघ (Cumulo-nimbus) बनेंगे और वर्षा काफी भारी होगी । सभवतया कभी कभी ओले भी पड़ेगे और बिजली की चमक तथा बादलों की कडक भी होगी । स्पष्ट है कि ठण्डी हवा के चलने के कारण तापक्रम निरन्तर तेजी से गिरता जायगा ।

यहाँ पर चित्र १०१ मे गर्तचक्र के गरम वृत्ताश का पार्श्वदृश्य (Cross-Section) दिखाया गया है जो डिप्रेशन (चक्रवात) के मौसम का बड़ा अच्छा प्रदर्शन करता है । ठण्डी हवा के ऊपरी भाग पर गरम हवा के चढ़ने से वायुभार मे कमी होने लगेगी । और यह कमी गरम वृत्ताश तक बराबर बढती जायगी । अतः जब कभी बैरोमीटर में निरन्तर गिरता हुआ पारा न्यून से न्यूनतर भार दिखाने लगे और सूर्य या चन्द्रमा के चारों ओर आशिक या पूर्ण किरीट (Halo) बन जाय (सूर्य या चन्द्रमा



चित्र १०१. गरम वृत्तांश का पार्श्व दृश्य

के चारों ओर किरीट बनने से यह प्रकट होता है कि क्षितिज के पार पश्चिम में अलका-स्तार (Cirro-stratus) बादल छा रहे हैं जिसके प्रकाश से प्रतिबिम्बित होकर किरीट के रूप में प्रकट हो रहा है) तथा हवा के बन्द होने से नालियों में बदबू आने लगे, तो समझ लीजिए कि चक्रवात आने ही वाला है । सबसे पहले आकाश मे अलका बादल (Cirrus) बहुत ऊँचाई पर (लगभग ३०,००० फुट पर) प्रकट होते है । समझ लीजिए कि चक्रवात का गरम सीमान्त (Warm Front) अभी ५०० मील से कम दूर नहीं है । कुछ ही घण्टों बाद आकाश में जलद-स्तार (Nimbo-Stratus) बादल

छा जाते है और सूर्य पूर्णतया बादलों में छिप जाता है । इसके बाद वर्षा प्रारम्भ होती है जो बूंदाबाँदी के रूप में शुरू होकर घनी झडी सी लग जाती है । साथ-ही-साथ तेज़ हवा के झोके भी चलते रहते है । इसी समय बैरोमीटर का पारा बराबर गिरता जाता है । गरम अग्र (सीमान्त) के पहुँच जाने पर पारे का गिरना रुक जाता है और वर्षा बन्द हो जाती है । आकाश साफ हो जाता है और मौसम सुहावना हो जाता है । मौसम सुहावना होते ही समझ लीजिए कि केन्द्र आ पहुँचा है । गरम वृत्ताश के पार हो जाने तक मौसम साफ रहेगा । इसके बाद ही सर्दी यकायक बड़ी तेजी से बढने लगती है, कपसीले बादल घने रूप में आकाश मे छा जाते है और वर्षा की झड़ी लग जाती है । इस परिवर्तन से समझना चाहिए कि शीत अग्र (सीमान्त) आ पहुँचा है । इस वर्षा के साथ कभी-कभी ओले भी गिरते है तथा बिजली की कड़क और बादलो की गरज सुनाई पडती है । परन्तु यह वर्षा थोड़ी देर मे ही समाप्त हो जायगी और बादल साफ होने लगेगा ।

बादल किस प्रकार के बनेंगे, आकाश पर बादल खूब छा जायँगे या कम बादल होंगे, इन सब बातो की जानकारी के लिए हमे यह देखना पडेगा कि हवा किस मार्ग से बहकर आई है । यदि हवा गरम समुद्रो के ऊपर बहती हुई आई होगी, तो बादल खूब होंगे और वर्षा पर्याप्त होगी । परन्तु स्थल पर होकर आने वाली हवा इतनी प्रभावकारी न होगी । गरमी की ऋतु मे स्थल की ताप से हवा गरम होकर ऊंची उठेगी और पुज बादल बनेंगे । परन्तु जाडो में गरम समुद्रो के प्रभाव से परतीले बादल छा जाते है ।

३३८. गर्तचक्रों का आगे बढ़ना—सीमान्तजन्य गर्तचक्र (Frontal Depressions) चाहे किसी भी दिशा की ओर बहे, परन्तु उस दिशा में पूर्व का पुट जरूर लगा रहता है । उत्तर या दक्षिण की ओर बढते हुए चक्रवात भी कुछ-न-कुछ अश पूर्व की ओर अवश्य झुकते हुए जायँगे । यदि ध्रुवीय सीमान्त (Polar Front) का रुख पश्चिम-पूर्व होता है, तो दक्षिण की गरम हवा आगे बढ़कर केन्द्र के पूर्व की ओर वायुभार को निरन्तर कम करती रहती है और गर्तचक्र का केन्द्र पूर्व की ओर बढ़ता चला जाता है । यह चक्रवात महाद्वीपीय भाग में काफी दूर तक घुसा चला जाता है । परन्तु यदि सीमान्त का रुख कुछ उत्तर की ओर होता है, तो चक्र का केन्द्र अधिक आगे नही बढ़ पाता और दो-तीन दिन के बाद भार का अन्तर दूर हो जाता है और चक्रवात समाप्त हो जाता है । जिस सीमान्त का रुख कुछ दक्षिण की ओर होता है वह भी चक्रवात की गति को आगे की ओर ठेलने में सहायक होता है । भूमध्यसागरीय चक्रवात इसके उदाहरण है । जाड़ों में भूमध्यसागर के गरम जल से

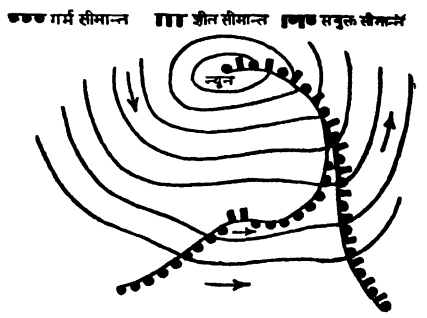
आने वाली हवा और ठण्डे यूरोप से आने वाली हवा के तापक्रम में पर्याप्त अन्तर होता है । फलतः, भूमध्यसागर के उत्तर-पश्चिमी भाग से बनने वाले गर्तचक्रों का अग्र कुछ अंश में दक्षिणाभिमुख होता है । गरम भूमध्यसागर इसकी गति आगे बढाने में सहायक होता है जिससे चक्रवात तुर्की, सीरिया, ईराक, ईरान आदि देशों में होते हुए पाकिस्तान और भारत तक पहुँच जाता है । हम जानते हैं कि पंजाब की गेहूँ की फसल इन चक्रवातो की कितनी ऋणी है ।

चक्रवात हवाओं के आगे बढने के लिए तथा उनके बहुत दिनो तक चलते रहने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उन्हे गरम और तर हवा निरन्तर मिलती रहे । यही कारण है कि जाड़ों में चक्रवात प्रायः समुद्रों पर होकर जाते हैं और महाद्वीपो के भीतरी भागों में बहुत ही कम घुस पाते है । यदि ये महाद्वीपों में भीतर चले भी जाते है, तो ऊँचे पर्वतो को लाँघ जाना इनके बूते से बाहर है । हाँ, पर्वतों के दर्रो में होकर ये देश के भीतरी भाग में पहुँच जाते है । कुछ चक्रवात प्रतिचक्रवात के इर्द-गिर्द घूम जाते हैं परन्तु उसके पास नही जा पाते ।

३३९. गर्तचक्र का समाप्त होना (Occlusions)—सीमान्तजन्य गर्तचक्र (Frontal Depression) का जीवनकाल थोड़े दिन का ही होता है । पश्चिम की ओर से बढती हुई ठण्डी हवा गरम हवा को हटाती जाती है और गरम वृत्तांश (Warm Sector) निरन्तर छोटा होता जाता है । कुछ काल बाद शीत अग्र (Cold Front) आगे बढते-बढते गरम अग्र (Warm Front) से जा मिलता है और गर्तचक्र समाप्त हो जाता है । देखा गया है कि चक्रवात प्रायः लगभग ६ दिन के भीतर ही समाप्त हो जाता है । शीत अग्र के गरम अग्र से मिल जाने की अवस्था को संयुक्त सीमान्त (Occlusion) कहते है । सीमान्त मिलन (Occlusion) के तुरन्त बाद कुछ समय तक गरम हवा ठण्डी हवा के ऊपर मँडराती है जिसमे संयुक्त सीमान्त (Occluded Front) के समीप वर्षा हो जाती है । दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संयुक्त सीमान्त के दोनों ओर तापक्रम में भी कुछ अन्तर रहता है । वास्तव मे संयुक्त सीमान्त के पूर्व की ओर की ठण्डी हवा के तापक्रम और उसके पश्चिमी भाग की हवा के तापक्रम में कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य रहता है । इसका कारण यह है कि संयुक्त सीमान्त के पश्चिम की हवा बहुत दूर से बहकर आती है । यही कारण है कि किसी देश में होकर संयुक्त सीमान्त के गुजरने पर तापक्रम में दो या तीन अंश (Degrees) का फर्क पड़ जाता है ।

३४०. अप्रधान गर्तचक्र की उत्पत्ति (Secondary Depression)—कभी-कभी ऐसा होता है कि प्रधान गर्तचक्र के शीत सीमान्त (Cold Front) पर

किसी स्थान पर न्यूनभार उत्पन्न हो जाता है । इस न्यूनभार के आस-पास दूसरा अप्रधान वायुचक्र बन जाता है जिसे अप्रधान गर्तचक्र (Secondary) कहते हैं । चित्र न० १०२ में इस अप्रधान चक्र की उत्पत्ति समझाई गई है । चित्र में प्रधान गर्तचक्र (Main Depression) आंशिक रूप से संयुक्त (Occluded) हो पाया है । इतने ही में शीत सीमान्त में लघुभार की टेढ या लहर उत्पन्न हो गई है । इसी टेढ़ से बढते-बढते अप्रधान वायुचक्र (Secondary) बन जायगा । इनके पूर्ण विकसित हो जाने पर प्रधान गर्तचक्र (Primary Depression) समाप्त हो जायगा । कभी-कभी इस पहले अप्रधान वायुचक्र के पीछे कई और छोटे-छोटे चक्र बन जाते हैं । इन छोटे-छोटे अप्रधान चक्रों (Secondary) की पंक्ति अटलाण्टिक महासागर में देखी जा सकती है । ऐसे अप्रधान वायुचक्र भूमध्यसागर के दक्षिण में जाकर मोरक्को आदि देशों में वर्षा कर देते हैं ।

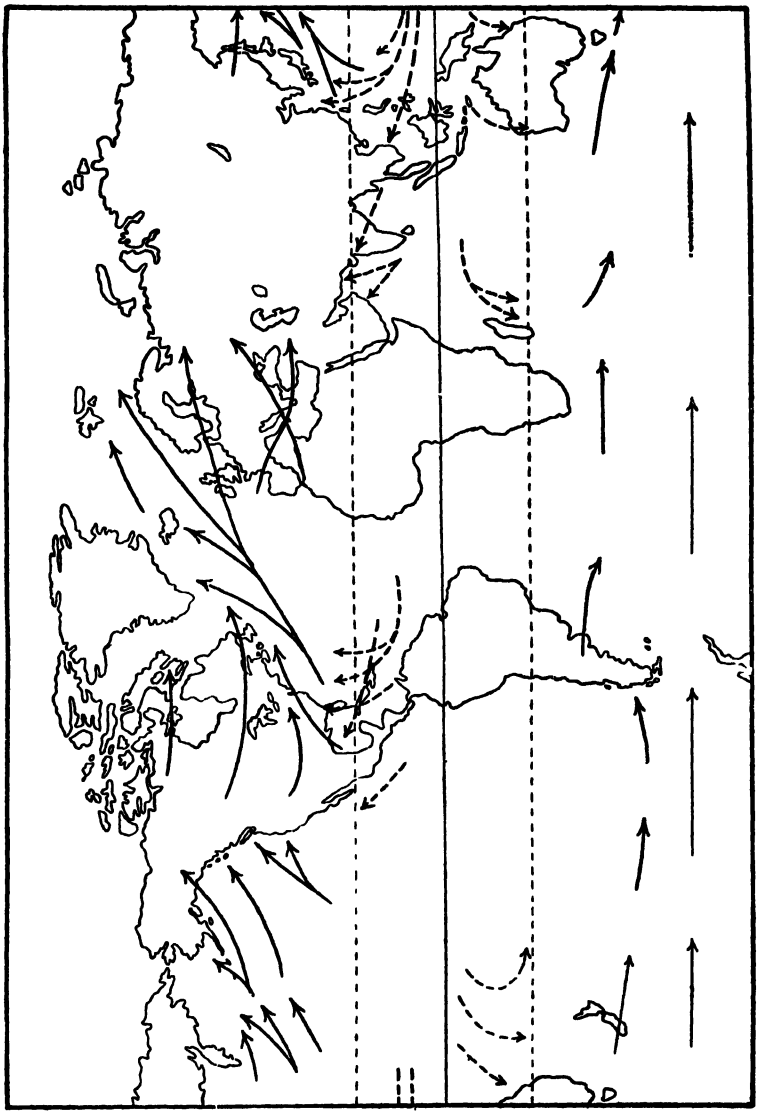


चित्र १०२ अप्रधान गर्तचक्र की उत्पत्ति

३४१. तापज चक्रवात (Thermal Depression)—जब सूर्य ताप की तेजी से धरातल का कोई भाग अधिक गरम हो जाता है, तो वहाँ पर वायुभार (Pressure) घट जाता है और उस न्यूनभार (Low) के चारों ओर वायुभार अधिक होता है । फलतः, समभाररेखाओं (Isobars) की आकृति अण्डाकार हो जाती है । ऐसा होने पर चारों ओर से हवायें न्यूनभार की ओर दौड पडती हैं और चक्रवात बन जाता है । ऐसे बवण्डर को तापज चक्रवात कहते हैं । हम जानते हैं कि आइबेरिया प्रायद्वीप (Iberia) चारों ओर समुद्र से घिरा है । गरमी की ऋतु में इस प्रायद्वीप का तापक्रम आस-पास के समुद्रों से कुछ अधिक रहता है जिससे गरमियों में यहाँ तापज चक्रवात उत्पन्न हो जाते हैं । ऐसे ही चक्रवात संयुक्त राज्य अमेरिका (U.S.A.) के दक्षिण-पश्चिम भाग में बनते है और पूर्व की ओर चल पड़ते हैं । इनके चलने से खेती को बहुत हानि होती है क्योंकि ये हवायें गरम और सूखी होती हैं । जब ये अंधड़ मैक्सिको की खाड़ी से नमी प्राप्त कर लेते है तो फिर सीमान्त-जन्य गर्तचक्र बन जाते हैं और वर्षा कर देते हैं ।

३४२. उष्णकटिबन्धीय चक्रवात या साइक्लोन (Tropical Cyclones)—उष्णकटिबन्ध के चक्रवातों में अधिकांश ऐसे होते हैं जो गरमी की अधिकता से उत्पन्न होते हैं । कुछ विद्वानों की सम्मति है कि ये तूफान भी दो विभिन्न तापक्रम वाली

हवाओं की सीमा पर उत्पन्न होते है, भले ही यह सीमा कितनी भी अस्पष्ट क्यों न हो। इन दो प्रकार की हवाओ में से एक महाद्वीप से चलती है, तो दूसरी महासागर



चित्र १०३ गर्मकाल का मार्ग

से चलती है। दोनों के बीच की सीमा महाद्वीपों के समीप ही समुद्रों में होती है।

अतः ये तूफान समुद्रों में ही पैदा होते है । ग्रीष्म ऋतु में भूमध्यरेखिक न्यूनभार की पेटी या डोलड्रम अधिक उत्तर की ओर खिसक आती है । डोलड्रम के उत्तरी छोर पर लगभग ६° और १५° अक्षांशों के बीच में इन तूफानों की उत्पत्ति होती है । इस भाग में धरातल पर हवा का बहाव बहुत कम होता है और आकाश में बादल भी नही छाये रहते । अतः इस भाग में कही पर भी गरमी की अधिकता मे न्यूनभार उत्पन्न हो जाता है । न्यूनभार के चारो ओर वायुभार समान रूप मे बढ़ता जाता है । इसीलिए चक्रवात की समभार रेखायें केन्द्रीय न्यूनभार के चारो ओर प्राय. सकेन्द्रीय वृत (Concentric Circles) बनाती है । उष्णकटिबन्धीय चक्रवात का आकार प्रायः बहुत छोटा होता है । ऐसे तूफानों का व्यास अधिक-से-अधिक २०० मील लम्बा होता है । बहुत से तूफानो का व्यास तो केवल ३० मील देखा गया है ।

उष्णकटिबन्धीय चक्रवात पश्चिम की ओर ध्रुवो की ओर बढते है । इनकी साधारण चाल १०-१५ मील प्रति घण्टा होती है । ज्योही ये तूफान स्थल पर पहुँचते है त्योही इनकी शक्ति नष्ट हो जाती है और ये धीमी गति मे चलते हुए वर्षा करते जाते है । परन्तु जल पर चलने वाले चक्रवात बड़े प्रलयंकारी होते है, इसलिए इन तूफानो की विनाश लीला समुद्र-तटो के पास अथवा द्वीपो में ही अधिक होती है । इन तूफानो के कारण पेड उखड़कर गिर पड़ते है और धन-जन की अपार हानि होती है । किन्तु इससे भी अधिक हानि समुद्री लहरो द्वारा होती है । आंधियों के कारण समुद्र मे बहुत ऊँची लहरे उठती है जो महानाश का कारण बन जाती है । एक बार समुद्र की ऊँची लहर ने बगाल मे एक लाख से भी अधिक लोगो के प्राण हर लिए ।

३४३. उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों की विशेषताएं—(१) भूमध्यरेखा और १५° अक्षाश रेखाओं के बीच मे ये आँधियाँ पश्चिम की ओर चलती है ।

(२) १५° और ३०° अक्षाँश रेखाओं के बीच मे इनके चलने का मार्ग अनिश्चित रहता है परन्तु प्रायः उत्तरी गोलार्द्ध मे उत्तर की तरफ और दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण की तरफ चलती है ।

(३) ३०° अक्षाश रेखाओ से आगे बढने पर इनका रुख पश्चिम की तरफ हो जाता है ।

३४४. उष्णकटिबन्धीय चक्रवात के प्रधान क्षेत्र—(१) पश्चिमी द्वीपसमूह के समीप जो तूफान विकसित होते है वे फ्लोरिडा प्रायद्वीप तथा सयुक्त राज्य (U.S.A.) के दक्षिणी तट को प्रभावित करते है । इन्हें हरीकेन आँधियाँ कहते है ।

(२) एशिया मे फिलीपाइन्स द्वीपसमूह के समीप में जो आँधियाँ चलती है उन्हें टाइफून कहते है । टाइफून आँधियाँ चीन के तट और जापान के दक्षिणी तट को प्रभावित करती हैं ।

(३) बंगाल की खाडी और अरब सागर से चलने वाले तूफान भारतीय तट पर उत्पात मचाते हैं। इनको साइक्लोन के नाम से पुकारा जाता है।

(४) अफ्रीका मे मैडागास्कर के पूर्वी तट से प्रारम्भ होकर ये तूफान अफ्रीका के पूर्वी तट को प्रभावित करते है।

(५) साइक्लोन आंधियाँ आस्ट्रेलिया के उत्तर-पूर्वी और उत्तर-पश्चिमी तटों पर चलती है।

३४५. उष्णकटिबन्धीय चक्रवात और मौसम—इस तूफान के केन्द्र में न्यून-भार के भाग को तूफान की आँख (Eye of the storm) कहते है। इस आँख के चारो ओर भार का परिवर्तन (बैरोमीटर का ढाल) अधिक होता है। यही कारण है कि यद्यपि तूफान आगे की ओर मन्थर गति से बढता है परन्तु तूफान के अन्दर हवायें बडे जोर से चलती है। न्यूनभार कभी-कभी ९०० मिलीबार ही रह जाता है। तूफान के आने पर मूसलाधार वर्षा होती है, बिजली कौधती है और बादल खूब गरजते है। साथ-ही-साथ जोरदार अधड भी चलता है। तूफान की आँख के आते ही वर्षा बन्द हो जाती है और आकाश खुल जाता है। इस आँख का व्यास प्राय. १० से २० मील तक होता है। आँख के आगे बढ जाने पर फिर वर्षा होती है परन्तु वह जल्दी ही बीत जाती है।

३४६. प्रतिचक्रवात (Anticyclones)—जब कभी वृत्ताकार या अण्डाकार समभाररेखाये एक उच्चभार (H P.) के क्षेत्र को चारो ओर से घेर लेती है तो प्रतिचक्रवात बन जाया करता है। प्रतिचक्रवात चक्रवात का उल्टा होता है। इस प्रकार के ववण्डर में हवाये उच्चभार के केन्द्र से चारो ओर को दौड़ती है। केन्द्र से बाहर की ओर जाने वाली हवाओ का रूख बाइज बैलट के नियम के अनुसार हो जाता है।

३४७ प्रतिचक्रवात और मौसम—प्रतिचक्रवात के क्षेत्र मे तेज हवायें प्राय: कभी नही चलती और मौसम भी सुहावना रहता है। ग्रीष्म ऋतु में प्रतिचक्रवात का मौसम सुहावना होता है, परन्तु जाडों में प्राय. कुहरा पड़ता है। रात के समय विकिरण द्वारा निकली हुई गरमी हवा में पहुँचकर कुहरा पैदा कर देती है। यह कुहरा सूर्योदय के कई घण्टे बाद तक और कभी-कभी ठण्डे देशो में दिन भर छाया रहता है। गरम और सूखे प्रतिचक्रवात के पश्चिमी भाग मे ठण्डी भूमि के स्पर्श से कुहरा बन जाता है। यही कुहरा ऊँचा उठकर बादल बन जाते है। यह बादल काफी नीचे रहते हैं जिससे अँधेरा-सा छाया रहता है।

कुछ अर्द्धस्थायी प्रतिचक्रवात

३४८. (क) ठण्डे प्रतिचक्रवात—जिन भूभागों में अत्यधिक ठण्ड पड़ती है वहाँ पर ठण्ड के कारण वायुभार बढ़ जाता है। यह स्थिति सायबेरिया में तथा जाड़े

की ऋतु मे मध्य एशिया मे उत्पन्न हो जाया करती है। इस उच्चभार के चारो ओर प्रतिचक्रवात बन जाता है जो बहुत दिनों तक स्थायी सा रहता है।

(ख) **गरम-शुष्क प्रतिचक्रवात**—हम पहले कह आये है कि अयनरेखाओं के समीप हवा ऊपर से नीचे को उतरती रहती है। यह नीचे उतरने वाली हवा नीचे आकर गरम और सूखी हो जाती है तथा इन भागो का वायुभार बढ़ा देती है। इन गरम भागो मे भी उच्चभार होने से प्रतिचक्रवात उत्पन्न हो जाया करते हैं। जो अर्द्ध-स्थायी होते है।

३८९ चक्रवात और प्रतिचक्रवात की तुलना—

चक्रवात	प्रतिचक्रवात
(१) आकृति—वृत्ताकार या दीर्घवृत्ताकार।	(१) आकृति चक्रवात जैसी।
(२) वायुभार--बीच मे न्यूनतम और बाहर की ओर क्रमश बढता है।	(२) चक्रवात का उल्टा होता है अर्थात् बीच में सबसे अधिक और बाहर की तरफ क्रमशः घटता है।
(३) हवाओं की दिशा--बाहर चारो तरफ से केन्द्र की तरफ हवायें चलती है। मध्य मे हवाओं की भँवर सी बन जाती है।	(३) हवायें केन्द्र से चारों तरफ को चलती है। ये हवायें फैरल के नियम के अनुसार उत्तरी गोलार्द्ध मे अपनी दाहिनी तरफ और दक्षिणी गोलार्द्ध में बाई तरफ मुड़ जाती है।
(४) हवाओं की गति—तीव्र गति होती है। कभी कभी भयकर तूफान का रूप धारण कर लेती है।	(४) हवायें मन्द और निर्बल होती है।
(५) ऋतु—विषम (Rough) और झोकेदार (Equally)। होती है।	(५) शान्त और सूखी ऋतु हुआ करती है।
(६) वर्षा—गर्मियों में जल-वृष्टि, जाडों में हिमपात। दोनो ऋतुओं में गड़गड़ाहट के साथ वर्षा।	(६) गर्मियों मे खुला मौसम और तेज धूप। जाड़ो मे कुहरा।
(७) गति—चक्रवात गतिशील होते है और कभी स्थिर नही रहते। ये प्रायः एक दिशा में ही चलते है।	(७) बहुधा कई दिनों तक स्थिर रहते है। इनके चलने की कोई भी दिशा निश्चित नही होती।
(८) तापक्रम—गर्मियों में तापक्रम कम होता है, जाड़ों में अधिक होता है।	(८) गर्मियों में तापक्रम अधिक होता है, जाड़ों में कम रहता है।

प्रश्न

1. What is the Polar Front ? How does a cyclone develop along the polar front ? Describe the general weather conditions associated with it.

(*Agra B.A. 1955*)

2. Explain the origin of cyclones in middle latitudes and discuss their effects on the weather of those areas.

(*Agra B.A. 1949, 1951*)

3. State the characteristic feature of cyclones and anticyclonic weather.

(*Agra B.A. 1948*)

4. Distinguish between tropical and temperate cyclones. Explain the mode of origin of the former.

(*Ban. B.A. 1949, 1950, 1951*)

4. Discuss the principal theories of the origin of cyclonic depression.

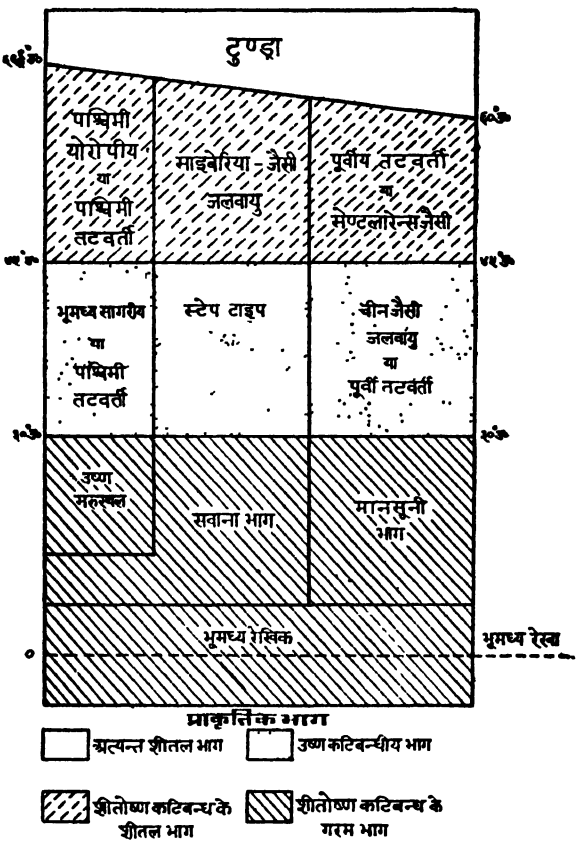
(*Agra M.A. 1947*)

चौबीसवाँ अध्याय

जलवायु के अनुसार पृथ्वी के विभाग

(Climatic Regions of the World)

३५०. **जलवायु विभाग**—यदि हम संसार के तापक्रम तथा हवा और वर्षा के मानचित्रों को ध्यान से देखें तो हमें मालूम पड़ेगा कि ससार के बहुत से भाग ऐसे हैं जिनका जलवायु लगभग एक-सा है। ऐसे सभी भागों को, जिनका जलवायु एक समान है, एक जलवायु-विभाग (Climatic Region) कहते हैं। संसार के समस्त देशों को इस प्रकार के ११ मुख्य जलवायु-विभागों मे बाँटा जाता है—



चित्र १०४.

(क) अधिकतम उष्ण प्रदेशों में (In the Hot Belt)—

(१) भूमध्यरेखीय अथवा उष्ण आर्द्र जलवायु (Equatorial or Hot Wet Climate)।

(२) उष्ण कटिबन्ध के मध्यवर्ती अथवा सूडान का जलवायु (Tropical Interior or Sudan Type)।

(३) उष्ण कटिबन्ध के पूर्वीय विभाग या मानसूनी जलवायु (Tropical Eastern margin)।

(४) उष्ण मरुस्थल (Hot Deserts)।

(ख) शीतोष्ण कटिबन्ध के उष्ण प्रदेशों में (In the Warm Temperate Belt)—

(५) भूमध्यसागरी जलवायु (Mediterranean type) या महाद्वीपों के पश्चिमी तटवर्ती।

(६) महाद्वीपों के मध्यवर्ती या स्टेप्स-जैसे जलवायु (Steppe type)।

(७) महाद्वीपों के पूर्वीय तटवर्ती या चीन-जैसी जलवायु (Eastern margin)।

(ग) शीतोष्ण कटिबन्ध के समशीतोष्ण भागों में (In the cool Temperate Belt)—

(८) पश्चिमी तटवर्ती या पश्चिमी यूरोप के समान जलवायु (West Europe type)।

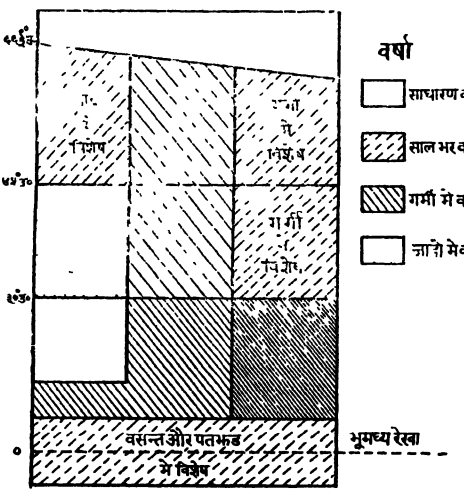
(९) मध्यवर्ती या सायबेरियन टाइप (Siberian type)।

(१०) पूर्वीय तटवर्ती या सेण्ट लारेन्स-जैसा जलवायु। (St. Lawrence type)।

(घ) अति शीतल भागों में (In the Cold Belt)—

(११) टुण्ड्रा के प्रकार का जलवायु (Tundra type)।

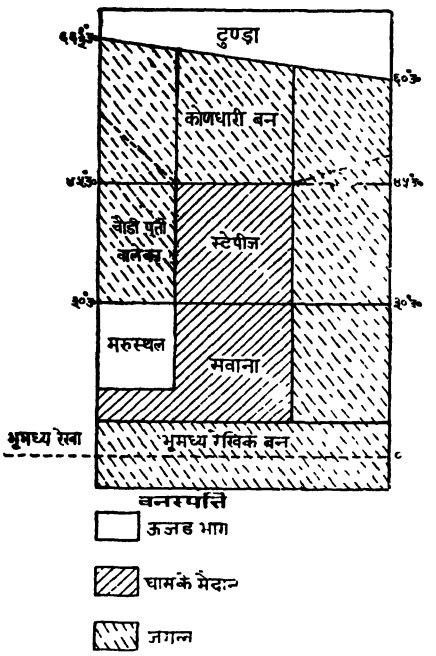
(१२) हिममण्डित प्रदेश (Ice caps)।



चित्र १०५. वर्षा

३५१. अधिकतम उष्ण प्रदेशों की विशेषता—उष्ण कटिबन्ध का विस्तार अयनरेखाओं तक माना जाता है, परन्तु उष्ण प्रदेश लगभग ७०° फा० वार्षिक समतापरेखा तक फैले हुए हैं। यह समतापरेखा प्रायः ३०° उत्तरी और ३०° दक्षिणी

अक्षाश रेखाओं के ऊपर होकर जाती है, अतः उष्ण प्रदेश का विस्तार भी ३०° उत्तरी और दक्षिणी अक्षांश रेखायें ही मानना चाहिए। इस विभाग में पृथ्वी का आधे से अधिक धरातल आ जाता है। इस विभाग के तीन-चौथाई धरातल पर समुद्र का राज्य है और एक-चौथाई भाग पर स्थल है। दक्षिणी अमेरिका और अफ्रीका के अतिरिक्त अन्य भागों की स्थिति समुद्र के समीप है। सामुद्रिक समीपता के कारण उष्ण प्रदेशों की जलवायु लगभग एक समान ही रहती है। इसी कारण इस विभाग के निवासी अति प्राचीन काल से मल्लाह रहे हैं। जैसा कि हम पढ़ चुके हैं इस विभाग में सूर्य क्षितिज से बहुत ऊंचा रहता है। अतः यहाँ गरमी खूब रहती है। अकेला सूर्य ही इस विभाग की जलवायु को नियन्त्रित करता है। वर्षा भी सूर्य के साथ-साथ ही चलती है। वर्ष में दो बार सूर्यताप सबसे अधिक होता है और उसी समय वर्षा भी सबसे अधिक होती है। अयनरेखाओं से बाहर वर्षा केवल गरमी में ही होती है। खेती की दृष्टि से यह विभाग अत्यन्त उपयोगी है, परन्तु इन भागों की पूर्णतया उन्नति नहीं हो पाई है। इसका कारण यह है कि श्वेत जातियों ने इस विभाग के बहुत से भागों पर अधिकार जमा रखा है और वे नहीं चाहते कि इन भागों का काला मनुष्य उन्नति करके उनकी बराबरी करे।

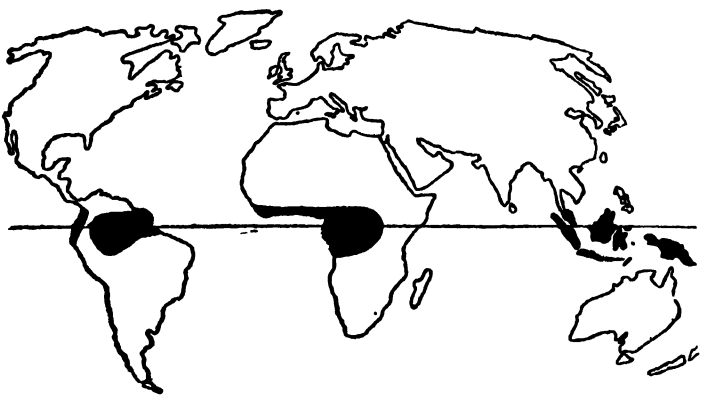


चित्र १०६.

३५२. शीतोष्ण कटिबन्ध के उष्ण भागों की विशेषता—इस विभाग का विस्तार प्रायः ३०° और ४५° अक्षांशों के बीच में है। इन विभागों में व्यापारिक हवायें और पछुवा हवायें बारी-बारी से चलती हैं। गरमी की ऋतु में इस विभाग में व्यापारिक हवायें चलती हैं जो पूर्वीय तटवर्ती भागों में तो जल-वर्षा कर देती हैं परन्तु पश्चिमी तटवर्ती भाग सूखे रह जाते हैं। जाड़ों की ऋतु में हवाओं की पेटी खिसक जाती है और इन भागों में पछुवा हवायें चल पड़ती हैं जो पश्चिमी तटवर्ती भागों में वर्षा करती हैं।

पश्चिमी तटवर्ती भागों पर इस प्रकार केवल जाड़ों में वर्षा होती है और गरमी के दिन गरम और सूखे बीतते हैं। इस प्रकार की जलवायु भूमध्यसागरीय कहलाती है।

३५३. समशीतोष्ण भागों की विशेषता—समशीतोष्ण भाग मोटे तौर से ४५° और ६६½° अक्षांशों के बीच में स्थित हैं। इन भागों में पछवा हवायें चलती हैं, अतः महाद्वीपों के पश्चिमी तटवर्ती भागों मे अच्छी वर्षा होती है। यह वर्षा साल भर होती रहती है। किन्तु महाद्वीपों के भीतरी भागो में वर्षा का हाल बदल जाता है। जाडे की ऋतु में महाद्वीपों के भीतरी भागों में उच्च वायुभार स्थापित हो जाने से भीतर की ओर वर्षा करने वाली हवाये नही जा पाती। भीतरी भागों में केवल गर्मी में ही हो पाती है। इन विभागों में साईक्लोन या चक्रवात हवायें जलवायु पर विशेष प्रभाव डालती हैं। इन हवाओं के कारण मौसम के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। जिस प्रकार अत्यष्ण प्रदेशों में जलवायु पर सूर्य का प्रभाव स्पष्ट रहता है उसी प्रकार इन भागो में समुद्र का प्रभाव विशेष महत्त्वपूर्ण है। जो देश समुद्र के समीप होते है उनमे तापक्रम सम रहता है। इसके विपरीत समुद्र से दूरस्थ भागों की विषम जलवायु वर्गीकरण होती है। जाड़ो मे इतना भयकर शीत होता है कि यही पर संसार का सबसे ठण्डा स्थान होता है। मध्यवर्ती भाग की जलवायु साइबेरिया-जैसी जलवायु कही जा सकती है। इन भागों में तापान्तर सबसे अधिक होता है। साइबेरिया में बरखोयान्स्क का तापान्तर १२०° फा० (६० फा० से ६०° फा० तक) होता है।



चित्र १०७. अधिकतम उष्णप्रदेश

(१) अधिकतम उष्ण प्रदेश (Hot Belt)

३५४ स्थिति—यह विभाग भूमध्यरेखा के दोनों ओर लगभग ५° उ० अ० से ५° द० अ० तक फैला हुआ है। भूमध्यरेखा अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका में हो कर

जाती है, अतः ऐसी जलवायु मुख्यतः इन्हीं दोनों महाद्वीपों में पाई जाती है। अमेजन बेसिन, कांगो बेसिन और गिनी-तट तथा पूर्वी द्वीपसमूह और दक्षिणी मलाया में ऐसी जलवायु मिलती है।

३५५. **जलवायु**—इस विभाग में सूर्य लगभग साल भर सिर के ऊपर चमकता है जिससे यहाँ वर्ष भर तापक्रम ८०° फा० के आस-पास ही रहता है। वर्षा और बादलों के कारण तापक्रम ८०° फा० से अधिक नहीं जा पाता। वार्षिक तापान्तर ५° फा० के लगभग रहता है। परन्तु दैनिक तापान्तर १५° से २५° तक हो जाता है। इस भाग की जलवायु उष्ण और आर्द्र रहने के कारण यहाँ के निवासियों को साधारण ठण्ड भी अधिक मालूम होती है। पूरे वर्ष भर लगभग एक-सा तापक्रम रहने के कारण कहा जाता है कि रात के समय ही यहाँ पर जाड़े की ऋतु होती है।

यहाँ पर सदा भारी वाहनिक वर्षा होती है। सूर्य की गरमी से दोपहर तक निरन्तर हवा गरम होकर ऊपर उठती है। ऊपर पहुँचकर हवा ठण्डी हो जाती है और वर्षा कर देती है। वर्षा प्रायः दोपहर के बाद ही हुआ करती है। यद्यपि वर्षा प्रतिदिन सालभर तक होती रहती है, तथापि वर्ष में दो बार जब सूर्य की किरणें सीधी सिर पर चमकती हैं, वर्षा कुछ अधिक मात्रा में होती है। यह विशेष वर्षा मार्च और सितम्बर के महीनों में होती है। औसत वार्षिक वर्षा लगभग ८०" होती है, परन्तु कहीं-कहीं पर १००" से भी अधिक वर्षा होती है। वर्षा के साथ बिजली की चमक और बादलों की गर्जन भी बहुत अधिक होती है।

स्थान	समुद्रतल से ऊँचाई	तापक्रम जुलाई फा०	तापक्रम जनवरी फा०	वार्षिक तापान्तर	वार्षिक वर्षा
सिंगापुर	१० फुट	८१	७८·३	३·२	७२·९"
पारा	१० फुट	७८·१	७७·७	२·७	८६·७"
क्विटो	९,३५० फुट	५४·९	५४·२	·७	४२·८"
बगोटा	८,७३० फुट	५७·६	५६·२	१·४	७३·४"

इस भाग में दिन और रात लगभग १२-१२ घण्टे के होते हैं तथा उषाकाल अथवा गोधूलि वेला का प्रकाश (Twilight) बहुत ही थोड़ी देर के लिए होता है। वायु में आर्द्रता (नमी) लगभग ८० प्रतिशत होती है, जिससे यहाँ पर ऊमस बहुत

रहती है। इस भाग के ऊँचे पठारों अथवा पर्वतीय भागों की जलवायु स्वास्थ्य के अनुकूल होती है। उदाहरण के लिए भूमध्यरेखा पर स्थित क्विटो नगर समुद्रतल से ९,००० फुट ऊँचा है। अतः यहाँ पर वर्ष भर वसन्त ऋतु रहती है। क्विटो का तापक्रम ५५° फा० है और वार्षिक तापान्तर भी १° फा० से कम ही रहता है। परन्तु दिन और रात के तापक्रम में ४०° फा० तक का अन्तर भी हो जाया करता है।

३५६. **बनस्पति**—गरमी और वर्षा की अधिकता के कारण इन भागों में विस्तृत घने जगल भरे पडे है। अमेजन नदी के बेसिन में इन घने जंगलों को सैल्वा (Selvas) कहते है। इन जंगलों की विशेषता यह है कि यहाँ के पेड बहुत ऊँचे होते और उनके ऊपर छतरी की तरह शाखाओं और पत्तियों का जाल छाया रहता है। पत्तों का जाल इतना घना होता है कि सूर्य का प्रकाश पत्तियों से छनकर पृथ्वी तक नहीं पहुँच पाता। प्रकाश पाने के लिए पेड बहुत ऊँचे हो जाते है। पेड़ों की ऊँचाई १०० फुट से २०० फुट तक होती है। इन जगलो के पेड़ इतने घने होते है कि आँधी से टे हुए पेड़ भी नीचे नही गिर पाते, किन्तु अव्यवस्थित रूप में दूसरे पेड़ों के सहारे लटके रहते है। ऊपर के मरे हुए पक्षी भी ऊपर ही पड़े रहते है। पेड़ों की शाखाओं पर जहाँ कही आँधी से उडकर मिट्टी जमा हो जाती है वही पर दूसरे पेड उत्पन्न हो जाते है। इस प्रकार धरातल पर निरन्तर अँधेरा छाया रहता है। कांगो के बेसिन में जंगल इतने घने नहीं है। वहाँ पर जहाँ कही घने वनों के बीच में कुछ खुला स्थान है वही पर अनेक प्रकार के छोटे-छोटे पेड़-पौधे उग आते है। इन जगलों को भूमध्य-रेखिक वन या उष्ण आर्द्रवन कहा जाता है। इन वनों मे पेडों पर हजारों तरह की बेलें चढ जाती है जिससे बेलें और शाखायें एक दूसरे से बुरी तरह गुथी रहती है। पेड़ों की पत्तियाँ चौडी और कोमल होती है ताकि उनकी नमी भाप बनकर उड़ती रहे। ये पेड वर्ष पर्यन्त पानी मिलते रहने के कारण सदा हरे-भरे रहते हैं।

भूमध्यरेखिक वनों में सबसे बडा दुर्गुण यह है कि एक जाति के पेड एक स्थान पर समूह मे नही मिलते। एक एकड भूमि पर सैकडो प्रकार के पेड मिलते है, परन्तु एक जाति के पेड एक या दो से अधिक नहीं होगे। इसी दोष के कारण ये वन आर्थिक दृष्टि से अधिक उपयोगी नही है। इन वनों में दूसरी कठिनाई यह है कि इनके भीतरी भागों में मार्ग बना लेना सम्भव नही है। यातायात की कठिनाई के कारण अमेजन बेसिन के रबर के वृक्षो से पूरा फायदा नही उठाया जा सका है। घने जंगलो के बाहरी पेडों से ही रबर प्राप्त किया जाता रहा है। यहाँ के पेड़ों में रबर, गटापार्चा, महोगनी, चन्दन, सिनकोना, केला और दूसरे प्रकार के ताड़ के वृक्ष बहुत उपयोगी है। इन वनों की लकड़ी दृढ़ और मूल्यवान् होती है।

३५७. पशु—इन सघन वनों में हाथी जैसे विशालकाय पशु केवल वही पाए जाते हैं जहाँ पर जंगल कुछ खुला है। यहाँ के जानवर अधिकतर वृक्षों पर रहते हैं। रंग-बिरंगी तितलियाँ, भौरे, चिड़ियाँ, भाँति-भाँति के बन्दर, लंगूर और गोरिल्ला, मेंढक तथा छिपकली आदि यहाँ के मुख्य जानवर हैं। दलदली स्थानों पर कीड़े-मकोड़े, मच्छर, साँप, अजगर आदि रेंगने वाले जानवर पैदा हो जाते हैं। नदियों मे मगर आदि बहुत भरे रहते हैं।

३५८. आर्थिक परिस्थिति—इन वनों मे दो प्रकार की आर्थिक परिस्थितियाँ पाई जाती हैं—

(१) अमेजन और काँगो के बेसिनों में घने जगलों में रबर और हाथीदाँत एकत्र करते है तथा जंगलों के खुले भागों में अथवा उनके अन्तिम छोर पर पेड़ो को काटकर खेती की जाती है। इन खेतों में चावल, गन्ना, मक्का, ताड़, कोको, कहवा तथा केला पैदा किया जाता है।

(२) पूर्वी द्वीपसमूह तथा दक्षिणी मलाया मे जगलों को काटकर साफ कर दिया गया है और वहाँ गर्म क्षेत्रो की फसलें उगाते है। इन पौधो मे रबर, टेपिओका (Tapioca), गन्ना, नारियल और कहवा आदि पैदा किया जाता है।

(२) उष्णकटिबन्ध के मध्यवर्तीय अथवा सूडान टाइप

३५९. स्थिति—यह प्रदेश उष्ण आर्द्र प्रदेशो के दोनो तरफ ५° और २०° अक्षाशों के बीच में फैले है और प्रायः महाद्वीपों के मध्य भाग मे स्थित है। सूडान, जेम्बिजी नदी की ऊपरी घाटी, ओरोनिको की घाटी, ब्राजील का मध्यभाग और पश्चिम आस्ट्रेलिया का उत्तरी भाग इस विभाग में सम्मिलित है।

३६०. जलवायु—इन प्रदेशों की जलवायु प्राय. साल भर गरम रहती है। किसी भी महीने का तापक्रम ६८° फा० से कम नही रहता। वार्षिक तापान्तर भी केवल १०° से ३०° फा० तक रहता है। गरमी की ऋतु मे यहाँ पर कड़ी गरमी पड़ती है। गरमी के महीनों का औसत तापक्रम ८०° से ९०° फा० तक रहता है। जाड़ों में भी तापक्रम ७०° फा० के लगभग रहता है।

इस विभाग में वर्षा एक समान नही होती। भूमध्यरेखा के समीप अधिक वर्षा (४०" तक) होती है। परन्तु उत्तर या दक्षिण की ओर वर्षा घटती जाती है और मरुस्थलों तक आते-आते १०"-१५" ही रह जाती है। वर्षा केवल गर्मियों मे होती है, जाड़े की ऋतु सूखी ही बीतती है। इस विभाग में प्रत्येक स्थान पर एक साथ गरमी नहीं आती, किन्तु अक्षाशों के साथ-साथ गरमी की अवधि में अन्तर होता जाता है।

इसी कारण यहाँ पर वर्षा का कोई भरोसा नहीं। कभी-कभी तो बिना वर्षा के कई वर्ष बीत जाते है और देश में अकाल पड़ जाता है।

स्थान	समुद्रतल से ऊँचाई	सबसे गरम महीने का तापक्रम	सबसे ठण्डे महीने का तापक्रम	वार्षिक तापान्तर	वार्षिक वर्षा
टिम्बकटू	८२ फुट	९५° फा०	७२° फा०	२३° फा०	९ इंच

३६१ वनस्पति—इन प्रदेशो मे वर्षा केवल गरमी की ऋतु में होती है। यह वर्षा मूसलाधार होती है जिससे पानी तुरन्त ही बह जाता है तथा कड़ी गरमी के कारण पानी भाप बनकर उड़ता रहता है। इन्हीं कारणों से धरती में प्रवेश करने के लिए थोड़ा-सा जल बच रहता है। जाडो में वह भी नही मिल पाता। फलतः, यहाँ पर केवल घास ही उग सकती है। अस्तु, इन प्रदेशों में ऊँची-ऊँची घास तथा बीच-बीच में इक्के-दुक्के पेड़ उत्पन्न हो जाते है। घास की ऊँचाई ५ फुट से १० फुट तक होती है। सूखा के समय जब घास सूख जाती है तो ये पेड़ ही वनस्पति-विहीन मैदान में हरे-भरे नजर आते हैं। ये पेड भूमध्यरेखा की तरफ अधिक घने होते है और घास भी अधिक लम्बी होती है। घास के स्थानों को बहुत से स्थानीय नामों से पुकारा जाता है। अफ्रीका में इन्हे सवाना, ओरोनिको की घाटी मे लानोज और दक्षिणी ब्राजील में कैम्पाज के नाम से पुकारते है।

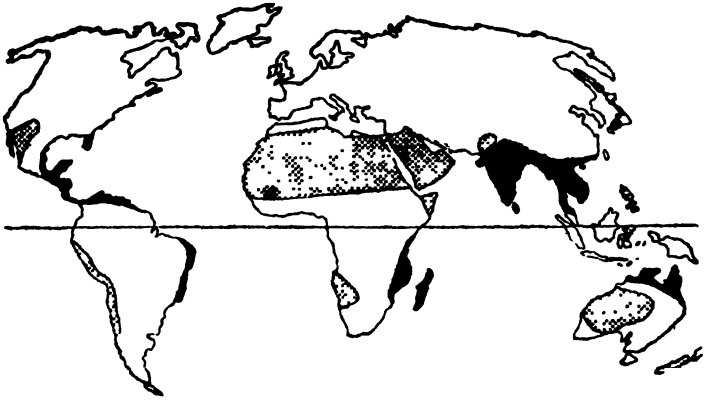
३६२. पशु—यहाँ घास खाने वाले जानवर जैसे हिरन, बारहसिंघा, नीलगाय, जेबरा, जिराफ़ आदि पाये जाते है तथा इन जानवरों का माँस खाने वाले शेर चीते, तेंदुए, लकड़बग्घे आदि हिंसक जानवर पाये जाते है।

३६३. आर्थिक परिस्थिति—इस विभाग के अविकसित भागों में पशुपालन या शिकार मारना मुख्य धन्धा है। अर्द्ध-विकसित भागो में पशुपालन तथा खेती होती है। इन खेतों में ज्वार, बाजरा, मक्का, मूँगफली, तिल, तम्बाकू, खजूर आदि पैदा होते हैं। सूडान, पूर्वी अफ्रीका और रोडेशिया जैसे विकसित भागों में सिंचाई का प्रबन्ध करके कपास, गन्ना आदि चीजें पैदा करते हैं।

(३) उष्णकटिबन्ध के पूर्वी भाग या मानसून टाइप

३६४. स्थिति—व्यापारिक या ट्रेड हवाओं की पेटी में महाद्वीपों के पूर्वी भाग मानसूनी कहलाते हैं। भारत उपमहाद्वीप, इण्डोचीन प्रायद्वीप, दक्षिणी चीन, मध्य अमेरिका, कोलम्बिया और वेनेजुला का उत्तरी तट, पश्चिमी द्वीपसमूह, ब्राजील का पूर्वी तट, मेडागास्कर और आस्ट्रेलिया का उत्तरी भाग मानसूनी जलवायु वाले देश

है । यद्यपि चीन और जापान में भी मानसूनी हवाओं से वर्षा होती है, किन्तु ये देश इस जलवायु विभाग में शामिल नहीं किए जाते क्योंकि एक तो ये देश उष्ण-कटिबन्ध से बाहर हैं और दूसरे इनमें सर्दी बडी कड़ाके की पडती है ।



चित्र १०८ उष्णकटिबन्ध के मानसूनी और मरुस्थल प्रदेश । काले भाग मानसूनी प्रदेश है । इन्हीं अक्षांशों में मरुस्थल प्रदेश बिन्दुदार दिखाए गए हैं

३६५. जलवायु—मानसूनी देशों में ग्रीष्म ऋतु में तेज गरमी पड़ती है। गरमी से औसत तापक्रम ८०° से ९०° फा० तक रहता है। पश्चिमी पाकिस्तान के जेकोबाबाद नगर में तापक्रम १२६° फा० तक पहुँच जाता है । जाड़ों मे यहाँ मामूली जाड़ा पडता है परन्तु देश के भीतरी भागों में तापान्तर अधिक बढ जाता है । वर्षा यहाँ गर्मियों में होती है । जैसा कि पहले मानसून हवाओ के वर्णन में कह आये हैं यहाँ ग्रीष्म ऋतु में स्थल के भीतरी भाग पर गरमी के कारण न्यूनभार स्थापित हो जाता है । इसीलिए समुद्र की ओर से भाप से लदी हवायें चल पड़ती है जो वर्षा कर देती हैं । जाड़ों में स्थल पर वायुभार अधिक हो जाता है । अतः मानसून हवायें स्थल से जल की ओर चलती है और जाड़े सूखे बीत जाते हैं । कही-कही जाडे का मानसून समुद्र पर होता हुआ पहुँचता है और वर्षा कर देता है । मद्रास के पूर्वी तट, श्रीलका, अनाम और फिलिपाइन्स में इसी प्रकार वर्षा होती है। कभी-कभी उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात (Tropical Cyclone) अराकान तट या मलाबार तट पर वर्षा करता है ।

असली मानसूनी देशों में साल में तीन ऋतुएँ होती हैं—ग्रीष्म ऋतु, वर्षा ऋतु और शीत ऋतु । ग्रीष्म ऋतु मार्च से जून तक रहती है । अप्रैल या मई और कहीं-कहीं पर जून भी सबसे गरम महीना होता है । जून के अन्त में वर्षा अचानक प्रारम्भ

हो जाती है और वर्षा के बाद तापक्रम काफी कम हो जाता है। वर्षा ऋतु सितम्बर या अक्टूबर तक रहती है। साल भर की ८५ प्रतिशत वर्षा इसी ऋतु में हो चुकती है। अक्टूबर से मार्च तक जाडे की ऋतु होती है।

वर्षा की मात्रा मुख्यत धरती के उभार (Relief) और वायु की दिशा पर निर्भर होती है। जहाँ हवा को पर्वतो पर चढ़ना पड़ता है वहाँ अधिक वर्षा होती है। मैदानो में कम वर्षा होती है। उदाहरण के लिए चेरापूंजी में वर्षा ऋतु में ५००" वर्षा होती है परन्तु कलकत्ता में ६५" वर्षा होती है। इसी प्रकार भाप से लदी हवा देश में जितनी भीतर घुसती है वर्षा की मात्रा उतनी ही कम होती जाती है, शिमला में ८०" वर्षा होती है किन्तु देश के भीतरी नगर लाहौर में केवल १८" ही वर्षा होती है।

स्थान	समुद्रतल से ऊँचाई	अधिकतम तापक्रम फा०	न्यूनतम तापक्रम	तापान्तर	वार्षिक वर्षा
बम्बई	३७ फुट	८५°	७५°	१०°	७८·१"
दिली	७१८ फुट	९२°	५८°	३४°	२७·८"
हाँगकाँग	१०८ फुट	८२°	५९°	२२°	८५·१"

३६६. **वनस्पति**—मानसूनी खण्ड के वर्षा और गरमी की अधिकता वाले उन भागों में जहाँ वर्षा ८०" से ज्यादा होती है, सदा हरे रहने वाले वन पाये जाते हैं। ४०" मे ८०" तक की वर्षा वाले भागों में मानसूनी जंगल है। मानसूनी वनो में बडे उपयोगी पेड है जिनका काटना आसान है और उनकी लकडी भी बहुत मजबूत होती है। उन पेड़ों में सागौन, देवदारु और सीसम बहुत प्रसिद्ध है। बाँस भी बहुत होते है। २०" से ४०" वर्षा वाले भागो मे घास और काँटेदार पेड़ होते है। काँटेदार पेडो में बबूल बहुत उपयोगी पेड़ है। २०" से कम वर्षा वाले भागो में केवल कँटीली झाडियाँ पैदा होती है।

३६७. **पशु**—यहाँ पर लगभग वे सभी पशु पाये जाते है जो सूडान टाइप में होते है। हिमालय का याक पशु तथा ब्रह्मा और स्याम (थाई देश) के हाथी अधिक प्रसिद्ध है।

३६८. **आर्थिक परिस्थिति**—मानसूनी जलवायु सरदी, गरमी और वर्षा की विभिन्नताओं का ऐसा विचित्र सम्मिश्रण उपस्थित करती है जिसकी समता नहीं हो

सकती। भारतीय विद्वानों ने भारत में छ: ऋतुएँ मानी थीं। वर्षा भी कहीं कम और कहीं अधिक होती है। तापक्रम और वर्षा के इस विचित्र सम्मेलन के कारण यहाँ अनेक प्रकार की फसलें पैदा होती हैं। यह जलवायु खेती के लिए सर्वोत्तम है। इसलिए यहाँ वर्ष मे दो और कहीं कही तीन फसलें होती है। जिन स्थानों पर पानी की कमी मालूम पडी वही पर सिचाई का प्रबन्ध किया गया है। भारत और मध्य अमेरिका में सिचाई का सुन्दर प्रबन्ध है। यहाँ सिचाई की योजनाओ के लिए करोडों रुपये खर्च होते है। इन भागों की अधिकाश जनता खेती करती है। चावल, जूट, तिलहन और चाय मानसूनी देशों की मुख्य उपज है। अधिक वर्षा में गन्ना होता है और सूखे भागो में गेहूँ और कपास पैदा होते है। यही कारण है कि ससार की लगभग आधी जनसख्या एशिया के मानसूनी देशो में पाई जाती है।

इन देशो मे बहुमूल्य खनिज भी मिलते है जिनका धीरे-धीरे विकास हो रहा है। भारत देश में औद्योगिक उन्नति की दौड भी जारी है और निकट भविष्य में यह उच्चकोटि का औद्योगिक देश बन जायगा।

(४) उष्ण मरुस्थल (Hot Deserts)

३६९. **स्थिति**—उष्ण मरुस्थलीय भाग महाद्वीपो के पश्चिमी भागों में २०° और ३०° अक्षाशों के बीच मे पाये जाते है। मरुस्थलो का विस्तार देश की प्राकृतिक दशा पर निर्भर है। जहाँ पर महाद्वीपों का विस्तार कम है अथवा पर्वतश्रेणियाँ पश्चिमी तट के समानान्तर चली गई है, वहाँ पर मरुस्थल का क्षेत्र भी कम है और उनका विस्तार उत्तर-दक्षिण है। परन्तु जहाँ महाद्वीपो का विस्तार अधिक है वहाँ मरुस्थल का विस्तार भी अधिक हो गया है। ऐसे भाग थार अरब, सहारा, कालाहारी, अरीजोना और कोलोरेडो, अटाकामा तथा पश्चिमी आस्ट्रेलिया है।

३७०. **मरुस्थली जलवायु के कारण**—(१) ये भाग ट्रेड हवाओं की पेटी मे है जो ठण्डे अक्षांशो से गरम अक्षाशो की ओर चलती है, अतः सूखी है। (२) हवाओ की पेटियो के खिसकने के फलस्वरूप भूमध्यरेखिक न्यूनभार अधिक-से-अधिक २०° उत्तर या दक्षिण तक पहुँचता है। दूसरी वर्षा लाने वाली पछवा हवाओं की पेटी भी जाडो में ३०° अक्षांश से नीचे नही जाती। अतः यह भाग सूखे रह जाते हैं। (३) इन भागो में हवायें ऊपर से नीचे की ओर आती है जो सूखी होती है। (४) २०° और ३०° अक्षांशों में महाद्वीपों के पश्चिमी भागों मे ठण्डी धारायें बहती है जो वर्षा के अनुकूल नही होती।

३७१. **जलवायु**—संक्षेप में यहाँ की जलवायु शुष्क और विषम है। यहाँ बादल शायद ही कभी होते हों। साल भर सूर्य तेजी से चमकता है। गरमी की ऋतु

में यहाँ संसार भर में सबसे अधिक गरमी पड़ती है। यहाँ गरमी का औसत तापक्रम ९०° फा० से अधिक ही रहता है। मरुस्थलों में पानी की कमी होने से भाप बनाने में गरमी खर्च नही होती। अत. यहाँ ९ बजे से ही असह्य गरमी पड़ने लगती है। दोपहर से ३ बजे तक धरती से ऐसी गरम लपटें निकलती है जैसे गरम भाड से निकला करती हैं। गरम रेत में आप मज़े में चने भून सकते है। दिन का अधिकतम तापक्रम १२०° या १३०° फा० हो जाता है। रात के समय हवा इतनी स्थिर हो जाती है कि दिये की लौ भी नही हिल सकती। तापक्रम बड़ी जल्दी गिरने लगता है। रात का तापक्रम ७०° फा० तक पहुँच जाता है। इस प्रकार यहाँ पर दैनिक तापान्तर बहुत अधिक होता है। गरमी में भी आधी रात के समय ठण्ड के कारण लोगों की कँपकँपी बँध जाया करती है। दिन में दहकते हुए सूर्य से अपनी रक्षा करने के लिए इन भागों की सड़कें तंग और टेढी-मेढी होती है। उत्तरी अफ्रीका के कई शहरों में बाज़ारों की सड़कें ऊपर छत बनाकर पाट दी जाती है। दिन की भयानक गरमी के कारण यहाँ पर धूल की आँधियाँ चला करती है। गरमी से हवा गरम हो जाती है और साथ में धूल भी उडा ले जाती है। यही न्यूनभार की आँधी बन जाती है। जाड़ों में यहाँ काफी ठण्ड रहती है। गरमी और जाड़ों के तापक्रम में ६०° फा० का अन्तर रहता है।

मरुस्थलों में वर्षा का प्रायः अभाव रहता है। दक्षिणी अमेरिका के इक्तिवे नगर में ½" वर्षा होती है। सहारा की वर्षा का औसत ५" है। किसी भी मरुस्थल पर १०" से अधिक वर्षा नही होती है।

३७२. वनस्पति—यहाँ पर कही-कहीं कँटीली झाडियाँ होती हैं। जहाँ कहीं भूमि के नीचे पानी एकत्र होता है वहाँ नखलिस्तान बन जाते है जिसमें खजूर आदि पेड़ पैदा हो जाते है। इस भूमिगत पानी को आर्टिजन कुएँ खोदकर निकाला जाता है। यहाँ पर ऊँट, भेड़, बकरी आदि पशु पाले जाते है और अरब देश के घोड़े भी प्रसिद्ध है।

३७३. आर्थिक परिस्थिति—मरुस्थलों में मानव-जीवन कठिनाइयों से परिपूर्ण है, अत· यहाँ पर जनसंख्या बहुत कम है। शुष्क जलवायु होने के कारण यहाँ के लोग बड़े मजबूत होते है। रेतीली धरती और धूलभरी आँधियों के कारण यहाँ पर सड़कें और रेलें भी नहीं बन सकती। यहाँ के निवासियों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) कुछ पुराने असभ्य लोग खानाबदोश है। ये लोग शिकार करके, लूट पाट करके तथा काफ़िले लादकर जीवन निर्वाह करते है। इनमें कालाहारी के बुशमैन और अरब के बद्दू मुख्य है।

(२) नखलिस्तानों और मरुस्थलों के अन्तिम छोर पर स्थायी घर बनाकर लोग रहते हैं। ये लोग खेती करते हैं और ज्वार-बाजरा, तम्बाकू, फल आदि उगा लेते हैं। खजूर उनका मुख्य भोजन है। कुछ लोग पशुपालन भी करते हैं।

(३) अन्य देशों के सभ्य लोग यहाँ के खनिज-पदार्थों को प्राप्त करने के लालच से जा बसे हैं।

प्रश्न

1. Describe in detail the equatorial type of climate.

2. "Most of the hot deserts of the world are found on the western margins of the continents in those latitudes where the steady trades blow." Discuss the statement.

(*Agra B.A. 1954*)

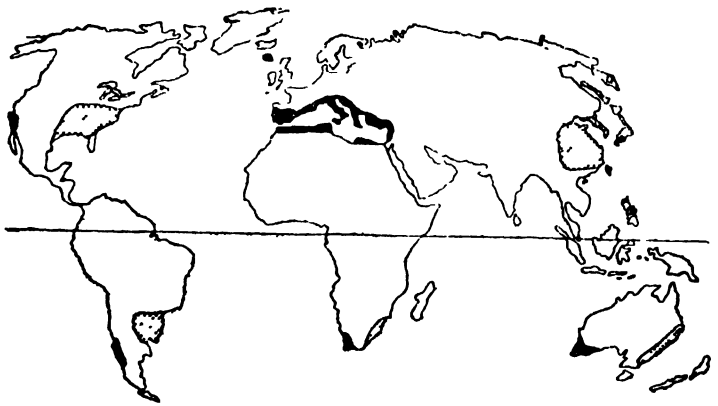
पच्चासवाँ अध्याय

शीतोष्ण कटिबन्ध के गरम प्रदेशों में

(५) भूमध्यसागरीय जलवायु-विभाग

३७४. स्थिति— ये प्रदेश ३०° और ४५° अक्षांशों के बीच में महाद्वीपों के पश्चिमी भाग में स्थित हैं। इस विभाग में भूमध्यसागर के आस-पास के देश, कैलीफोर्निया का मध्यभाग, चिली का मध्यभाग, केप ऑफ गुड होप, न्यूजीलैण्ड का उत्तरी द्वीप तथा आस्ट्रेलिया का दक्षिण-पश्चिमी और दक्षिणी कोना शामिल है।

३७५. जलवायु—इस विभाग में गरमी खूब पडती है। गरमी में औसत तापक्रम ७०° और ८०° के बीच में रहता है। आकाश साफ रहता है और मौसम सुहावना



चित्र १०६. शीतोष्ण कटिबन्ध के गरम प्रदेश। काले भाग भूमध्यसागरीय प्रदेश और बिन्दुदार भाग चीन जैसी जलवायु वाला प्रदेश है

रहता है। जाड़ों में अधिक ठण्ड नहीं होती। जाडो का औसत तापक्रम ४५° या ५०° के लगभग रहता है। गरमी और जाड़ो के तापक्रम मे ३०° से अधिक अन्तर नहीं पड़ता।

वर्षा यहाँ पर जाडों मे होती है। वर्षा की मात्रा पश्चिम से पूर्व की ओर तथा उत्तर से दक्षिण की ओर कम होती जाती है। औसत वर्षा २०" से ३०" तक होती है। वर्षा मूसलाधार होती है और जल्दी ही समाप्त हो जाती है। मूसलाधार वर्षा होने के कारण मिट्टी बह जाया करती है।

स्थान	अधिकतम तापक्रम फा०	न्यूनतम तापक्रम	वार्षिक तापान्तर	वार्षिक वर्षा
रोम	७६°	४५°	३१	३२·७″
केपटाऊन	७०°	५५°	१५	२५ ३″

३७६. वनस्पति—इन प्रदेशो मे ऐसे वृक्ष उत्पन्न होते है जो गर्मियो के सूखे समय को भी सह सके । यहाँ के वृक्षों की पत्तियाँ और छाल मोटी और जड़े गाँठदार होती है । इन पेडो मे जैतून मुख्य है । यह पेड इस जलवायु विभाग का इतना विशेष पेड है कि इस जलवायु की उत्तरी सीमा जैतून के वृक्षो की उपज तक मानी जाती है । अन्य पेडो में ओक, चीड, फर, अजीर और सैदर मुख्य है । आस्ट्रेलिया के इस विभाग मे केरी और जर्रा पेड होते है ।

कम वर्षा वाले भागो मे काँटेदार झाड़ियाँ पैदा हो जाती है जिनमें मेंहदी आदि शामिल है । इन झाडियो की पत्तियो को भेड-बकरी खा लेती है ।

३७७. आर्थिक परिस्थितियाँ—इस जलवायु विभाग में फल उगाना, खेती करना और भेड़-बकरी पालना मुख्य धन्धे है । स्वच्छ आकाश और कड़ी गरमी मे फल सुखाकर पेटियो में बन्द कर देना सुलभ है । अत इन भागो मे यह धधा खूब पनपा है । इन विभागो की जलवायु रसदार फल उगाने के लिए आदर्श है, अत यहाँ से रसदार तथा अन्य फल बाहर भेजे जाते है । रसदार फलों मे सन्तरा बहुत प्रसिद्ध है । अन्य फलों मे अँगूर, अजीर, जैतून, सेव, शहतूत आदि प्रसिद्ध है । अँगूर को सुखाकर किशमिश और दाख बनाते है तथा शराब भी बनायी जाती है । शहतूत की उपज के कारण रेशम का कीडा पाला जाता है और रेशम उत्पन्न किया जाता है । यहाँ पर मुख्यत: गेहूँ और जौ की पैदावार सबसे अधिक होती है तथा भेड़ो से ऊन प्राप्त की जाती है ।

जैतून का पेड यहाँ का अत्यन्त उपयोगी पेड़ है । यहाँ के लोग जैतून के तेल से रोटियाँ चुपडकर खाते है और उसी से मिठाइयाँ बनाते है । इसका कारण यह है कि गरमी की ऋतु में वर्षा न होने से यहाँ पर अच्छी घास नही होती ताकि गाय-भैंस पाल सकें । केवल पठारी भागों पर कड़ी घास या झाडियाँ होती हैं जहाँ भेड़-बकरी चर सकती है । फलत:, यहाँ दूध-मक्खन का अभाव है । अन्य उपयोगी पेड़ ओक और कार्क हैं ।

इन भागों में खनिज पदार्थों की कमी होने से लोहे और फौलाद के उद्योग नहीं बन सके हैं ।

(६) गरम शीतोष्ण के मध्यवर्ती या स्टेप्स जैसी जलवायु

३७८. स्थिति—यह जलवायु ३० और ४५ अक्षांशों के बीच में महाद्वीपो में पाई जाती है। इस जलवायु विभाग में कनाडा और सयुक्त राज्य के प्रेरीज, एशिया के स्टेप्स, अर्जेण्टाइना के पैम्पाज, दक्षिणी आस्ट्रेलिया के वेल्ड्स और आस्ट्रेलिया के डाउन्स मैदान सम्मिलित है।

३७९. जलवायु—महाद्वीपों के मध्यभाग मे स्थित होने तथा समुद्र से दूर होने के कारण इन मैदानों की जलवायु बहुत ही विषम है। गर्मियों में यहाँ काफी तेज गरमी पडती है। गरमी का औसत तापक्रम ८०° फा० रहता है और जाड़ों में तापक्रम ३२° फा० से नीचे पहुँच जाता है जिससे यहाँ कड़ाके का जाडा पडता है। वर्षा वसन्त और गरमी के प्रारम्भकाल में होती है तथा उसकी मात्रा बहुत कम (२०" से कम) है। वर्षा वाहनिक होती है।

स्थान	समुद्रतल से ऊँचाई	जुलाई का तापक्रम	जनवरी का तापक्रम	वार्षिक तापान्तर	वार्षिक वर्षा
बिस्मार्क	१६७४ फुट	७०	८	६२	१७·६"
बुडापेस्ट	५०९ फुट	७०·३	२८·२	४२·१	२३·१"
पोर्टआर्थर	६४८ फुट	६२·२	७·०	५५·२	२३ ३"

३८०. वनस्पति—इस विभाग मे मीलो तक घास ही घास पैदा होती है। यह घास सवाना घास से छोटी, मुलायम और बढिया होती है। जिस तरह सवाना घास के मैदानो में पेड पैदा हो जाते है उस तरह के पेड यहाँ बिलकुल नही हो पाते। यहाँ के शुष्क और ठण्डे जाड़े तथा गरमी में थोड़ी सी वर्षा और उस पर तेज गरमी से पानी का भाप बनना पेडो के जीवन के लिए विषम बाधाये है। नदी के किनारे तथा अधिक वर्षा वाले भागों में ही पेड पनप सकते है।

३८१. आर्थिक परिस्थितियाँ—एशिया के स्टेप्स में खिरगीज लोग पशुपालन करते है। पहले ये अपने तम्बू का घर इधर से उधर लिए फिरते थे परन्तु अब स्थिति बदल गई है। सिचाई के उत्तम प्रबन्ध से वहाँ खेती खूब पनपने लगी है। पैम्पाज के गावचू और उत्तरी अमेरिका के रैड इण्डियन शिकार करते थे। परन्तु वहाँ अब श्वेत जाति के लोग जा बसे है और इन मैदानो मे उत्तम खेती होती है। ये मैदान गेहूँ की उपज के लिए सारे ससार में प्रसिद्ध हैं। सूखे प्रेरीज मे और सूखे स्टेप्स में नदियों से सिचाई करते है। प्रेरी के मैदानो में मशीनो से खेती होती है तथा पशुपालन के धंधों

से चमडा रंगना, मांस व हड्डियों के बचे हुए भाग से तरह-तरह की चीजें बनाना दिनोंदिन उन्नति कर रहा है । एशिया में ये मैदान उत्तर में जगलो तथा दक्षिण में रेगिस्तानो से घिरे होने के कारण आवागमन के उत्तम साधन रहे थे । आज भी इस भाग की ट्रान्स साइबेरियन रेलवे तथा अन्य मैदानो की रेले बडी उपयोगी है ।

(७) गरम शीतोष्ण के पूर्वीय तटवर्ती या चीन जैसी जलवायु

३८२ **स्थिति**—यह जलवायु विभाग समशीतोष्ण कटिबन्ध में महाद्वीपो के पूर्वी तटो पर ३०° से ४५° अक्षाशो तक पाए जाते है । इन विभागो को शीतोष्ण कटिबन्धीय मानसूनी विभाग (Temperate Monsoon Type) भी कहा जाता है । इस विभाग मे उत्तरी और मध्य चीन, जापान, दक्षिण-पूर्वी सयुक्त राज्य, दक्षिण-पूर्वी आस्ट्रेलिया और दक्षिण-पूर्वी अफ्रीका के तटीय भाग, उरुग्वे तथा ब्राजील का दक्षिण-पूर्वी तट शामिल है । यद्यपि इस विभाग की मुख्य जलवायु सम्बन्धी विशेषताये एक सी है परन्तु भिन्न-भिन्न स्थानो पर स्थानीय विशेष परिस्थितियो के कारण जलवायु और वर्षा में काफी अन्तर हो गया है ।

३८३ **जलवायु**—ग्रीष्म ऋतु मे यहाँ काफी गरमी पडती है । गरमी का तापक्रम ८०° फा० तक पहुँच जाता है, परन्तु जाडो में यहाँ अधिक सर्दी है । जाडो में मध्य एशिया से और कनाडा के उत्तरी भाग से ठण्डी हवाये चलती है जिससे चीन, जापान आदि देशो का तापक्रम हिमाक (Freezing Point) से भी नीचे गिर जाता है । इन हवाओ का प्रभाव एपैलेचियन पर्वतो के कारण पूर्वी सयुक्तराज्य में नही हो पाता, परन्तु ये हवाये दक्षिण में मैक्सिको की खाडी के बन्दरगाहों और फ्लोरिडा प्रायद्वीप को काफी ठण्डा बना देती है ।

वर्षा यहाँ पर्याप्त (३०" से ५०" तक) होती है । कुछ भागो में साल भर वर्षा होती है, परन्तु अधिकतर भागो मे ग्रीष्म ऋतु मे ही सारी वर्षा हो लेती है । यहाँ पर गर्मियो मे समुद्र से स्थल की ओर हवाये चलती है जो पानी बरसाती है ।

स्थान	समुद्रतल से ऊँचाई	जुलाई का तापक्रम फा०	जनवरी का तापक्रम	वार्षिक तापान्तर	वार्षिक वर्षा
शंघाई	३३ फुट	८०·४	३७·६	४२·८°	४५·८"
सिडनी	१४६ फुट	५३·०	७२·०	१९	४७·९"
सेंटलुई	५६८ फुट	७९·१	३१·०	४८·१	४०"

३८४ वनस्पति—गरम और आर्द्र गर्मियों के कारण यहाँ पर चौड़ी पत्तियों वाले हरे-भरे पेड़ों के वन पाये जाते हैं। ये पेड़ जाड़ों में अपने पत्ते गिराकर शीत से अपनी रक्षा कर लेते हैं। इन वनों के पेड़ बड़े उपयोगी हैं। इनमें कपूर, शहतूत, बाँस आदि प्रसिद्ध हैं। आस्ट्रेलिया का यूकलिप्टस पेड़ बड़ा उपयोगी है।

३८५. आर्थिक परिस्थितियाँ—इन प्रदेशों में जलवायु खेती के बहुत अनुकूल है। अतः यहाँ का मुख्य धन्धा खेती करना है। कपास, चावल, तम्बाकू, मक्का तथा गेहूँ यहाँ पर काफी पैदा होते हैं। रेशम का धन्धा भी काफी उन्नति कर गया है। इन भागों में उद्योग-धन्धे भी पनप रहे हैं।

प्रश्न

1. Write a detailed account of the Mediterranean type of climate.

(*Agra B.A. 1950*)

2. Describe the prairie type of climate

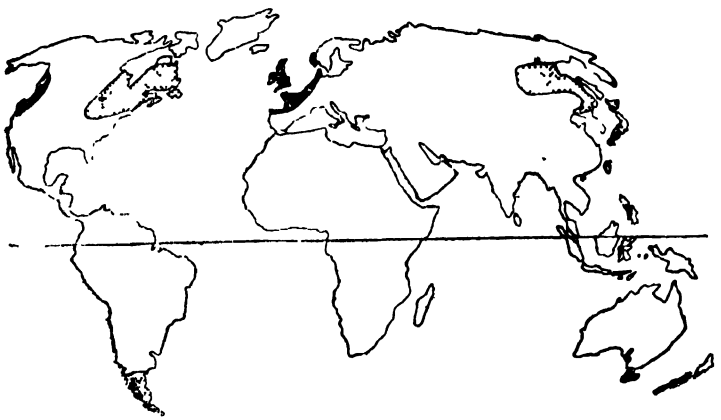
छब्बीसवाँ अध्याय

शीतोष्ण कटिबन्ध के शीतल भागों में

(८) पश्चिमी यूरोप जैसी जलवायु

३८६. स्थिति—यह जलवायु-विभाग महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में ४५° से ६०° या ६५° अक्षांशों तक स्थित है । इसमें ब्रिटेन, नार्वे, डेनमार्क, हालैण्ड, बेलजियम, जर्मनी, उत्तरी फ्रांस, ब्रिटिश कोलम्बिया, दक्षिणी चिली तथा न्यूजीलैण्ड का दक्षिणी द्वीप शामिल है ।

३८७. मुख्य विशेषताएँ—(१) यह जलवायु विभाग समुद्र के समीप स्थित है । अतः समुद्र का प्रभाव जलवायु को सम बनाता है । यहाँ के समुद्रो में गरम धारा



(चित्र ११०. शीतोष्ण कटिबन्ध के शीतल प्रदेश काले भाग पश्चिमी यूरोप जैसे और बिन्दुदार भाग मंचूरिया जैसे प्रदेश हैं)

(उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह) बहती है जो इस विभाग के सभी देशो के समुद्रतटो को स्पर्श करती है । गरम धारा के प्रभाव से इस प्रदेश का जाड़ो का औसत तापमान अपने अक्षांश को देखते हुए बहुत ऊँचा रहता है । गरम धारा की तरफ से चलने वाली पछवा हवायें भी इस प्रदेश को काफी सम बनाती है ।

(२) इस प्रदेश में साल भर वर्षा होती है । यहाँ पर सामान्यतः हमेशा ही आकाश में बादल छाये रहते हैं और धूप बहुत कम निकल पाती है । यहाँ पर कुहरा और धुन्ध छाई रहती है ।

(३) चक्रवातों के प्रभाव से इस प्रदेश का मौसम काफी अस्थिर रहता है। भारत की तरह अलग-अलग सुस्पष्ट ऋतुयें और साफ मौसम यहाँ पर नही होना।

३८८. **जलवायु**—इन देशों की जलवायु पर समुद्र का अत्यधिक प्रभाव है। अतः यहाँ ग्रीष्म ऋतु बडी सुहावनी होती है और जाड़ों में बहुत कम ठण्ड पड़ती है। इसी से यहा का जलवायु सम कहा जाता है। यहाँ पर गरमी का तापक्रम ६०° फा० और जाड़ों में ४०° फा० रहता है। गरमी और जाडों में तापक्रम का अन्तर २०° अंश के लगभग रहता है। उच्च अक्षांशों में स्थित होने पर भी यहाँ जाड़ों में इतनी कम ठण्ड पडती है कि तापक्रम हिमांक (३२° फा०) से नीचे नही जाता। इसका मुख्य कारण यहाँ की गरम धाराये है। उदाहरण के लिए गल्फस्ट्रीम धारा पश्चिमी यूरोप को और क्यूरीसिवो धारा ब्रिटिश कोलम्बिया को गरम बनाती है। धाराओ के अतिरिक्त पछवा हवाये भी गरम अक्षाशो से चलकर आती है। चक्रवात हवाओ के मार्ग में स्थित होने के कारण इन भागो मे कभी-कभी दैनिक तापान्तर बहुत अधिक हो जाता है। मौसम इतना अनिश्चित रहता है कि किसी दिन एक घण्टे मे ही तापक्रम २० अंश नीचे पहुँच जाता है। एक दिन में ३० या ४० अंश गिर जाना कोई बड़ी बात नही है।

यह प्रदेश ससार के पर्याप्त वर्षा वाले भागों में गिने जाते है। यहाँ साल भर वर्षा होती रहती है, परन्तु जाड़ों में और शरद ऋतु (Autumn) में अधिक वर्षा होती है। यहाँ वर्षा का औसत ३० इच है. परन्तु ऐसे पहाड़ी स्थानो में, जो पछवा हवाओ के मार्ग में पडते है, ज्यादा वर्षा होती है। स्नोडोनिया (वेल्स) में २००″, चिली के पर्वतों पर २००″ और नार्वे की पहाडियो पर १००″ पानी बरसता है। ज्यों-ज्यो हवायें पूर्व की ओर आगे बढती है, वर्षा की मात्रा भी घटती जाती है।

स्थान	जुलाई का तापक्रम	जनवरी का तापक्रम	वार्षिक तापान्तर	वार्षिक वर्षा
लंदन	६२·७	३८·२	२३·८	२४·५″
पेरिस	६६·५	३६·५	२९	२२·६″
वैंकोवर	६३	३६	२७	५९·८″

३८९. **वतस्पति**—यहाँ पर चौड़ी पत्तियो वाले पेडों के वन होते है। ये पेड़ जाड़ों में पत्ते गिराकर ठण्ड से अपनी रक्षा करते है। इन पेड़ों में ओक, ऐस्पिन, बीच,

ऐल्म, बर्च और बालनट मुख्य है। यूरोप में इन वनो को काटकर साफ कर दिया गया है। इस प्रदेश के पहाड़ी भागों में कोणधारी वन पाये जाते है जिसमें पाइन वृक्षों की अधिकता है।

३९०. **आर्थिक परिस्थितियाँ**—अपनी उत्तम भौगोलिक स्थिति, स्वास्थ्यप्रद जलवायु, कटी-फटी तटरेखा, उत्तम मिट्टी तथा लोहा और कोयला जैसे औद्योगिक खनिज पदार्थो के पाए जाने के कारण इस विभाग के देशों मे काफी उन्नति हुई है। इस दृष्टि मे पश्चिमी यूरोप अत्यन्त भाग्यशाली है। वैज्ञानिक यन्त्रों और खादों की सहायता से खेती की उपज कई गुनी अधिक बढा दी है। खनिजों की सहायता से औद्योगिक उन्नति भी खूब हुई है और इसी औद्योगिक उन्नति के कारण व्यापार भी विशाल पैमाने पर होता है। यहाँ के समुद्रो में उत्तम कोटि की मछलियाँ भी पकडी जाती है। इस प्रकार यहाँ पर जनसख्या ससार मे सबसे अधिक घनी है। चिली इस विभाग का पिछड़ा हुआ देश है।

(९) शीतल शीतोष्ण महाद्वीपीय जलवायु अथवा साइबेरियन टाइप

३९१. **स्थिति**—यह जलवायु-विभाग ४५° से ६५° अक्षांशों तक महाद्वीपों के बीच में स्थित है। इस भाग में कनाडा तथा यूरेशिया के उत्तरी भाग शामिल है।

३९२. **जलवायु**—समुद्र से दूर तथा उच्च अक्षाशो में स्थित होने के कारण यहाँ की जलवायु काफी विषम (Extreme) है। ग्रीष्म ऋतु की अवधि छोटी होती है। गरमी के दिन काफी लम्बे है, अतः गरमी काफी गरम होती है। गरमी का तापक्रम ७०° फा० तक पहुँच जाता है। परन्तु जाडो की ऋतु लम्बी होती है और इस ऋतु में दिन भी छोटे होते है। फलतः, जाडो में कडाके की सर्दी पड़ती है। जाड़ों मे तापक्रम प्रायः ०° फा० से नीचे ही रहता है।

वर्षा थोड़ी और वसन्त तथा गरमियो के शुरू मे होती है। वर्षा का औसत लगभग २०" है। यह वर्षा प्रायः वाहनिक होती है।

३९३. **वनस्पति**—यह प्रदेश सदा बहार तथा नुकीले पत्तियो वाले पेड़ों से ढँके है जिन्हें कोणधारी वन कहते है। स्थानीय प्राकृतिक अवस्था अथवा हवाओं की दिशा के कारण तथा समुद्र से दूर स्थित होने के कारण इन वनों के दक्षिणी भाग में कही-कही पर वर्षा बहुत कम होती है जिससे वहाँ पर वृक्षों के स्थान पर घास उत्पन्न होती है। यह घास स्टेप्स-जैसे घास के मैदानो का परिवर्द्धित रूप ही मालूम पड़ती है। कनाडा के अलबर्टा प्रान्त में तथा मध्य साइबेरिया में घास इस जलवायु विभाग की प्राकृतिक उपज है। इन अपवादों को छोड़कर प्रायः जंगलों का विस्तार अटूट सा चला गया है। इन वनों को दक्षिणी सीमा ग्रीष्म ऋतु की ५०° फा० समतापरेखा

है। इन वनों में वृक्षों की कई किस्में नहीं होती बल्कि यहाँ मुश्किल से ७ या ८ तरह के पेड़ होते हैं। इन पेड़ों में पाइन, फर, स्प्रूस और लार्च मुख्य है। इन बनों में कही कहीं चौड़ी पत्ती वाले बर्च, ऐस्पिन आदि पेड़ भी उत्पन्न हो जाते है। अन्यथा यहाँ के पेड़ों की पत्तियाँ नुकीली है। इसका कारण यह है कि तेज हवाओं से नमी को बचाने के लिए नुकीली पत्ती का कम अंश ही हवा के सामने रहता है। यही कारण है कि इन पेडों पर पत्तियाँ भी कम होती है। पेडों के नीचे बाँस आदि भी नही होते। एक स्थान पर एक ही किस्म के बहुत से पेड होने से उनका प्राप्त करना आसान है। इन वनों में आग लग जाने से बड़ी हानि होती है। इसलिए वहाँ के स्कूलो में विद्यार्थियों को वर्षो तक आग से सावधान रहने की तथा आग बुझाने की ट्रेनिग दी जाती है। अखबारों में भी इसी सम्बन्ध की सूचनायें प्रकाशित होती रहती है।

३९४. **आर्थिक परिस्थितियाँ**—यहाँ के लोगों के मुख्य धन्धे लकड़ी काटना, समूर वाले जानवरों को पकडना, खानें खोदना, नदियों या झीलो में मछली पकड़ना तथा खेती करना आदि है। जाडे के दिनों में धरती बर्फ से ढँक जाती है। अत: बर्फ के चिकने तल पर बड़े-बड़े लट्ठे काटकर नदियों में इकट्ठे कर देते है। गरमियाँ आने पर लट्ठे नदियो में बहने लगते है। इन लट्ठो को तख्ते चीरने के कारखानो के समीप निकाल लिया जाता है। इन लट्ठो के तख्तो से पैकिंग का सामान, दियासलाई की तीलियाँ और बक्स, कागज की लुब्दी बनाई जाती है तथा लकड़ी के तारपीन का तेल और खुशबूदार धूप भी मिलती है।

समूरदार जानवर टुड्रा की ठण्ड से घबराकर इन वनो मे चले आते है। अत: जाड़ों में इन जानवरों को पकड़कर समूर इकट्ठी की जाती है। इन जानवरों में कई प्रकार की गिलहरियाँ, लोमडियाँ, बीवर आदि बडे सुन्दर रग के होते है।

जहाँ खनिज-पदार्थ मिलते है वहाँ खानें खोदी जाती है तथा नदियो और झीलों से मछलियाँ पकडी जाती है। जिन स्थानों पर पेड काट दिए गए है, वहाँ जौ, जई, राई आदि पैदा होते हैं। परन्तु यहाँ खेती की दशा अच्छी नही है क्योकि वसन्त में बर्फ पिघलने पर भूमि दलदली हो जाती है और बाद में गरमी की ऋतु जल्दी बीत जाती है जिससे फसल को पकने का पूरा समय नही मिल पाता।

(१०) शीतल शीतोष्ण पूर्वीयतट या सेण्ट लॉरेंस जैसी जलवायु

३९५. **स्थिति**—यह जलवायु-विभाग महाद्वीपों के पूर्व में उन्ही अक्षांशो में स्थित है जिसमें पश्चिमी यूरोप जैसे जलवायु वाला भाग है। इनमें मंचूरिया और अमूर नदी की घाटी, उत्तरी जापान, पूर्वी कनाडा, उत्तर-पूर्वी संयुक्त राज्य तथा पेटेगोनिया शामिल है। इस विभाग को मंचूरियन टाइप भी कहा जाता है।

३९६. जलवायु—इस भाग की जलवायु न तो पश्चिमी यूरोप जैसी सम (Equable) है और न मध्य भाग की तरह विषम ही है। यहाँ गर्मियों में साधारण गरमी पडती है। जौलाई का तापक्रम ७०° फा० हो जाता है। परन्तु जाडों में काफी ठण्ड पडती है। जाडो का तापक्रम हिमाक (३२° फा०) से नीचे गिर जाता है। इस विभाग के क्वेवेक शहर में जाड़े का तापक्रम १०° फा० रहता है जब कि आयरलैण्ड के वेलैन्शिया नगर मे ३२° फा० से ऊँचा रहता है और मध्य कनाडा (साइबेरियन टाइप) के विनिपेग नगर मे ०° से फा० भी नीचे गिर जाता है। वार्षिक तापान्तर ४०° फा० रहता है।

इस विभाग में वर्षा साधारण (२०-४० इच) तक होती है। साधारणतया वर्षा गर्मियो में ही होती है। क्योकि गरमी में ही हवायें जल से स्थल की ओर चलती है। परन्तु सेण्ट लॉरेंस नदी के बेसिन में चकवात हवाओ (Cyclones) से जाड़ों में भी वर्षा होती है। जाडो की वर्षा तुपारपात (Snowfall) के रूप में होती है क्योकि यहाँ जाड़ो का तापक्रम कम होता है। एण्डीज पर्वतो की स्थिति के कारण पछवा हवाये पेटेगोनिया में नही आ पाती। अत: यहाँ १०" से भी कम वर्षा होती है। एण्डीज पर्वतों की स्थिति के कारण ही पेटेगोनिया का तापक्रम जाड़ो में ३२° फा० से अधिक ऊँचा रहता है।

स्थान	जुलाई का तापक्रम	जनवरी का तापक्रम	वार्षिक तापान्तर	वार्षिक वर्षा
क्वेवेक	६८	९०	५८	४० ५"
व्लाडीवोस्टक	६९	५	६४	१५"
न्यूयार्क	७५	३०	४५	४२ ५"

३९७. वनस्पति—इस विभाग के अधिकाश भाग मे नुकीली पत्तियों वाले कोणधारी वन हैं। परन्तु इस विभाग के दक्षिण-पूर्वी भागों मे (सेण्ट लॉरेंस का बेसिन, उत्तर पूर्वी सयक्त राज्य और मंचूरिया) चौड़ी पत्तियो वाले वन है जो जाड़ों में पत्तियाँ गिरा देते है।

३९८. आर्थिक परिस्थितियाँ—इस विभाग में समूर वाले जानवर फँसाना, लकड़ी काटना, खेतो करना और मछली पकड़ना मुख्य धन्धे है। इस विभाग में पूर्वी

कनाडा तथा उत्तर-पूर्वी संयुक्त राज्य बहुत उन्नतिशील भाग है। यहाँ लोहा, कोयला जैसे औद्योगिक खनिज पाए जाते है जिससे यह भाग ससार के मुख्य औद्योगिक भागों में से है।

प्रश्न

1. Give an account of the west European oceainc climate and discuss the chief elements in it.

(*Agra B.A. 1947*)

2. Mention the chief characteristics of the west Europeon type of climate. In what respects does it differ from the St. Lawrence type ?

(*Agra B.A. 1953*)

सताईसवाँ अध्याय

अधिकतम ठण्डे देशों में

(११) टुण्ड्रा प्रदेश

३९९. **स्थिति**—कनाडा और यूरेशिया के ठेठ उत्तर में उत्तरी ध्रुववृत्त (Arctic Circle) के उत्तरी भाग में फैले हुए प्रदेश को टुण्ड्रा कहते हैं। इन्हे ठण्डे उजाड़ प्रदेश भी कहा जाता है। इनकी दक्षिणी सीमा की गरमी ५०° फा० समताप-रेखा है।

४००. **जलवायु**—इस प्रदेश मे जाड़े की ऋतु ८ महीने की होती है। इस ऋतु मे या तो सूर्य के दर्शन ही नही होते या बहुत थोडी देर के लिए होते है। अतः यहाँ बडी कडी सर्दी पडती है। झीलो का पानी काफी गहराई तक जम जाता है। तेज हवा के झोंके चलते रहते हैं जिसके साथ बर्फ के कण मिले रहते है। इन अंधड़ों को ब्लिजार्ड (Blizard) या बर्फ की आँधियाँ कहते है। जाडो का तापक्रम आम तौर से ०° फा० से नीचे रहता है। गरमी की ऋतु केवल चार महीने होती है। इस ऋतु में भी सूर्य क्षितिज से अधिक ऊँचा नही चढता, परन्तु दिन काफी लम्बा होता है। किसी-किसी भाग मे सूर्य कई महीनों तक नही छिपता। जौलाई मे तापक्रम ५०° फा० तक रहता है। गर्मियो में बर्फ पिघल जाती है जिससे नदियो मे बाढ़ आ जाती है और भूमि दलदली हो जाती है।

वर्षा यहाँ १०" से कम होती है। अधिकतर वर्षा गर्मियो मे होती है। जाड़ों मे वर्षा हिम रूप मे गिरती है। अधिक ठण्ड होने के कारण हिम बिलकुल नही पिघल पाता और हिम जमा होती रहती है। इसीलिए जाडो की वर्षा अधिक मालूम होती है।

४०१ **वनस्पति**—इस भाग में इतनी थोडी गरमी पडती है कि कोई पेड़ पनपने नही पाता। यहाँ 'मौस' नाम की काई-जैसी चीज और 'लिचिन' नाम का छोटा सा पौधा उत्पन्न हो जाते है। परन्तु दक्षिण की ओर ढाल वाले भागो मे गरमी कुछ अधिक रहने से छोटे-छोटे फूलदार पौधे पैदा हो जाते हैं। इन पौधो की ऊँचाई नौ इच के लगभग होती है और इन पर छोटे-छोटे रग-बिरगे और चमकीले फूल लगते है। जिस समय ये फूल खिलते हैं उस समय का दृश्य बडा ही मनभावन होता है।

४०२ **पशु**—इस भाग का मुख्य और उपयोगी पशु रेनडीयर या बारहसिगा है। रेनडीयर बर्फ के ऊपर फिसलने वाली बिना पहिए की स्लेज गाड़ी को खीचने के काम में आता है। इसीलिए यहाँ के निवासी इसको अधिक पालते हैं। यहाँ के कुत्ते

भी स्लेज गाड़ियों को खीचते है । अन्य पशुओं में लोमड़ी, गिलहरी, ध्रुवीय रीछ आदि समूर वाले जानवर है ।

४०३. **आर्थिक परिस्थितियाँ**—टुण्ड्रा के रहने वालों को यूरोप में लैप्स या जिन, एशिया में सैमोयाड्स और उत्तरी अमेरिका में एस्किमो कहते है । ये लोग ऐसी कठोर परिस्थितियों में रहते है कि इनका सभ्यता की दौड में उन्नति करना कठिन है । इनका मुख्य भोजन माँस है । ये लोग हारपून नामक भाले से सील मछली और बालरस का शिकार करते हैं । हारपून भाले की नोक पर समुद्री जानवरों के तेज नुकीले दाँत लगा दिए जाते है । समूर वाले जानवरों को फँसाकर उनके समूर और बाल एकत्र करते हैं । यहाँ पर खेती सम्भव नही है । यहाँ के निवासियों के भोजन, कपड़े, घर, हथियार और यातायात के साधन सभी कुछ जानवरों से ही प्राप्त हो सकता है । अतः माँस के अतिरिक्त जानवरों की खाल, दाँत, हड्डियाँ, सीने के काम के लिए आँतें और जलाने के लिए चर्बी इन लोगों के बड़े काम की चीजें है । रूस का समाजवादी शासन इन लोगों के जीवन को सुखमय बनाने का भरपूर प्रयत्न कर रहा है । जौ और जई की विशेष किस्म उत्पन्न की जा रही है और नदियों के तट पर, जहाँ कही पेड उग सकते है, लकड़ी काटने का व्यवसाय किया जा रहा है ।

(१२) हिममण्डित देश

४०४. **स्थिति**—ग्रीनलैण्ड, एण्टार्कटिक महाद्वीप और ध्रुवीय द्वीपों में इस जलवायु का विस्तर है ।

४०५ **जलवायु**—ये भाग सैकड़ो फुट मोटी बर्फ की तह से ढँके हैं । इनसे बर्फ की बडी-बड़ी चट्टानें टूटकर समुद्र में बहने लगती है । इन हिमशिलाओं को आइसवर्ग कहते है । ये शिलायें समुद्र में सैकड़ों मील तक बहती चली जाती है ।

यहाँ पर तापक्रम हमेशा हिमाक (Freezing Point) से नीचे ही रहता है । जो कुछ भी वर्षा होती है वह हिम रूप में ही होती है । यहाँ पर प्रायः बर्फ के तूफान (Blizzard) चला करते है ।

यहाँ पर समुद्री जानवर ही अधिक हैं । कुछ पक्षी भी पहुँच जाते है, परन्तु स्थली जीवों का अभाव सा है । ग्रीनलैण्ड के दक्षिणी तटो पर कुछ एस्किमो लोग रहते है । शेष समस्त भाग एक विशाल उजाड़ खण्ड है ।

प्रश्न

1. Give an account of the Tundra type of climate.

खण्ड ४

जलमण्डल

अट्ठाईसवाँ अध्याय

जलमण्डल (Hydrosphere)

४०६. **जल का महत्त्व**—समस्त भूतल का ७१ प्रतिशत भाग जल से आवृत्त है। इस जल-वेष्टित भाग को जलमण्डल कहते है। जिस समय हमारी पृथ्वी अपने जनक और महापिण्ड से अलग हुई हो उस समय कल्पनातीत गरमी के कारण सारे तत्त्व वायव्य (गैस की) अवस्था में रहे होंगे। लाखो वर्षो बाद कही हाइड्रोजन और ऑक्सीजन तत्त्वों को परस्पर रसायनिक सम्बन्ध जोडने को सुयोग मिला होगा और तभी जल का वाष्प रूप में जन्म हुआ होगा। अभी तक पृथ्वी भीषण महाताप मे धधक रही होगी। अत ज्योही जलवाष्प ठण्डी होकर जलरूप मे पृथ्वीतल पर गिरती होगी त्योही पृथ्वी की गरमी से पुन जलवाष्प मे बदलकर वायुमण्डल मे मिल जाती होगी। साथ ही इस क्रिया मे पृथ्वीतल के ठण्डे होने मे पर्याप्त सहायता मिली होगी। करोडो वर्षो के पश्चात पृथ्वी के ऊपरी तल के ठण्डे हो जाने पर यह सम्भव हुआ होगा कि भाप का जल बनकर भूतल के गड्ढो मे भर सके। पृथ्वीतल मे बहकर गड्ढों मे भरते समय जल में बहुत से नमक घुलकर मिल जाते होंगे। इसी प्रकार पृथ्वी के क्षार निरन्तर लाखो वर्षो तक उन्ही गड्ढो मे जमा होते रहे होंगे। ऐसी दशा में महासागरों का जल खारी हो गया है तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है! खारी जल से आपूर्ण पृथ्वीतल के गड्ढे ही आज महासागरो के नाम से विख्यात है। यों तो भूतल पर जल का एक ही विशाल परत फैला हुआ है, परन्तु मनुष्य ने अपनी सुविधा के विचार से इसको कई भागों में विभक्त कर दिया है। इन भागो में पाँच बडे-बडे भाग प्रशान्त महासागर, अटलाण्टिक महासागर, हिन्द महासागर, उत्तरी हिम महासागर और दक्षिणी हिम महासागर के नाम से विख्यात है। छोटे-छोटे भाग सागर, खाडी आदि कहलाते है। सम्पूर्ण धरातल के लगभग तीन-चौथाई भाग पर जल का आवरण देखकर ऐसी भ्रान्ति हो सकती है कि स्थल की अपेक्षा जल की मात्रा अधिक है। परन्तु प्राणी और वनस्पति के विकास के लिए जल और स्थल का यह अनुपात अत्यन्त आवश्यक है। विभिन्न प्राणियो और वनस्पतियों के शरीर में पानी प्रचुर परिमाण में रहता है। मानव-शरीर में अवस्था के अनुसार ६० से ८० प्रतिशत तक, पशुओ में ४० से ५० प्रतिशत तक, पक्षियों में ७५ प्रतिशत तक, जलजीवों में ८० प्रतिशत तथा वनस्पतियों

में ६० से ९८ प्रतिशत तक जल का अंश विद्यमान रहता है। ताजा लकड़ी में भी ५० प्रतिशत जल होता है। दूसरे जलवायु की विषमता को दूर करने के लिए भी जल का इतना अनुपात आवश्यक है।

इससे सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि जीवन के विकास के लिए जल कितने महत्त्व की चीज है। पृथ्वीतल के विभिन्न भागो पर जल का वितरण इन्ही महासागरों के विशाल भण्डार से हुआ करता है। यदि वितरण की प्राकृतिक व्यवस्था कुछ समय के लिए बन्द हो जाय, तो कुएँ, झरने, झील नदी आदि स्थल के सभी जल-भण्डार सूखकर समाप्त हो जायँ।

गहरे जल के आवृत्त होने के कारण समुद्र का गर्भप्रदेश बहुत दिनो तक मनुष्य के लिए रहस्यमय बना रहा। इन रहस्यों का उद्‌घाटन करने की जिज्ञासा से प्रेरित होकर मनुष्य ने जल-आवरण के भीतर झाँकने के अनेकों साहसपूर्ण प्रयत्न किये है। जिन लोगो ने समुद्र के भीतरी रहस्यों का पता लगाया है उनमें डॉ० बीब का नाम उल्लेखनीय है। डॉ० बीब ने अद्‌भुत बाथीस्फीअर या फौलादी पनडुब्बे गोले की सहायता से समुद्र की काफी गहरी सैर करके वहाँ के रहस्यों का पता चलाया है।

समुद्रों की गहराई

४०७. गहराई की नाप—समुद्र की गहराई सब जगह एक-सी नही है। स्थल-तल के समान ही समुद्रों की तली में अनेकों पहाड़ियाँ, घाटियाँ, मैदान और गड्ढे है। महासागरों में भरे हुए जल की मात्रा का अनुमान इस बात से ज्ञात हो जायगा कि यदि समस्त पृथ्वी को समतल बना दिया जाय तो महासागरो के पानी से पृथ्वीतल पर दो मील ऊँचा पानी का परत चढा रहेगा। सर जान मरे ने महासागरों की गहराई इस प्रकार निर्धारित की है—

गहराई		समस्त पृथ्वी का प्रतिशत
० फुट से ६००	फुट तक	५
६०० फुट से ३०००	फुट तक	३
३००० फुट से ६०००	फुट तक	२
६००० फुट से १२०००	फुट तक	१५
१२००० फुट से १८०००	फुट तक	४१
१८००० फुट से अधिक		५

समुद्र की गहराई फैदमों (Fathoms) में नापते है। एक फैदम ६ फुट का होता है। गहराई नापने की दो विधियाँ हैं। छिछले पानी में गहराई नापने के लिए किसी रस्सी के एक सिरे पर भारी बोझ बाँध देते है और तब तक उसको नीचे की ओर लटकाते जाते है जब तक वह बोझ तली पर जाकर टिक न जाय। फिर रस्सी

की लम्बाई नाप ली जाती है। गहरे समुद्रों में फैदमो-मीटर नामक यन्त्र से गहराई नापते हैं। इस यन्त्र मे एक ढोल लगा होता है जिसे समुद्रजल के पास बजाते हैं। ढोल से उत्पन्न ध्वनि-लहरें नीचे तली तक जाती हैं और वहाँ पर टकराकर ऊपर लौट आती हैं। ऊपर उन लहरों को हाइड्रोफोन (Hydrophone) मे पकड़ लिया जाता है। परीक्षण से पता चला है कि ध्वनि-लहरें जल के भीतर ४,८४० फुट प्रति सैकिण्ड की गति से चलती हैं। इन लहरों के वापिस पहुँचने तक का समय ज्ञात करके गहराई का पता चलाया जाता है।

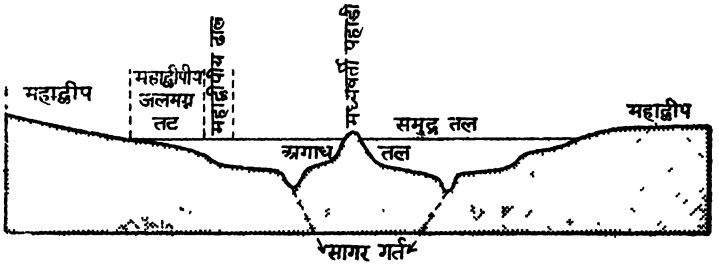
४०८. सामुद्रिक तली का तलरूप (Submarine Topography)—सामुद्रिक तली (या नितल) एक वक्र के रूप में होती है। गहराई के अनुसार समुद्र की तली को चार भागो में बाँट सकते हैं—(क) महाद्वीपीय निमग्न तट, (ख) महाद्वीपीय ढाल, (ग) अगाध सागरीय तल और (घ) सागर-गर्त।

४०९. महाद्वीपीय निमग्न तट (Continental Shelf)—किनारे के पास जो भूमिभाग जलमग्न रहता है उसे महाद्वीपीय निमग्न तट कहते हैं। जैसा कि नाम से प्रकट होता है यह भाग महाद्वीप का जल मे डूबा हुआ तट है। यह भाग उसी प्रकार जलमग्न रहता है जैसे नाव का कुछ भाग जल में डूबा हुआ रहता है। अन्तर्जात कारणों से यदि यह भाग जल से ऊँचा उठ जाय तो तट के पास स्थल के विस्तार में वृद्धि हो जायगी। तटीय भूमि की प्राकृतिक बनावट के अनुसार निमग्न तट का विस्तार न्यूनाधिक होता है। यदि तट के समीप समतल मैदान है जिसका ढाल क्रमिक (Gradual) है, तो निमग्न तट का विस्तार अधिक होगा। परन्तु यदि तटीय भाग की बनावट पर्वतीय है, तो निमग्न तट का विस्तार कम होगा। निमग्न तट की गहराई १०० फैदम (६०० फुट) तक होती है जिससे इनके ऊपर समुद्र छिछला होता है। इतनी गहराई तक सूर्य की किरणें प्रवेश कर जाती हैं। अतः इस भाग पर वनस्पति उत्पन्न हो सकती है और जीवो की उत्पत्ति एव वृद्धि होती है। नदियों द्वारा लाई हुई तलछट (Debris) अधिकांशतः इसी भाग पर जमा होती है। यही कारण है कि निमग्न तटों पर सामुद्रिक जीव बहुतायत मे पाये जाते हैं। मनुष्य के लिए इनका सबसे बड़ा उपयोग यह है कि यह भाग संसार के सबसे बड़े मछली पकड़ने के स्थान हैं। न्यूफाउण्डलैण्ड के समीप ग्राण्डबैंक और ब्रिटिश द्वीपो के समीप डागर बैंक इसके अच्छे उदाहरण हैं। समस्त पृथ्वी का ५ प्रतिशत भाग निमग्न तट है।

४१०. महाद्वीपीय ढाल (Continental Slope)—निमग्न तट के पश्चात् निमग्न ढाल शुरू होता है। इसकी गहराई १०० फैदम से २,००० फैदम तक समझी जाती है। निमग्न ढाल एकदम गहरा होने लगता है और अगाध सागरीय तल

(Deep Sea Plain) तक इसका विस्तार होता है। इसका विस्तार अपेक्षाकृत कम होता है। नदियों द्वारा लाई हुई तलछट के अत्यन्त सूक्ष्म कण इस भाग तक पहुँच जाते हैं। परन्तु इन कणों से ढाल की गहराई कम नहीं हो पाती।

४११. **अगाध सागरीय तल** (Deep Sea Plain)—महाद्वीपीय ढाल के समाप्त हो जाने पर अगाध सागरीय तल मिलता है। पृथ्वीतल के जलमग्न धरातल



चित्र १११. अटलाण्टिक महासागर की तली

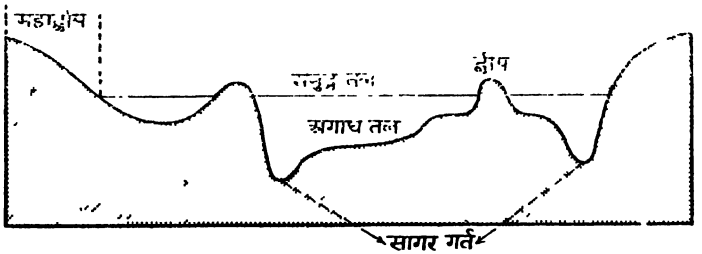
का अधिकांश भाग अगाध सागरीय तल का ही भाग है। यह अगाध तल ऊँचा-नीचा तो अवश्य होता है, परन्तु ऊँचे भाग इतने कम होते हैं कि इसको मैदान की भाँति समतल माना जा सकता है। इसकी ढाल भी क्रमिक होता है। स्थलखण्ड से नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी यहाँ तक नहीं पहुँच पाती। अतः इसके ऊपर सामुद्रिक जीवों के अवशेष और लाल मिट्टी (Red Clay) बिछी हुई पाई गई है। अनुमान है कि ज्वालामुखी की राख हवाओं द्वारा उड़ाकर यहाँ फेंक दी गई होगी। इसकी गहराई २,००० से ३,००० फैदम तक है।

४१२. **सागर-गर्त** (Ocean Deeps)—समुद्र के अगाध तल में कहीं-कहीं पर अधिक गहरे गड्ढे या गर्त हैं जिन्हें सागर-गर्त कहते हैं। इनका क्षेत्र बहुत सीमित है तथा इनका ढाल प्रपाती होता है। इनके सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि ये गर्त अगाध तल के बीच में स्थित नहीं है किन्तु कुछ तट के अधिक समीप होते हैं। संसार का सबसे बड़ा सागर-गर्त प्रशान्त महासागर में फिलीपाइन्स द्वीपसमूह के समीप है। इसकी गहराई लगभग ३५,४०० फुट है। कुछ लोग कहते हैं कि इसी स्थान से चन्द्रमा उपग्रह टूट गया है जिससे इतना बड़ा गड्ढा बन गया।

४१३. **अन्य विषमतायें**—समुद्र की तली में उपर्युक्त चार रूपों के अतिरिक्त छोटे आकार की अन्य विषमतायें भी पाई जाती हैं जैसे लम्बे और संकरे उभार, ज्वालामुखी शंकु, जलमग्न सामुद्रिक दरियाँ (Submarine Gullies) आदि। ये विषमतायें सभी सागरों में पाई जाती हैं।

४१४. प्रशान्त महासागर की तली का रूपधेय (Bottom Relief)—प्रशान्त महासागर की आकृति त्रिभुजाकार है। इसकी सबसे अधिक चौड़ाई भूमध्यरेखा के पास है। इसके पश्चिमी तट पर अनेक सागर हैं जिनमें ओखोट्स्क सागर, जापान सागर, पीत सागर आदि सम्मिलित हैं। प्रशान्त महासागर के ये उथले सागर प्रशान्त से कम सम्बन्धित हैं। यह एक दुर्गुण है जो अटलाण्टिक महासागर में नहीं है। पूर्वी तट पर ऐसे सागर कम हैं और तट लगभग सीधा (Regular) है।

प्रशान्त महासागर की औसत गहराई २½ मील है। इस महासागर का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें महाद्वीपीय निमग्न तट (Continental Shelf) या तो बहुत सँकरे हैं या हैं ही नहीं। यही कारण है कि इसका महाद्वीपीय ढाल बहुत अधिक प्रपाती है।



चित्र ११२. प्रशान्त महासागर की तली

पूर्वी प्रशान्त महासागर में एक सामुद्रिक उभार (Sea Ridge) है जो मध्य अमेरिका से शुरू होकर दक्षिण-पश्चिम की दिशा में फैला है और न्यूजीलैण्ड के दक्षिण में अन्टार्कटिका महाद्वीप तक चला गया है। इस उभार को 'पूर्वी प्रशान्त कूट' कहते हैं। इस कूट पर प्रशान्त महासागर की गहराई २,००० फैदम से भी कम है। यह कूट प्रशान्त महासागर के मध्यवर्ती गहरे भाग को उन गहरी द्रोणियों से अलग करता है जो दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट पर स्थित हैं।

उत्तरी प्रशान्त महासागर के दक्षिणी भाग में एक और उभार (Elevation) है जिसे 'कैरोलियन उभार' कहते हैं। इस उभार पर कैरोलियन द्वीप समूह स्थित है। सौलोमन द्वीपसमूह के समीप 'सौलोमन उभार' है। आस्ट्रेलिया के पूर्व में भी एक उभार है जो आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्व से एण्टार्कटिका तक चला गया है।

प्रशान्त महासागर में कई ज्वालामुखीय उभार हैं जिन पर द्वीप स्थित हैं। प्रवाल द्वीपों के अनेक उभार प्रशान्त महासागर में बहुतायत से मिलते हैं।

इस महासागर में सागरगर्त (Deeps) प्राय. समुद्रतट के पास ही पाये जाते हैं, जैसे जापान तट के पास टसकैरोरा गर्त। प्रशान्त महासागर में निम्नांकित मुख्य गर्त या द्रोणियाँ हैं—

पश्चिमी प्रशान्त में फिलिपीन द्रोणी, कैरोलिन द्रोणी, सौलोमन द्रोणी, कोरल द्रोणी, फीजी द्रोणी, पूर्वी आस्ट्रेलिया की द्रोणी मुख्य गर्त हैं। मध्य प्रशान्त में उत्तरी प्रशान्त द्रोणी, मैरियाना द्रोणी, मध्य प्रशान्त द्रोणी, दक्षिणी प्रशान्त द्रोणी मुख्य हैं। पूर्वी प्रशान्त में ग्वाटेमाला द्रोणी, पेरू द्रोणी और एन्टार्कटिक द्रोणी मुख्य हैं।

४१५. अटलाण्टिक महासागर की तली का रूपधेय (Bottom Relief)—इस महासागर के दोनों किनारों में अनेक उथले सागर हैं जो महासागर से सम्बन्धित है जैसे उत्तरी सागर, बाल्टिक सागर, भूमध्य सागर, मैक्सिको की खाड़ी और कैरिबियन सागर आदि। यह महासागर भूमध्यरेखा के समीप काफी सकरा हो गया है। परन्तु फिर दोनों तरफ चौड़ा होता गया है। इसकी खूबी यह है कि इस महासागर के पूर्वी और पश्चिमी दोनों तटों पर महाद्वीपीय निमग्न तट काफी दूर तक मिलते हैं। इसी कारण इस महासागर में मछलियाँ बहुत पकड़ी जाती हैं।

इस महासागर के मध्य भाग में उत्तर-दक्षिण फैला हुआ एक उभार है जिसे मध्यवर्ती अटलांटिक कूट (Central Atlantic Ridge) कहते हैं। उत्तरी अटलाण्टिक में इस कूट को डोल्फिन कूट (Dolphin Ridge) और दक्षिणी अटलाण्टिक में चैलेन्जर कूट (Challenger Ridge) कहते हैं। इसी कूट पर अजोर्स द्वीप समूह, एस्केनशन द्वीप समूह और त्रिस्तन द कुन्हा द्वीप स्थित हैं। प्रशान्त महासागर के बीच में ऐसा मध्यवर्ती उभार नहीं है।

अटलाण्टिक महासागर में निम्नलिखित सागर गर्त हैं—

पश्चिमी अटलाण्टिक में लैब्रेडर के पूर्व में लैब्रेडर द्रोणी, संयुक्त राज्य के समीप इण्डियन द्रोणी, गायना के पास गायना द्रोणी, ब्राजील द्रोणी, और अर्जेन्टाइना द्रोणी मुख्य हैं। पूर्वी अटलाण्टिक में पुर्तगाल के पास आइबेरियन द्रोणी, कनारी द्रोणी, अफ्रीका के उत्तर-पश्चिम में केप वर्डे द्रोणी, अंगोला द्रोणी, केप द्रोणी मुख्य हैं।

४१६. हिन्द महासागर की तली का रूपधेय (Bottom Relief)—यह महासागर हमारे देश के दक्षिण में स्थित है। अत. हमारे लिए इसका महत्त्व अधिक है। भूमध्यरेखा के उत्तरी भाग को उत्तरी हिन्द महासागर कहते हैं। दक्षिणी प्रायद्वीप और लंका द्वीप ने उत्तरी हिन्द महासागर को दो भागों में विभक्त कर दिया है। पूर्वी भाग को बंगाल की खाड़ी तथा पश्चिमी भाग को अरब सागर कहते हैं। बंगाल की खाड़ी में स्थित अंडमन-निकोबार द्वीपों की शृंखला एक उभार की द्योतक है। इस

द्वीपमाला के पश्चिम में उत्तर-दक्षिण फैले हुए उभार को 'कारपेन्टर कूट' (Carpenter Ridge) कहते है। इस उभार की सबसे ऊँची चोटियो पर ही अंडमान-निकोबार द्वीपमाला स्थित है। बताया जाता है कि महासागर की तली से इस उभार की ऊँचाई २२८० मीटर है। अंडमान-निकोबार के पूर्व में ज्वालामुखी-निर्मित उभार है। इस उभार के पूर्व में भी एक और उभार की खोज हुई है जो बर्मा के तट के समानान्तर फैला हुआ है।

अरब सागर मे एक दोहरा उभार है। यह उभार सिन्ध के किरथर पर्वत श्रेणी का विस्तार प्रतीत होता है जो समुद्र मे डूब गया है। इसका नाम 'मरे कूट' है। इस दोहरे उभार के बीच की घाटी ३३६० मीटर गहरी बताई जाती है। मरे कूट का विस्तार उत्तर-दक्षिण है। इसके अतिरिक्त दूसरा उभार ईरान तट और बलूचिस्तान तट के समीप पूर्व-पश्चिम फैला हुआ है। अनुमान है कि यह उभार जागरोस पर्वतमाला का जलमग्न भाग है।

भारत के दक्षिण-पश्चिम मे प्रवाल-निर्मित एक शृंखला है जिसकी ऊँची चोटियो पर लक्कादीव, माल दीव और चागोज द्वीप मालाये स्थित है।

पश्चिमी हिन्द महासागर में एक दोहरा उभार है जिसे कार्ल्सबर्ग कूट कहते है। यह उभार अरबसागर के मरे कूट के दक्षिण मे स्थित है। इस उभार के बीच मे एक घाटी चली गई है। दक्षिण में जाकर यह उभार एक ऊँचे पठार का सा रूप ले लेता है। अन्त में यह कूट एन्टार्कटिका महाद्वीप मे जा मिला है।

समुद्र का खारापन (Salinity of the Sea)

४१७. खारापन क्या है ?—समुद्र के जल में हमेशा नमक घुले हुए रहते है। १,००० ग्राम समुद्र जल मे जितने ग्राम नमक घुले रहते है वही सख्या समुद्र का खारापन बताई जाती है। उदाहरण के लिए लालसागर के १,००० ग्राम जल म ३७ ग्राम नमक की मात्रा रहती है। इसलिए लालसागर का खारापन ३७ प्रति सहस्र है जो ३७‰ लिखी जायगी।

४१८. सागर जल में खारीपन की मात्रा—समुद्र के १,००० ग्राम जल में औसत से ३५ ग्राम नमक की मात्रा रहती है। इस नमक मे निम्नलिखित लवण प्रमुख है—

सोडियम क्लोराइड २७·२ ग्राम
मैगनेशियम क्लोराइड ३·८ ,,
मैगनेशियम सल्फेट १·६६ ,,
कैलशियम सल्फेट १·२६ ,,

सभी समुद्रो मे उपर्युक्त लवणों का यह अनुपात प्रायः स्थायी होता है।

४१९. **समुद्रों में खारापन की उत्पत्ति**—समुद्र के खारापन की उत्पत्ति का प्रमुख कारण नदियाँ है । नदियाँ अपने प्रवाह क्षेत्र से प्रति वर्ष विविध प्रकार के क्षार बहाकर लाया करती है और समुद्र में उडेलती रहती है । ये क्षार समुद्र में मिलते रहते है । फिर समुद्र का जल भाप बनकर उडा करता है जिससे नदियों का लाया हुआ क्षार समुद्र में ही रह जाता है और शुद्ध जल स्थलखण्डों पर बरस कर फिर नदियों का रूप धारण करता है । ये नदियाँ पुनः और अधिक क्षार घुलाकर बहा लाती है और समुद्र मे उडेल देती है । यह कार्यक्रम लाखो वर्षो से होता आया है और नमक की मात्रा निरन्तर बढती रही है ।

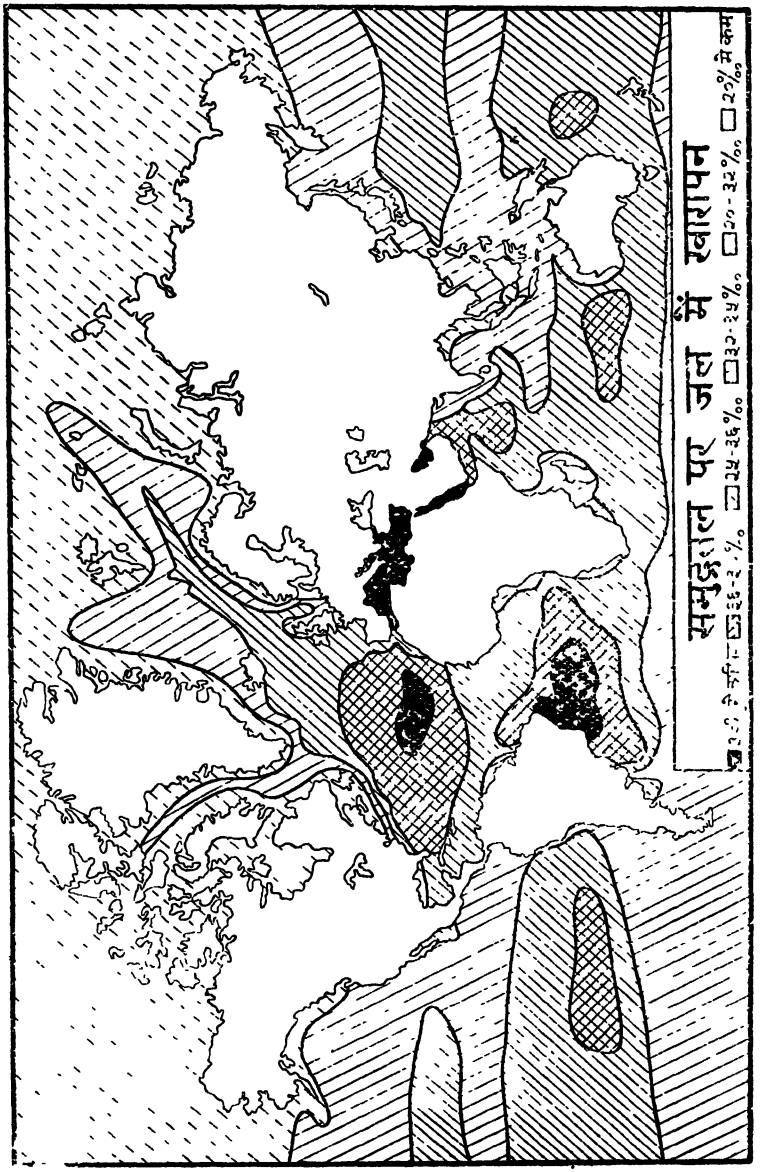
परीक्षणो द्वारा पता चला है कि नदियो के जल में कैलशियम कार्बोनेट की बहुतायत रहती है, परन्तु सागरजल मे सोडियम क्लोराइड की मात्रा अधिक मिलती है । इससे यह प्रकट होता है कि खारीपन का कारण कुछ और भी है । विद्वानों ने सुझाया है कि समुद्र मे रहने वाले मूँगे के कीडे या अन्य जीव-जन्तु नदियो के लाये हुए नमक को खा डालते है । फिर एक दूसरी कठिनाई सामने आती है । नदियों के जल मे क्लोराइड की अपेक्षा सल्फेट की मात्रा ज्यादा मिलती है । परन्तु समुद्र में क्लोराइड अधिक मिलता है । इस प्रकार यह प्रकट होता है कि समुद्र के खारापन के अन्य कारण भी है ।

४२० **खारापन की न्यूनाधिकता**—ससार के विभिन्न सागरो में खारापन की मात्रा एक-सी नही होती । इसके दो कारण है—

(१) गरमी के कारण भाप बनने की तेजी, और (२) समुद्र में मिलने वाले ताजे पानी की मात्रा । कर्क और मकर रेखाओ के समीप सबसे अधिक गरमी पड़ती है क्योंकि यहा पर साल के बहुत कम भाग में आकाश बादलो से घिरा रहता है । अतः यहाँ पर पानी भाप के रूप मे बदलता रहता है और क्षार समुद्र ही मे रह जाते है । यहाँ पर वर्षा भी कम होती है । बल्कि यहाँ पर बनी हुई भाप कही अन्यत्र जाकर वर्षा के रूप मे परिणित होती है । इसी से इन स्थानों के समुद्र अत्यधिक खारी है । यहाँ के समुद्र जल के प्रति सहस्र अशो मे ३६ अश विविध नमकों के होते है ।

भूमध्यरेखा के आस-पास गरमी तो खूब पडती है, परन्तु साल के अधिकांश भाग मे आकाश पर बादल छाए रहते है जिससे सूर्य की सीधी किरणों के मार्ग में बाधा उपस्थित होती है । इस कारण यहाँ भाप अपेक्षाकृत कम बनती है । दूसरे यहाँ वाहनिक वर्षा के फलस्वरूप वर्षा का जल सीधा समुद्र मे मिलता है । यहाँ नदियाँ भी अपरिमित जलभण्डार समुद्र मे उँडेलती रहती है । अतः यहाँ समुद्रजल के हजार अशों में ३४ अंश नमक के होते है ।

ध्रुवो के आस-पास समुद्रो मे भाप कम बनती है। साथ ही हिमखण्डों का कुछ



चित्र ११३.

भाग पिघलकर समुद्रजल में मिलता है। अतः यहाँ पर भी खारापन ३४% होता है।

विभिन्न जलखण्डों में परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण खारीपन में अन्तर पड जाता है। भूखण्डों से घिरे होने के कारण लालसागर का खारापन ३७% से ४१% तक, फारस की खाड़ी का ३८% और भूमध्यसागर का ३७% से ३९% तक होता है।

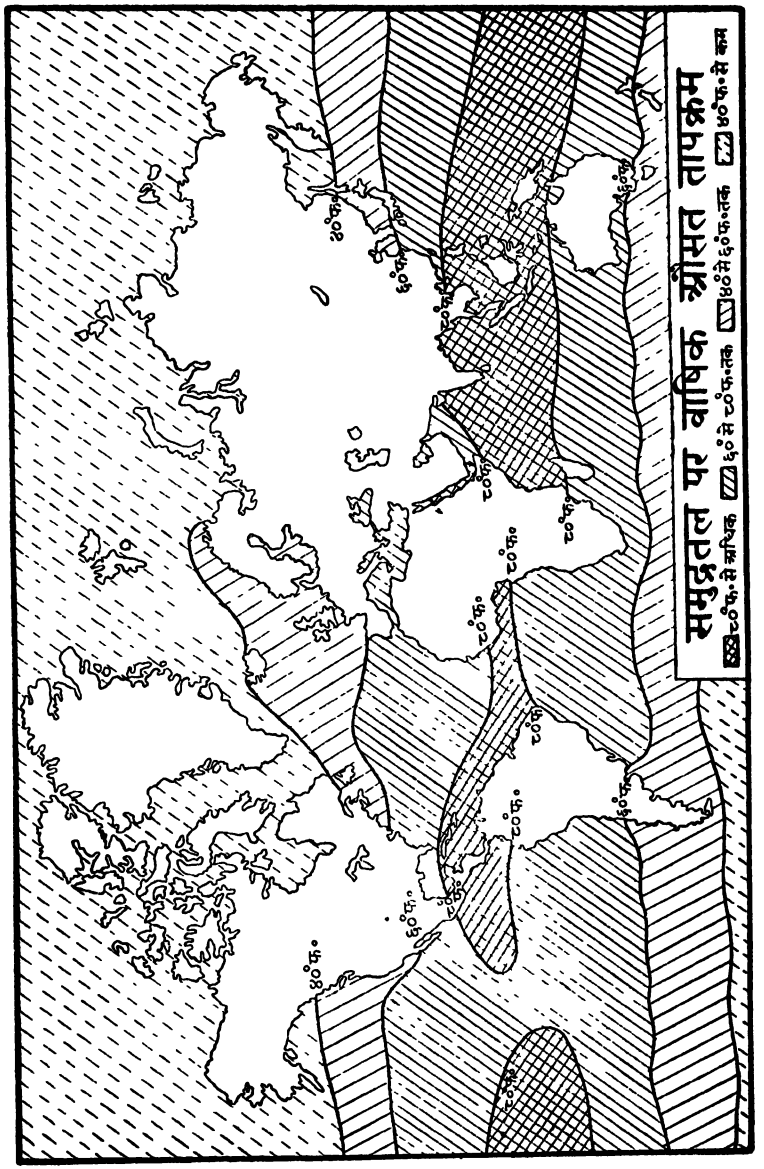
खारीपन के कारण पानी का घनत्व बढ जाता है अर्थात् पानी जितना अधिक खारा होगा उतना ही अधिक भारी होगा। खारीपन का पानी के तापक्रम पर भी प्रभाव पड़ता है। जहाँ पर पानी अधिक खारी होता है वहाँ पर जल का तापक्रम भी अधिक रहता है। किन्तु जहाँ नमक कम होता है वहां तापक्रम कम रहता है। इसीलिए खारी पानी के जमने के लिए तापक्रम हिमांक से नीचा होना चाहिए।

समुद्र जल का तापक्रम

४२१. जलतापक्रम की विशेषता—समुद्रजल के तापक्रम मे अक्षांश, गहराई और खारीपन के अनुसार भिन्नता पाई जाती है। समुद्री जल के ऊपरी भाग का तापक्रम सूर्य की गरमी अर्थात् अक्षांश के अनुसार बदल जाता है। भूमध्यरेखा के निकट समुद्र की ऊपरी सतह का तापक्रम साधारणतया ८०° फा० रहता है। भूमध्य-रेखा से हम ज्यो-ज्यो ध्रुवों की ओर जाते है, यह तापक्रम कम हो जाता है। ध्रुवों के समीप तापक्रम २८° फा० के आस-पास रहता है। इतने कम तापक्रम के होने पर भी खारीपन के कारण पानी जमता नही है। कर्क और मकर रेखाओं के समीप जल का तापक्रम वायु के ताप से कम रहता है। इस सम्बन्ध मे हमे जल की गरमी ग्रहण करने की विशेषता का ध्यान रखना चाहिए। **तापक्रम में कुछ वृद्धि करने के लिए पानी को हाइड्रोजन के अतिरिक्त अन्य सभी से अधिक गरमी चाहिए।** अर्थात् पानी मे ताप ग्रहण करने की शक्ति लगभग सब से अधिक है। इसीलिए अन्य वस्तुओं की अपेक्षा पानी देर मे गरम और देर मे ठण्डा होता है। इसी गुण या विशेषता के कारण महासागर वायुमण्डल के तापक्रम मे अधिक विषमता नही होने देते। इसीलिए समुद्र के निकटस्थ स्थानो की जलवायु सम रहती है। अपनी इसी विशेषता के कारण ४०° अक्षांश से ध्रुवों तक का समुद्रजल वायु के ताप से अधिक गरम रहता है। यह विशेषता ४०° अक्षांश से ध्रुवों तक स्थित भूमि-भागो को बहुत लाभ पहुँचाती है। **जाड़े में समुद्रजल वायु की अपेक्षा सभी स्थानों पर अधिक गरम रहता है।**

४२२. समुद्र के तापक्रम का स्थान परिवर्तन—समुद्रों की सतह के तापक्रम पर प्रचलित हवाओं, धाराओं तथा स्थलखण्डो में समुद्र की स्थिति का भी प्रभाव पडता है। जब नियमित हवायें लगातार समुद्र की सतह पर चलती है तो जल की ऊपरी परत को हटाती रहती हैं। जहाँ से जल का ऊपरी परत हट जाता है

वहाँ उसके स्थान पर नीचे का ठण्डा पानी आ जाता है। फलत., उस स्थान पर सतह



चित्र ११४.

का तापक्रम कम रहता है। हवा जिस स्थान में बहती है उधर गरम पानी की परत

पहुँचकर सतह का तापक्रम ऊँचा बना देती है। इसी कारण पछवा हवायें जिन भागों में चलती है उनके समुद्रों की सतह को गरम बना देती है।

जो जलधारायें भूमध्यरेखा से ध्रुवो की ओर चलती है उनका तापक्रम अधिक रहता है। अतः जो जलभाग इन धाराओ के सम्पर्क में आते है उनका तापक्रम कुछ ऊँचा हो जाता है। इसके प्रतिकूल जो धारायें ध्रुवों से भूमध्यरेखा की ओर चलती है उनका तापक्रम कम होता है। अतः इनके सम्पर्क में आने वाले भाग अपेक्षाकृत ठण्डे हो जाते हैं।

जो जलखण्ड भूमिभागों से घिरे रहते है उनका तापक्रम खुले सागरो की अपेक्षा उष्ण कटिबन्ध में अधिक तथा शीत कटिबन्ध में कम रहता है। भूमध्यरेखा पर समुद्री सतह का तापक्रम ८०° फा० के लगभग रहता है। परन्तु स्थल भागों से घिरे लालसागर में यह तापक्रम ९६° फा० और फारस की खाड़ी में ९४° फा० तक पहुँच जाता है। इसी प्रकार जब उत्तरी सागर साल भर खला रहता है तो उन्ही अक्षाशों में स्थित बाल्टिक समुद्र जाडों मे जम जाता है।

समुद्रों की सतह के तापक्रम पर दिन-रात तथा जाडे गरमी का भी प्रभाव पड़ता है। भूमध्यरेखा पर दैनिक तापक्रम मे १०° फा० का अन्तर पड़ता है। शीतोष्ण कटिबन्धों के समुद्रो में दैनिक तापक्रम तो अधिक नही बदलता परन्तु जाडे और गरमी के तापक्रम में २०° फा० तक का अन्तर हो जाता है।

४२३. **गहराई के अनुसार समुद्र का तापक्रम**—समुद्रजल का तापक्रम गहराई के साथ कम होता जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है सूर्य की किरणों का प्रभाव लगभग १०० फैदम या ६०० फुट की गहराई तक रहता है। इससे नीचे के जल का तापक्रम एकदम कम हो जाता है। भूमध्यरेखा पर, जहाँ सतह का तापक्रम ८०° फा० होता है, ३,६०० फुट नीचे पहुँचने पर ४०° फा० ही रह जाता है। इससे अधिक गहराई पर तापक्रम धीरे-धीरे कम होता है। ६,००० फुट की गहराई पर तापक्रम ३६° फा० और १२,००० फुट पर ३४° फा० अर्थात् हिमांक से कुछ ही अधिक रहता है। १२,००० फुट से नीचे तापक्रम ३४° फा० से कम नही होता। इसी से गहरे समुद्रो मे सदैव शीत का अखण्ड राज्य रहता है। यहाँ हमे पानी की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता याद रखनी चाहिए। **३४° फा० के तापक्रम की अवस्था में खारी पानी का घनत्व सबसे अधिक होता है।** दूसरे शब्दो में ३४° फा० से तापक्रम कम या अधिक होने पर पानी का घनत्व कम होने लगता है। बर्फ जम जाने पर तो पानी का घनत्व इतना कम हो जाता है कि बर्फ पानी पर तैरने लगती है। यह प्राकृतिक नियम जीवन-विकास के लिए अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुआ है। यदि बर्फ पानी से घनत्व में

कम न होती, तो सारे समुद्र मे नीचे से ऊपर लगभग सतह तक बर्फ ही बर्फ भरी होती। उस दशा में जलचारी जीवन असम्भव होता। फिर प्राणि-जीवन विकसित होता या नहीं यह कहना कठिन है। मनुष्य को सस्ता एव सुलभ भोजन (मछली) कहाँ मिल पाता ? हमारी जलयात्रा भी असम्भव ही होती। ऐसी दशा की कल्पना भी भयंकर प्रतीत होती है।

प्रश्न

1. Trace the origin of salt in the sea and explain the variations in the salinity of surface waters of the seas and oceans.

(*Agra B.A. 1955*)

2. Describe the form of the bed of the Pacific ocean north of the equator.

(*Agra B.A. 1955*)

3. With the help of the hypsographic curve describe the relief of the ocean floor.

(*Banaras B A & B.Sc. 1952*)

4. Describe and account for the distribution of temperature, salinity and density in the waters of the Indian ocean.

(*Nagpur M A. 1952*)

5 Describe fully the main features of the Atlantic bottom relief.

(*Agra M.A. 1947*)

6. Write notes on Continental Shelf, Ocean Deeps, Ocean Salinity.

(*Allahabad M A. 1951*)

उन्तीसवाँ अध्याय

समुद्र के जल में गतियाँ (१)

लहरें और धारायें

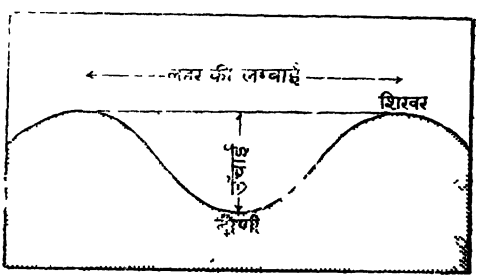
समुद्र मे सदैव कुछ-न-कुछ उपद्रव होते रहते है । इन उपद्रवो मे नदियो का गिरना और हवाओं का चलना मुख्य है । इन उपद्रवो के कारण समुद्र का पानी कभी स्थिर नही रहता और उसमे विशेष प्रकार की गतियाँ उत्पन्न हो जाया करती है । इन गतियों के तीन भेद है—

(१) लहरें (Waves), (२) धारायें (Currents) और (३) ज्वारभाटा (Tides) ।

४२४. **लहरे** (Waves)—हवाओ के चलने से समुद्र की सतह पर पानी ऊँचा-नीचा हुआ करता है । पानी के इसी उतार-चढाव को लहर या तरंग कहते है । आम तौर से लहरो के उठने पर समुद्र का पानी ऊँचा या नीचा तो होता रहता है, परन्तु बहकर अन्यत्र नही जाता । हाँ, यह अवश्य है कि सतह के ऊपर थोडा सा पानी हवा का धक्का खाकर हवा की दिशा में थोड़ी दूर तक बहा चला जाता है ।

४२५. **लहर बनने के कारण**—तेज हवा के जोरदार धक्के से समुद्र की सतह पर एक स्थान का पानी कुछ नीचे की ओर धँस जाता है । यह नीचे धँसा हुआ पानी धक्के के जोर मे उसी दिशा की तरफ कुछ ऊँचा उठता है जिस ओर को धक्का चल रहा है । इस प्रकार लहर बन जाती है । लहर के नीचे दबे हुए या धँसे हुए भाग को द्रोणी (Trough) कहते है और उसके ऊँचे उठे हुए भाग को शिखर (Crest) कहते हैं ।

४२६ **लहरों का आकार**—समुद्र-तल पर उठने वाली लहरो को नापा भी जाता है । लहर के एक शिखर (Crest) से दूसरी शिखर तक की दूरी को लहर की लम्बाई कहते है । द्रोणी से शिखर तक की ऊँचाई को लहर की ऊँचाई कहते है। हवा के तेज या धीमी होने पर लहर का आकार भी छोटा या बड़ा हो सकता है । महासागरो में लहरों की लम्बाई ३००-६०० फुट तक और ऊँचाई २५-५० फुट तक होती है ।



चित्र ११५. लहर का आकार

४२७. लहरों की गति—प्रचण्ड आँधियों के कारण लहरों का कम्पन अधिक
ा-नीचा होता है । लहर का शिखर जितना ही आगे बढ़ता है, द्रोणी उतनी ही
छे को हटती है । तूफान का वेग जितना अधिक होती है, लहरें उतनी ही ऊँची
ती हैं । जब लहरें तट के समीप पहुँचती हैं तो द्रोणी की गति नीचे धरती से टकरा
र धीमी हो जाती है और शिखर टूटकर फुहारों के रूप में बिखर जाती है । टूटी
शिखर की चोट तट की चट्टानों पर पड़ती है जिससे चटटाने चकनाचूर होती
ती है । कभी-कभी विपरीत दिशाओं में चलने वाली दो हवाओं के मिलने पर हवा
एक भँवर या ववण्डर उत्पन्न हो जाता है । इस ववण्डर के कारण जल से एक
शाल फौवारा सा ऊँचा उठता है । यदि ऐसे समय लहरों की गति भी तीव्र हो तो
न का फौवारा बड़ी तेजी से आगे बढ़ता है । जब कभी कोई जीव-जन्तु या नाव
दि इस फौवारे के बीच में पड़ जाते हैं तो उनका तुरन्त ही चूर्ण सा बन जाता है ।
ा फौवारे को साक्षात् यमराज का अवतार ही मानना चाहिए ।

४२८. लहरों का कार्य—लहरों का महत्त्वपूर्ण भौगोलिक कार्य तट को
टना तथा बालू रेत आदि का जमा करना है । लहरों के काटने (अपक्षरण) का
र्य केवल २०० फुट की गहराई तक ही सीमित है जिसका वर्णन हो चुका है ।
हरों का रचनात्मक कार्य भी तट के निकट ही हो सकता है । लहरों द्वारा समुद्रजल
र उठकर अपने अन्दर वायु को सोख लेता है । इस घुली हुई वायु में समुद्री जीव
नुओं का जीवन चलता है ।

धारायें (Currents)

४२९. धारायें क्या हैं ?—समुद्र के जल में नित्यप्रति नीचे-ऊपर की गति
र हवा के झकोरों से तरंगे तो उत्पन्न होती ही रहती हैं । परन्तु इनके अतिरिक्त
यमित रूप से, निरन्तर और निश्चित दिशा में वेग के साथ सामुद्रिक धारायें भी
ा करती हैं । सागर के विशाल एवं विस्तृत वक्षस्थल पर ऐसी धारायें स्पष्ट मालूम
ती हैं और उनके दोनों किनारे भी साफ दिखाई देते हैं । इन सामुद्रिक धाराओं का
ाह-वेग स्थल की धाराओं से अधिक तीव्र होता है । कुछ मन्द धारायें तो २ मील
ते घण्टा की गति से बहती हैं, परन्तु अधिकांश सामुद्रिक धारायें लगभग ६ मील
ते घण्टे की गति से प्रवाहित होती हैं । इनकी गहराई और चौड़ाई भी स्थल की
राओं से कई गुनी अधिक होती है ।

४३०. धाराओं के उत्पन्न होने के कारण—इन धाराओं के उत्पन्न होने का
ान कारण सनातन हवाओं का चलना है । विभिन्न स्थलों पर पानी के घनत्व की
भिन्नता भी धाराओं को उत्पन्न करने का कारण बन जाती है । घनत्व की इस

विभिन्नता के दो कारण होते हैं—(क) स्थान-स्थान पर समुद्र-जल के तापक्रम की असमानता; और (ख) स्थलखण्डों से घिरे हुए समुद्रों में खारीपन की विभिन्नता।

(क) **सनातन हवाओं का प्रभाव**—महासागरों में धाराओं के जन्म का प्रधान कारण सनातन हवायें हैं। हिन्द महासागर की धाराओं के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उत्तरी हिन्द महासागर में हवायें ग्रीष्म ऋतु में दक्षिण-पश्चिम से और शीत ऋतु में उत्तर-पूर्व से चला करती हैं। हिन्द महासागर के उत्तरी भाग की धारायें भी हवाओं के अनुसार अपनी प्रवाह-दिशा में परिवर्तन कर लेती हैं। उष्ण कटिबन्ध में व्यापारिक हवायें पूर्वी दिशा से पश्चिमी दिशा की ओर चलती हैं। अतः महासागर का ऊपरी जल भी उसी दिशा में बहने लगता है। शीतोष्ण कटिबन्ध में पछवा हवायें सतह के जल को पूर्व की ओर बहा ले जाती हैं।

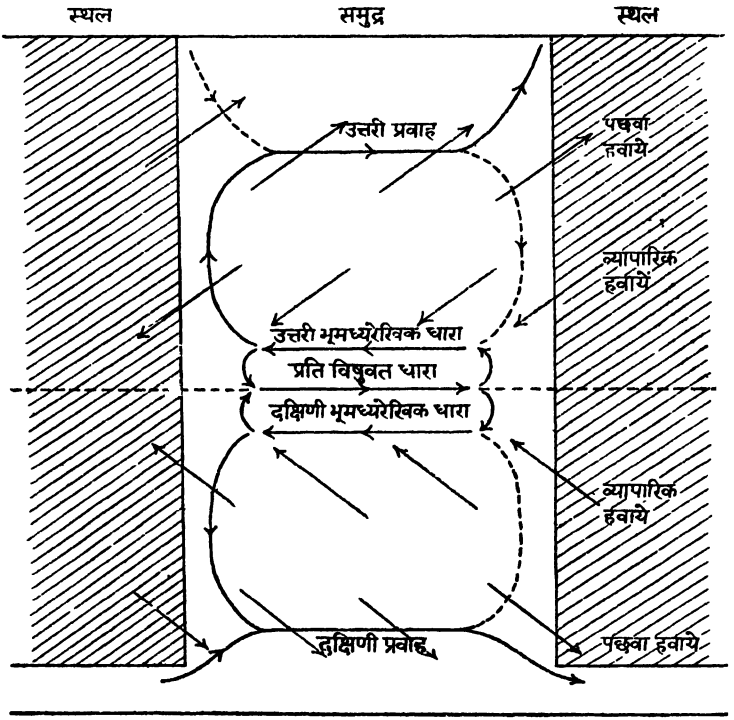
(ख) **घनत्व में विभिन्नता**—यह दो प्रकार से होती है :

(१) **तापमान में असमानता**—भूमध्यरेखा के समीप अधिक गरमी पड़ने के कारण जल गरम हो जाता है। गरम जल का घनत्व ठण्डे पानी से कम होता है। अतः ज्यों-ज्यों पानी अधिक गरम होता जाता है, वह अधिकाधिक हल्का होता है और ऊपर की ओर फैलता जाता है। इसके प्रतिकूल ध्रुव प्रदेशों में काफी ठण्ड रहती है। अतः वहाँ पर पानी का घनत्व अधिक होता है। फलस्वरूप कम घनत्व वाले पानी की सतह अधिक घनत्व वाले पानी की सतह से ऊँची रहती है और हल्का पानी भारी पानी की ओर प्रवाहित होता है। जब हल्का पानी ऊपर के तल से इधर-उधर चला जाता है, तो नीचे का पानी ऊपर आ जाता है और फिर वह गरम होकर उसी दिशा में बहता है। इस प्रकार भूमध्यरेखा के निकट जल की कमी हो जाती है, तो भारी पानी तली-ही-तली में ध्रुवप्रदेश से भूमध्यरेखा की ओर दौड़ने लगता है।

(२) **खारीपन की विभिन्नता**—जल जितना ही अधिक खारी होता है उतना ही अधिक भारी होता है। जैसा पहले बताया जा चुका है, भूमध्यरेखा के समीप जल कम खारा होता है अतः हल्का होता है। अधिक खारा पानी तली में बैठता है। फलतः, खारी पानी की सतह नीची रहती है। जहाँ पर दो विभिन्न घनत्व वाले समुद्र मिलते हैं वहाँ दोनों के बीच धारायें चलने लगती हैं। ऊपरी तल पर कम खारी जल वाले सागर से अधिक खारी पानी वाले सागर की ओर धारा चलती है। पानी की इस कमी को दूर करने के लिए निम्न तल में अधिक खारी जल नीचे ही नीचे कम खारी पानी की ओर चलता है। स्थल से आबद्ध भूमध्यसागर अटलाण्टिक महासागर से अधिक खारी है। अतः अटलाण्टिक से एक जलधारा जिब्राल्टर में भूमध्यसागर की ओर जाती है। इस पानी के आ जाने से भूमध्यसागर का अधिक भारी पानी नीचे

बैठ जाता है और नीचे-ही-नीचे फिर अटलाण्टिक की ओर बहता है । इसी प्रकार की धारायें भूमध्यसागर के तल से अधिक खारी कालेसागर में तथा हिन्द महासागर से लालसागर मे चलती हैं । फिर निम्न तल में कालेसागर से भूमध्यसागर को तथा लालसागर से हिन्द महासागर को नीचे-ही-नीचे धारायें समघनत्व स्थापित करने के लिए बहती है ।

४३१ **धाराओं की प्रवाह-दिशा में परिवर्तन**— धाराओं के उत्पन्न हो जाने के बाद उनके प्रवाह की दिशा मे बहुत से परिवर्तन हो जाते है । प्रवाह की दिशा बदलने के निम्न कारणो मे से एक या अधिक कारण हो सकते है—



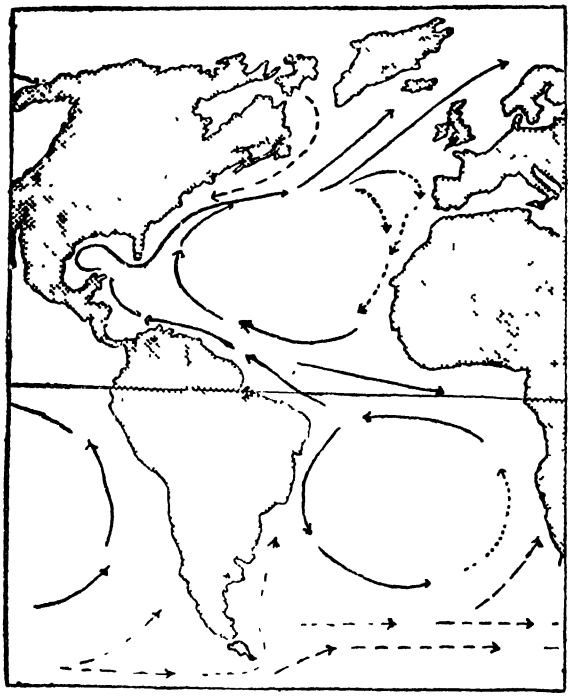
चित्र ११६. धारायें

(१) पृथ्वी का आवर्तन, (२) तटरेखा की बनावट, (३) जलमग्न बाधायें, तथा (४) समुद्र की तली की बनावट ।

फैरल के नियम के अनुसार पृथ्वी का आवर्तन सामुद्रिक धाराओं की दिशा उत्तरी गोलार्द्ध मे दाहिनी ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में बायी ओर बदल देता है ।

यदि धारा के प्रवाह-मार्ग में कोई जलमग्न बाधा आ जाती है अथवा तटरेखा ही घुमावदार हो तो धारा उस मार्ग मे आगे नही बढ़ पाती, परन्तु उसे घूमना पडता है या धारा दो भागो मे विभक्त हो जाती है । समुद्र की तली की आकृति के अनुसार भी धाराओं को घूमना पड़ता है ।

४३२. **अटलाण्टिक महासागर की जलधारायें**—व्यापारिक हवाओ के बहने से अटलाण्टिक महासागर में भूमध्यरेखा के उत्तर और दक्षिण में दो धारायें उत्पन्न होती है जो पूर्व मे पश्चिम की ओर बहती है । इनको क्रमश: **'उत्तरी विषुवत धारा'** तथा **'दक्षिणी विषुवत धारा'** कहते है । पश्चिम की ओर अधिक जल एकत्र हो जाने से इन धाराओं के बीच मे पश्चिम से पूर्व की ओर एक धारा बहती है जिसे **'प्रति विषुवत**



चित्र ११७. अटलाण्टिक की धारायें

धारा' कहते है । यह गिनी की खाडी के पास पहुँचकर दक्षिण की ओर मुड़ जाती है और फिर दक्षिणी विषुवत धारा में मिल जाती है ।

दक्षिण विषुवत धारा दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी भाग से टकराकर दो भागों में बँट जाती है । एक **ब्राजील धारा** के नाम से दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है और

दूसरी उत्तर की ओर मेक्सिको की खाडी में जाती है । उत्तरी विषुवतरेखीय धारा पश्चिमी द्वीपसमूह के पास आकर दो भागों में बँट जाती है । इसका अधिकांश भाग उत्तर की ओर चला जाता है । दूसरा भाग पश्चिमी द्वीपों के बीच मे होकर मेक्सिको की खाड़ी में चला जाता है ।

मेक्सिको की खाडी मे निरन्तर अपार जलराशि जमा होती रहती है । एक तो विषुवत धारा का जल यहाँ आता है । दूसरे मिसीसिपी आदि नदियाँ भी अपना जलभण्डार यही उँडेलती रहती है । यह जलपुंज फ्लोरिडा के सकीर्ण जलडमरूमध्य से बाहर को निकलता है जिससे **गल्फस्ट्रीम** का जन्म होता है । फ्लोरिडा प्रायद्वीप और क्यूबा द्वीप के बीच मे गल्फस्ट्रीम १०० मील चौडी और काफी गहरी होती है तथा इसका प्रवाह-वेग लगभग ५ मील प्रति घण्टा है । फ्लोरिडा जलडमरूमध्य से आगे बढने पर यह धारा पश्चिमी द्वीपसमूह के उत्तर मे होकर बहने वाली शाखा मे मिल जाती है । हेटरास अन्तरीप से यह दाहिनी ओर मुडने लगती है । नोवास्कोशिया प्रायद्वीप के दक्षिण से यह धारा अमेरिका के तट को छोडकर पूर्व की ओर घूम जाती है और अटलाण्टिक महासागर मे फैल जाती है । अटलाण्टिक मे फैलने से धारा का जल कुछ ठण्डा और छिछला हो जाता है । अब इसको पछवा हवायें बहा ले जाती है और इसका नाम **उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह** (North Atlantic Drift) पड जाता है । स्पेन के बराबर आने पर इसके दो भाग हो जाते है । एक शाखा उत्तर की ओर जाती है । यह शाखा ब्रिटिश द्वीपसमूह का चक्कर का-कर नार्वे के तट को छूती हुई हिमसागर तक पहुँचती है । दूसरी शाखा दक्षिण की ओर घूम जाती है और स्पेन तथा अफ्रीका के उत्तर-पश्चिमी तट को छूती हुई कनारी द्वीपों से कुछ आगे 'उत्तर विषुवत धारा' मे मिल जाती है । अफ्रीका के तट के समीप इस शाखा का नाम 'कनारी जलधारा' पड जाता है । इस प्रकार उत्तरी अटलाण्टिक मे पानी के प्रवाह का एक बड़ा वृत्त बन जाता है जिसकी प्रवाह-दिशा घडी की सुइयों के घूमने की दिशा मे होती है । बीच के शान्त भाग मे समुद्री घास उग आती है । अत: उसका नाम सारगोसा **समुद्र** पड़ गया है ।

गल्फस्ट्रीम और उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह बडी महत्त्वपूर्ण धारायें है । इनके द्वारा अटलाण्टिक महासागर के उष्ण प्रदेशों की गरमी यूरोप के ठण्डे देशों को मिल जाती है । यूरोप के समीपस्थ स्थानीय सागरों और गरम जल के इस असीम स्रोत के तापक्रम मे बडा अन्तर रहता है । गरमी के दिनों मे तो यह अन्तर ६° फा० के आस-पास होता है परन्तु जाडो मे २०° से ३०° फा० तक होता है । तापक्रम के इस भारी अन्तर के कारण पश्चिमी यूरोप का शीत काफी हल्का हो जाता है । यद्यपि इसका

गरम पानी स्वयं यूरोपीय तट को नही छूता, परन्तु पछवा हवायें इसकी गरमी पर्याप्त मात्रा मे यूरोप में पहुँचा देती है ।

गल्फस्ट्रीम और उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह अटलाण्टिक महासागर से गरम जल ले जाकर निरन्तर हिमसागर (Arctic Ocean) मे पहुँचती रहती है । इस गरम पानी के रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए आर्कटिक सागर मे ठण्डी जलधारा आती है जो ग्रीनलैण्ड द्वीप के दोनो तरफ होकर दक्षिण की तरफ बहती है । बेफिन की खाड़ी के मार्ग से आने वाली धारा का नाम **लैब्रेडोर धारा** है । यह ठण्डी धारा लैब्रेडोर तट को छूती हुई उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट और गल्फस्ट्रीम के मध्य मे बहती है तथा हेटरास द्वीप के समीप लुप्त हो जाती है । यह धारा ग्रीनलैण्ड तथा अन्य ध्रुव प्रदेशों से टूटकर आई हुई हिमशिलाओं (Iceberg) को बहा लाती है । कई-कई हिमशिलायें मीलो लम्बी होती है । उत्तरी अटलाण्टिक मे चलने वाले कई जहाज इनसे टकराकर टूट चुके है । न्यू फाउण्डलैण्ड के समीप गल्फस्ट्रीम धारा की निकटता के कारण यह धारा घना कुहरा उत्पन्न करती है । इसी धारा के कारण सण्ट लारेंस नदी मे कई महीनो तक बर्फ जमी रहती है । इसके प्रभाव से धरती पर भी बर्फ बिछी रहती है जिसमे जाड़ो भर खेत बिना बोये पड़े रहते है ।

दक्षिणी अटलाण्टिक मे ब्राजील के सेंटराक अन्तरीप से दक्षिणी विषुवत धारा का एक भाग दक्षिण की ओर मुड जाता है । इसका नाम ब्राजील धारा है । प्लेट नदी के मुहाने के पास यह धारा पछवा हवाओ के प्रभाव-क्षेत्र मे आती है और दक्षिण पूर्व की ओर बहने लगती है । दक्षिणी अफ्रीका के पश्चिम तट के पास अण्टार्कटिक सागर के पानी से मिलकर यह धारा उत्तर को घूम जाती है । यहाँ धारा ठण्डे पानी से मिलने के कारण ठण्डी हो जाती है । इसका नाम **बेंगुला** धारा है । आगे चलकर यह गरम होकर दक्षिणी विषुवत धारा मे मिल जाती है और पूरा वृत्त बनाती है । इस चक्कर के बीच का समुद्र शान्त रहता है ।

लैब्रेडोर ठण्डी धारा के समान ही दक्षिणी हिम महासागर से एक ठण्डी धारा फाकलैण्ड द्वीप के पास से आती है । इसका नाम **फाकलैण्ड जलधारा** है । दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी तट पर यह धारा कुछ दूर तक तट और ब्राजील धारा के बीच में बहती है । आगे चलकर भारी होने के कारण सतह के नीचे बहने लगती है और धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है ।

४३३ प्रशान्त महासागर की धारायें—प्रशान्त महासागर की धारायें अटलाण्टिक महासागर की धाराओ के समान ही बहती हैं । महाद्वीपो के तट की बनावट अथवा जलमग्न बाधाओं के कारण उनकी दिशा में कुछ स्थानीय परिवर्तन हो

गए है। यहाँ पर भी भूमध्यरेखा के उत्तर और दक्षिण मे क्रमश: **उत्तरी विषुवत धारा** और दक्षिणी **विषुवत धारा** बहती हैं। भूमध्यरेखा के शान्त क्षेत्र मे हवायें इतनी प्रबल नही रहती कि वे धाराओं के एकत्रित जल को पश्चिम की ओर बहाती रहे। अत उत्तरी विषुवत एव दक्षिणी विषुवत धाराओं के बीच में **प्रति विषुवत धारा** बहती है। यह धारा कुछ निर्बल होती और पूर्व की ओर चलती है।

उत्तरी विषुवत धारा फिलिपाइन्स द्वीपों के समीप उत्तर को मुडती है। जापान के पास इसका नाम **क्यूरोसिवो धारा है**। ४५° उत्तरी अक्षाश मे पछवा हवाओं के क्षेत्र मे आकर पश्चिम को घूम जाती है तथा प्रशान्त महासागर को पार कर उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट को गरम करती है। वेंकोवर द्वीप के सामने इसके दो भाग हो जाते है—एक शाखा उत्तर की ओर जाती है और अलास्का के सहारे चलकर बेरिंग मुड जाती है तथा दूसरी शाखा दक्षिण को लौटती है। इसका नाम **कैलिफोर्निया धारा** है। यह धारा दक्षिण की ओर बहती हुई पश्चिम को घूम कर उत्तरी विषुवत धारा मे मिल जाती है।

दक्षिणी प्रशान्त महासागर मे द्वीपों की सख्या अधिक है। अत. दक्षिणी विषुवत धारा कई शाखाओं मे बँट जाती है। एक गरम शाखा आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट को गरम बनाती है। ये शाखायें दक्षिण की ओर बहती है। पछवा हवाओं के प्रवाह-क्षेत्र मे आकर ये पूर्व को घूम जाती है। दक्षिणी अमेरिका के तट के पास पहुँचकर ये उत्तर की ओर घूमती है। यहाँ पर ठण्डे अक्षाशो के प्रभाव से तथा दक्षिणी हिम महासागर का जल मिल जाने से यह ठण्डी हो जाती है। यहाँ इसका नाम ठण्डी **हम्बोल्ट धारा या पीरू की धारा** पड गया है। इसके पश्चात् दक्षिणी विषुवत धारा में मिलकर पूरा वृत्त बनाती है।

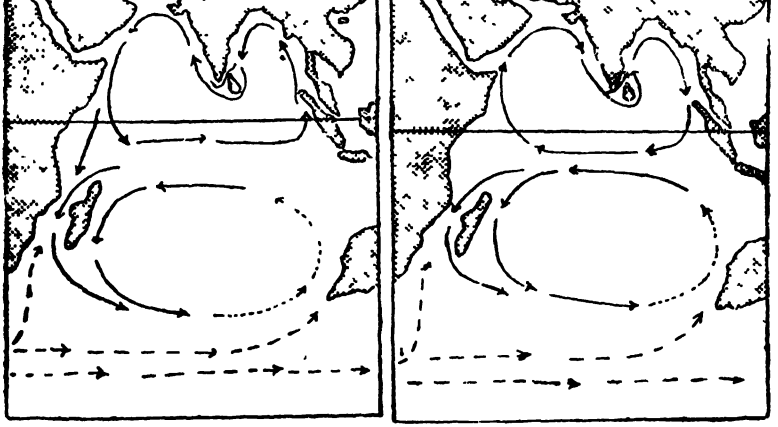
लैब्रेडोर धारा की तरह उत्तरी प्रशान्त मे भी एक धारा हिम महासागर से बेरिंग जलडमरूमध्य में होती हुई एशिया के तट के सहारे बहती है। इस धारा का नाम **क्यूराइल की ठडी धारा** है। इसके साथ भी हिमशिलायें बहती है। इसी से अमूर नदी में कई महीनो तक बर्फ जमी रहती है। व्लाडीवोस्टक नामक बन्दरगाह बर्फ के कारण बहुत दिनो तक बन्द रहता है। एशिया के पूर्वी तट और क्यूरोसिवो के मध्य में कुछ दूर बहकर यह धारा लुप्त हो जाती है।

दक्षिणी हिम महासागर से भी दक्षिणी प्रशान्त में ठण्डी धारा आती है जो तस्मानिया और न्यूजीलैण्ड के बीच में होकर बहती है। परन्तु दक्षिणी प्रशान्त के इस भाग में स्थलभाग कम है अतः इस धारा का अधिक विस्तार नही हो पाता।

४३४ हिन्द महासागर की धारायें—हिन्द महासागर की धाराओं पर हवाओं का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है । जब उत्तरी गोलार्द्ध में शीत ऋतु होती है, उस समय उत्तरी हिन्द महासागर में उत्तर-पूर्वी मानसून चलता है । इसके प्रभाव से बंगाल की खाड़ी मे दक्षिण-पश्चिम की ओर जलधारा बहती है । यह धारा भारत के पश्चिमी तट के सहारे-सहारे बहकर तट की बाधा से पश्चिम को मुडती है और अफ्रीका के समीप पहुँचकर दक्षिण को बहने लगती है । इसके पश्चात् दक्षिण धाराओं के प्रवाह में मिल जाती है । प्रति विषुवत धारा पश्चिम से पूर्व की ओर ही बहती है ।

किन्तु जब उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु होती है, उस समय उत्तरी हिन्द महासागर में दक्षिण-पश्चिमी मानसून चलती है । इसके प्रभाव से धारा की प्रवाह-दिशा बिलकुल विपरीत हो जाती है । अब धारा पूर्व की ओर बहती है । यह धारा अफ्रीका के पूर्वीतट से फारस की खाडी के समीप होती हुई भारतीय प्रायद्वीप की परिक्रमा करती है । प्राचीन काल में भारत को आने वाले जहाज इसी धारा की मदद से अफ्रीका से भारत को आते थे । इस ऋतु में प्रति विषुवत धारा नही बनती ।

दक्षिणी हिन्द महासागर में हवाओं की दिशा में ऋतुओं के अनुसार विशेष अन्तर नही पड़ता । अतः वहाँ धारायें दक्षिणी अटलाण्टिक की तरह ही चलती हैं । दक्षिणी विषुवत धारा पश्चिम को बहकर दक्षिणी अफ्रीका के पूर्वी तट के समीप



चित्र ११८. जाड़ा या ग्रीष्म में हिन्द महासागर की धारायें

दक्षिण को मुड़ती है और मैडागास्कर द्वीप के दोनो ओर बहती है । यहाँ पर इस

धारा का नाम **मोजम्बिक जलधारा** है । यह धारा दक्षिण अफ्रीका के पूर्वी तट को गरम बनाती है । आस्ट्रेलिया के पश्चिमी तट पर यह ठण्डी हो जाती है और यहाँ इसका नाम **पश्चिमी आस्ट्रेलियन धारा** है ।

प्रश्न

1. How are currents formed ? Locate the currents of the Atlantic ocean on a sketch map and explain their influence on ocean-trade routes.

(*Agra B A. 1955 M.A. 1951*)

2. What are different types of currents and how do they originate ? Locate the main warm currents of the world and state how they affect the neighbouring lands in each case

(*Agra B A 1947*)

3. Describe and account for the currents of the Indian ocean.

(*Ban. B A , B Sc 1919*)

4. Give an account of the cold ocean currents of the Southern Hemisphere, and discuss their influence on man.

(*Agra M.A. 1950*)

तीसरा अध्याय

तरल की तरंगें गतियाँ (२)

ज्वार-भाटा (Tides)

४३। **ज्वार-भाटा क्या है ?**—प्रत्येक समुद्र का जल नित्य नियमित रूप से अपनी सतह से कुछ ऊँचा उठ जाता है और फिर नियमानुसार नीचे उतर जाता है। जलमण्डल की इस बाढ़ या ऊँचे चढ़ाव को 'ज्वार' तथा उतार या नीचे गिर जाने को 'भाटा' कहते हैं।

४३६ **ज्वार-भाटा और चन्द्रमा का आकर्षण**—ज्वार-भाटा मुख्यतया चन्द्रमा की आकर्षण-शक्ति के कारण ही आता जाता है। सूर्य की आकर्षण-शक्ति भी ज्वार-भाटे पर प्रभाव डालती है परन्तु चन्द्रमा के प्रभाव की तुलना में उसका प्रभाव नगण्य ही है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि चन्द्रमा से २६० लाख गुना भारी सूर्य का प्रभाव चन्द्रमा के प्रभाव की तुलना में नगण्य ठहरे। आकर्षण-शक्ति के आविष्कारक सर आइज़क न्यूटन ने बताया था कि सृष्टि के प्रत्येक अणु में आकर्षण पाया जाता है तथा इस ब्रह्माण्ड की कोई वस्तु जितनी अधिक बड़ी होगी, उतनी ही अधिक उसकी आकर्षण-शक्ति होगी। इस हिसाब से सूर्य की गुरुत्वाकर्षण शक्ति चन्द्रमा से २६० लाख गुनी होगी। परन्तु फिर भी इसके अधिक प्रभावोत्पादक न होने के निम्न कारण हैं—

(क) यद्यपि चन्द्रमा सूर्य से बहुत छोटा है, तथापि वह सूर्य की अपेक्षा पृथ्वी के अधिक निकट है। चन्द्रमा पृथ्वी से लगभग २½ लाख मील दूर और सूर्य नौ करोड़ तीस लाख मील दूर है। इस प्रकार पृथ्वी से सूर्य की दूरी चन्द्रमा की दूरी से ३७२ गुनी अधिक है। इस सम्बन्ध में न्यूटन का नियम यह है कि आकर्षण-शक्ति का प्रभाव दो स्थानों की दूरी के वर्ग के विलोम के अनुसार होता है। इस नियम के अनुसार चन्द्रमा पृथ्वी को सूर्य की अपेक्षा केवल १७५ गुनी अधिक शक्ति से खींचता है।

(ख) ज्वार-भाटे की उत्पत्ति का मुख्य कारण चन्द्रमा से पृथ्वी के केन्द्र तथा उसके धरातल की दूरियों का अन्तर है। पृथ्वी के केन्द्र और धरातल में ४,००० मील का अन्तर है। अतः सूर्य अथवा चन्द्रमा से पृथ्वी के ठीक सामने का स्थान उसके केन्द्र की अपेक्षा ४,००० मील अधिक समीप रहता है। सूर्य और पृथ्वी के बीच में ९,३०,००,००० मील का अन्तर है। इस विशाल दूरी में ४,००० मील का अन्तर कोई अर्थ नहीं रखता। अतः सूर्य का खिंचाव पृथ्वी के केन्द्र तथा सामने वाले स्थान पर

लगभग एक समान ही होता है। चन्द्रमा और पृथ्वी के बीच २½ लाख मील से भी कम अन्तर है। इस दूरी में ४,००० मील का नगण्य प्रभाव होता है। चन्द्रमा का खिचाव प्रभावशाली होता है और सूर्य के खिचाव से २½ गुना अधिक होता है।

चन्द्रमा पृथ्वी को अपनी आकर्षण-शक्ति से खींचता है परन्तु पृथ्वी पर सर्वत्र जल-ही-जल नहीं है। इसके लगभग एक-तिहाई भाग पर स्थल है। स्थल-भाग ठोस है। ठोस के कण एक दूसरे से पूरे तौर से सटे रहते हैं। उनके अन्दर आपस की एक जबर्दस्त आकर्षण-शक्ति काम करती है जो एक कण को दूसरे से बाँधे रहती है। अत स्थल पर खिचाव का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु द्रव के कण इस प्रकार एक दूसरे से गुथे हुए नहीं रहते। वे फिसलकर भागने का प्रयत्न करते हैं। अत जलमण्डल पर आकर्षण का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

४३७ ज्वार-भाटा कैसे उत्पन्न होता है?—जैसा कि पहले कहा जा चुका है पृथ्वी के केन्द्र और धरातल में ४००० मील का अन्तर है। अत पृथ्वी का जो भाग चन्द्रमा के सामने पड़ता है वह पृथ्वी के केन्द्र की अपेक्षा चन्द्रमा से ४००० मील अधिक समीप होता है और यहाँ खिचाव सबसे अधिक होता है। इस खिचाव के कारण जल इधर-उधर से खिसककर ऊँचा उठता है और आस-पास के तल से काफी ऊँचा हो जाता है। इस प्रकार चन्द्रमा के सामने वाले स्थान पर ज्वार उत्पन्न हो जाता है। चन्द्रमा का आकर्षण प्रत्यक्ष रूप से इस ज्वार को उत्पन्न करता है।

पृथ्वी का वह भाग जो चन्द्रमा से विपरीत दिशा में होता है पृथ्वी के केन्द्र की अपेक्षा चन्द्रमा से ४,००० मील दूर होता है। चूँकि पृथ्वी ठोस है, अत चन्द्रमा के आकर्षण का प्रभाव सम्पूर्ण पृथ्वी-पिण्ड पर पड़ता है। इस आकर्षण के कारण चन्द्रमा के विपरीत दिशा का स्थल चन्द्रमा की ओर खिच जाता है और जल पीछे रह जाता है जिससे वहाँ पर भी जल आस-पास के तल से ऊँचा उठ जाता है। इस प्रकार पृथ्वी पर चन्द्रमा की विपरीत दिशा में दूसरा ज्वार उत्पन्न होता है। यह ज्वार जल के सीधे खिचाव से नहीं होता, परन्तु खिचाव उसका अप्रत्यक्ष कारण होता है।

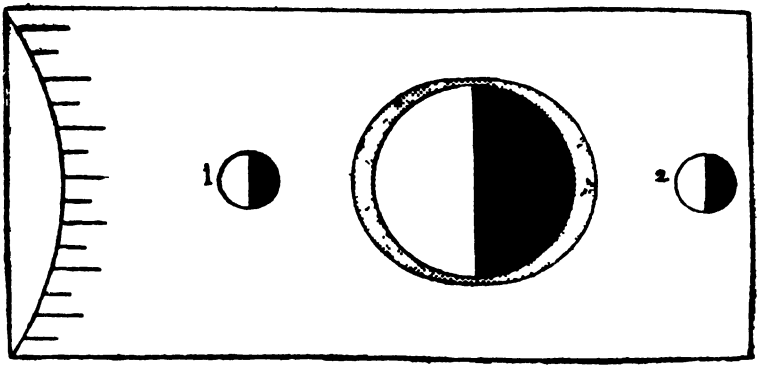
इस प्रकार एक ही समय में पृथ्वीतल पर दो ज्वार उत्पन्न होते हैं - **एक ठीक चन्द्रमा के सामने और दूसरा उससे विपरीत दिशा में**। पृथ्वी के आवर्तन (Rotation) के कारण उसका प्रत्येक स्थान दिन-रात में एक बार चन्द्रमा के सामने जाता है और एक बार उससे विपरीत दिशा में होता है। अत प्रत्येक स्थान पर दिन-रात में दो बार ज्वार आता है।

चन्द्रमा के सामने और विपरीत इन दो स्थानों के बीच में पृथ्वीतल पर दो स्थान ऐसे होते हैं जहाँ पर चन्द्रमा क्षितिज पर होता है। इन दोनों स्थानों की स्थिति

ऐसी होती है कि चन्द्रमा से पृथ्वी का केन्द्र और इन स्थानों की दूरी बराबर होती है। फलत, इन स्थानों पर खिचाव केन्द्र के समान ही होती है। इस प्रकार जल और पृथ्वी दोनों ही अपने स्थानों पर रहते है। केवल यहाँ का जल खिचकर ज्वार वाले स्थानों की ओर चला जाता है। अतः इन दोनों स्थानो पर भाटा आता है। पृथ्वी के आवर्तन के कारण प्रत्येक स्थान २४ घण्टों में इन दोनों स्थितियों में पहुँचता है। अतः दिन-रात में दो बार भाटा प्रत्येक स्थान पर आता है।

चूँकि पृथ्वी २४ घण्टे में अपनी धुरी पर एक चक्कर लगाती है, इसलिए प्रत्येक स्थान पर छ-छः घण्टे के पश्चात् ज्वार और भाटा आना चाहिए। परन्तु ज्वार और भाटे के बीच में छ. घण्टे तेरह मिनट का अन्तर होता है। इसका कारण यह है कि चन्द्रमा एक ही स्थान पर स्थिर नही रहता, बल्कि लगभग २८ दिन में पृथ्वी की परिक्रमा करता है। इस कारण एक दिन में चन्द्रमा अपने स्थान से कुछ आगे बढ़ जाता है। फलस्वरूप किसी स्थान को चन्द्रमा के सामने की स्थिति से दोबारा उसके सामने पहुँचने में २४ घण्टे और ५२ मिनट लगते है। इस बीच में उस स्थान पर दो बार ज्वार आ लेता है। अतः दो ज्वारो के बीच में १२ घण्टे २५ मिनट का अन्तर होगा तथा ज्वार और भाटे में ६ घण्टे १३ मिनट का अन्तर होगा।

यदि पृथ्वी स्थिर होती अथवा बहुत ही मन्द गति से घूमती होती, तो चन्द्रमा के ठीक सामने वाले जल में ही ज्वार सबसे ऊँची होती। परन्तु पृथ्वी के तीव्र गति से नाचते रहने के कारण चन्द्रमा के ठीक सामने वाले स्थान पर सबसे ऊँचे ज्वार नहीं

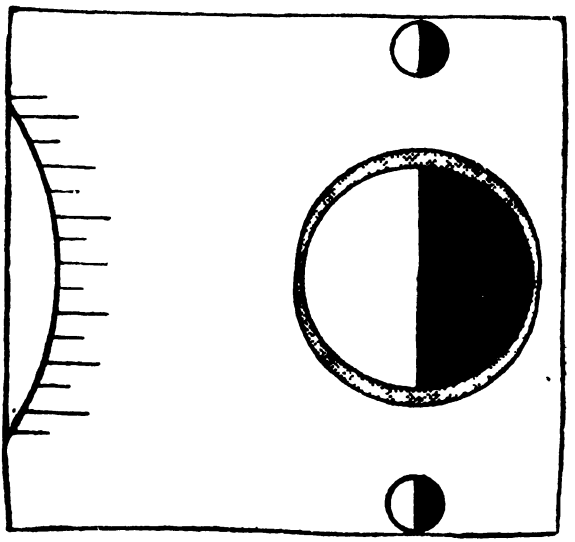


चित्र ११९. बृहत ज्वार

आती। उस स्थिति के कई घण्टे बाद जब चन्द्रमा कुछ नीचा दिखाई देता है तब सर्वोच्च ज्वार होता है। ज्वार की यह लहर चन्द्रमा के साथ प्रत्येक स्थान पर पहुँचती है।

४३८. बृहत् ज्वार और लघु ज्वार (Spring Tide and Neap Tide)—ज्वार-भाटे के उत्पन्न होने में चन्द्रमा की आकर्षण-शक्ति ही मुख्य होती है। परन्तु सूर्य की आकर्षण-शक्ति ज्वार-भाटे के वेग पर प्रभाव डालती है। अमावस्या (New Moon) और पूर्णिमा (Full Moon) के दिन चन्द्रमा, सूर्य और पृथ्वी तीनों एक ही सीधी रेखा में होते हैं। अत. इन तिथियों को दोनों की आकर्षण-शक्तियों का सयुक्त प्रभाव पृथ्वी पर पड़ता है। फलस्वरूप इन तिथियों को ज्वार अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक ऊँचा उठता है। इसे बृहत् ज्वार या सबसे अधिक ऊँचा ज्वार कहते हैं।

इसके विपरीत शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की अष्टमी को चन्द्रमा और सूर्य की स्थिति पृथ्वी के केन्द्र से समकोण पर होती है जिससे दोनो पिण्डों की आकर्षण-



चित्र १२०. लघु ज्वार

शक्तियाँ एक दूसरे के विरुद्ध प्रभाव डालती हैं। फलतः, चन्द्रमा के सामने वाले स्थान पर कम ऊँचा ज्वार आता है जिसे लघु ज्वार कहते हैं।

४३९. ज्वार की ऊँचाई—यदि सम्पूर्ण पृथ्वीतल के ऊपर जल-ही-जल होता तो उपर्युक्त सिद्धान्तो के अनुसार ज्वार की लहर चन्द्रमा के साथ १२ घण्टे २५ मिनट के बाद सब स्थानों पर पहुँच जाती। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। ज्वार की ऊँचाई और दो ज्वारों के बीच का समय विभिन्न स्थानों पर अलग-अलग पाया गया है। इसके कई कारण हैं जिनमें मुख्य कारण निम्न हैं—

(क) पृथ्वी के जल भाग महाद्वीपों के बीच में आ जाने से एक-दूसरे से अलग किए हुए हैं। अत. ज्वार अलग-अलग समुद्रों में उठते हैं। ज्वार की लहर खुले महासागरों में ५ फीट से १० फुट ऊँची उठती है। परन्तु भूमध्यसागर और बाल्टिक सागर जैसे स्थल के घिरे हुए समुद्रो में ज्वार बहुत ही कम ऊँचा उठता है। मैक्सिको की खाड़ी मे २ फुट ऊँची लहर उठती है। बड़ी झीलो मे बहुत ही हल्का ज्वार होता है। मिशिगन झील मे २ इंच ऊँचा ज्वार आया करता है। छोटी झीला मे तो ज्वार का प्रभाव मालूम भी नही होता।

(ख) उथले तटीय सागरों की ओर जब ज्वार बढता है, तो जलमग्न तट उसके मार्ग में बाधा डालता है, किन्तु पीछे से ज्वार की शक्ति इसको आगे धकेलती है। फलत, ज्वार की लम्बाई तो घट जाती है, परन्तु उसकी ऊँचाई बढ जाती है। साथ ही ज्वार के बढने के वेग मे कमी हो जाती है। अटलाण्टिक महासागर में विषुवत रेखा के पास लगभग ३ फुट ऊँची ज्वार होती है जो लगभग ५०० मील प्रति घण्टा के हिसाब से आगे बढती है। यह ज्वार १८ घण्टो में भूमध्यरेखा के पास से दक्षिण-पश्चिमी यूरोप तक पहुँच जाती है। यहाँ पर जल उथला होने के कारण ज्वार की गति मन्द हो जाती है और समुद्र की तली की बनावट के अनुसार कई भागो में विभक्त हो जाती है। आयरलैंड के छिछले सागर मे ज्वार का वेग लगभग १०० मील प्रति घण्टा रह जाता है परन्तु उसकी ऊँचाई लगभग ४० फुट हो जाती है।

(ग) तट की बनावट में यदि टेढा-मेढापन होता है और उसमे कटाने अधिक होती है तो ज्वार के मार्ग की दिशा और ऊँचाई पर गहरा प्रभाव पड़ता है। स्थल से आबद्ध सकीर्ण खाड़ियो मे यह प्रभाव स्पष्ट मालूम पड़ता है। जिन खाड़ियो का मुँह चौडा होता है और भीतर की ओर सकीर्ण होने लगता है उनमे पानी अधिक चौडे भाग से प्रवेश कर कम चौडे भाग की तरफ एकत्र होने लगता है। फलत: ज्वार की ऊँचाई बढने लगती है। लिवरपूल की खाडी मे २९ फुट ऊँची ज्वार आती है। नोवांस्कोशिया के पास फण्डी की खाड़ी मे, जिसकी बनावट फनल के समान मुँह पर चौड़ी है, ज्वर ४२ फुट ऊँची होती है, परन्तु बृहत् ज्वार के समय इसकी ऊँचाई ५० फुट तक हो जाती है।

४४०. ज्वार का समय—जिस प्रकार विभिन्न तटो पर ज्वार की ऊचाई में अन्तर होता है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न तटो पर ज्वार-भाटे के आने का समय भी भिन्न होता है। यहाँ यह बात भली भाँति समझ लेनी चाहिए कि प्रत्येक स्थान पर ज्वार और भाटा के आने का जो निश्चित समय होता है उसमें बिलकुल अन्तर नही

होता। किनारे का साधारण निवासी भी जानता है कि ज्वार किस समय आयेगा और कितनी दूर तक पानी चढ़ेगा। हाँ, पानी के चढ़ाव-उतार के समय के अन्तर में स्थान-स्थान पर फर्क पड़ेगा। इसके कई कारण है जिनमे ज्वार की गति मुख्य है। ज्वार की गति भी कई बातो के अनुसार कम या अधिक होती है। परन्तु जल की गहराई और स्थल की दूरी उस पर विशेष प्रभाव डालती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, गहरे जल मे ज्वार की गति अधिक होती है और उथले समुद्रो मे बाधा आ जाने से कम होती है। फिर स्थलभाग की बनावट और उसकी दूरी का भी ज्वार की गति पर प्रभाव पडता है। स्थल के तट की बनावट के कारण ज्वार के बढने की दिशा में भी परिवर्तन हो जाता है, अत. उसकी गति मन्द हो जाती है।

उपर्युक्त कारणो से ज्वार भिन्न-भिन्न स्थानो पर भिन्न-भिन्न समय पर पहुँचता है तथा उनके आने के समय मे फर्क पड जाता है। उदाहरण के लिए ब्रिटिश द्वीपसमूह की बनावट के कारण अटलाण्टिक से आने वाले ज्वार की कई शाखायें हो जाती है। आयरलैंड द्वीप से एक शाखा उत्तर की ओर जाती है और दूसरी दक्षिण को। उत्तर की ओर जाने वाली शाखा ब्रिटिश द्वीपसमूह की परिक्रमा करती हुई १६ घण्टे बाद टेम्स नदी के मुहाने पर पहुँचती है। दूसरी दक्षिण की ओर जाने वाली शाखा के मार्ग मे वाइट द्वीप पडता है जिसमे साउथैम्पटन बन्दरगाह पर ज्वार दो मार्गो से जाता है। एक तो सोलेंट होते हुए पश्चिमी मार्ग मे और दूसरी स्पिटहैड होते हुए पूर्वी मार्ग मे। अत साउथैम्पटन के पास एक दिन और रात मे चार बार ज्वार आता है। पश्चिमी मार्ग के आने वाले ज्वार के दो घण्टे बाद ही पूर्वी ज्वार का पानी चढने लगता है। अत. खाडी मे पहले ज्वार का पानी उतरने ही नही पाता कि दूसरा ज्वार प्रारम्भ हो जाता है जिससे इस खाडी मे ज्वार का जल अधिक समय तक रुका रहता है।

इसके विपरीत ताहिती द्वीप चारो ओर से सोसायटी द्वीप-पुंज, तुआमोटो द्वीपो, आस्ट्रल द्वीपो और कुक द्वीपो से घिरा है तथा यहाँ समुद्र की तली की बनावट इस प्रकार की है कि चन्द्रमा द्वारा यहाँ ज्वार उत्पन्न नही होता। केवल सूर्य के आकर्षण से नगण्य सा ज्वार होता है जो १२ घण्टो के बाद आता है।

स्थल-भागो से घिरे हुए कुछ तटो पर दिन-रात में एक बार ही ज्वार आता है। इसका कारण यह है कि पृथ्वी अपनी कीली पर पश्चिम से पूर्व की ओर दौड़ रही है। अत चन्द्रमा हमे पूर्व से पश्चिम को चलता हुआ प्रतीत होता है। चन्द्रमा की इस गति से ज्वार भी वास्तव में पूर्व से पश्चिम की ओर चलता है। ज्वार का पूर्व से पश्चिम को प्रवाह हमें दक्षिणी गोलार्द्ध मे, जहाँ जल की अधिकता है, स्पष्ट

मालूम पड़ता है। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थलखण्डों के आ जाने से ज्वार का पूर्व से पश्चिम को प्रवाह नही मालूम होता किन्तु अटलाण्टिक महासागर में अफ्रीका के दक्षिणी तट से टकराकर दक्षिण से उत्तर की ओर हो जाता है। इस प्रकार दक्षिणी अमेरिका के दक्षिणी अन्तरीप केप हार्न से टकराकर प्रशान्त महासागर में भी ज्वार का प्रवाह दक्षिण से उत्तर को ओर हो जाता है। चूँकि ज्वार का वेग दक्षिण से उत्तर की ओर रहता है, अत· इन दोनों महासागरों के पश्चिमी भाग पर स्थल से घिरे हुए समुद्रों में ज्वार का जोर कम होना है। अटलाण्टिक महासागर के पश्चिमी भाग में स्थल से घिरे हुए कैरेबियन सागर और मेक्सिको की खाड़ी मे ज्वार का एक बार ही प्रभाव पडता है। इसी प्रकार प्रशान्त महासागर में दक्षिणी एशिया के कुछ भागों में ज्वार एक बार ही आता है।

४४१. नदियों में ज्वार का प्रभाव—जिन नदियो का मुहाना खुला और चौड़ा होता है उनमें ज्वार की लहर मुहाने से नदियों के भीतर की ओर बढ़ने लगती है। नदी के पानी का बहाव समुद्र की ओर होता है, परन्तु ज्वार की बढ़ती हुई लहर उसे पीछे को धकेलती है। अत· पानी की ऊँचाई बढ़ जाती है और उसका बहाव उल्टा हो जाता है। पानी की इस ऊँची दीवार को **बोर** (Tidal Bore) कहते हैं। हुगली नदी में इस प्रकार की ऊँची बोर सदैव नियमित समय पर आया करती है जिससे बडे-बडे समुद्री जहाज कलकत्ता तक चले जाते हैं। इस प्रकार की ज्वार बोर यॉगटिसीक्यॉंग, अमेजन, सेण्ट लॉरेंस, हडसन आदि बहुत सी नदियो में आती है। ब्रिटेन की सेवर्न नदी में जल की ९ फुट ऊँची दीवार उठ जाती है। यॉंगटिसीक्यॉंग नदी में बोर के समय यदि चक्रवात हवाओ के झकोरे भी उठ रहे हों तो जल की दीवार की ऊँचाई २५ फ· तक हो जाती है। इस बोर का वेग इतना अधिक होता है कि जहाज के लगर के मोटे-मोटे रस्से कच्चे धागे की तरह टूट जाते है और बोर की शक्ति से जहाज नष्ट हो जाता है। इसी कारण बोर आने के समय जहाज के लंगर की रस्सियाँ ढीली रखी जाती हैं।

४४२ ज्वार-भाटे का मानव-जीवन पर प्रभाव—(क) ज्वार-भाटे से उथले समुद्रों, खाडियों तथा नदी के मुहानों पर स्थित बन्दरगाहों को अत्यधिक लाभ पहुँचता है। बड़े-बडे समुद्री जहाज उथले जल वाले बन्दरगाहों के पास तक नही पहुँच पाते और बन्दरगाहो से दूर पर ही लगर डाले खड़े रहते हैं। ज्वार आने पर जो जल-वृद्धि होती है उससे ये जहाज सुगमता से बन्दरगाहो तक पहुँच जाते हैं और सामान उतार तथा चढ़ाकर भाटे के साथ वापस चले आते हैं। कलकत्ता और लन्दन आदि शहर समुद्र से दूर नदियों के किनारे पर स्थित है, परन्तु ज्वार-भाटे के प्रभाव से जहाजों के वहाँ तक

पहुँच जाने के कारण बन्दरगाह कहलाते है। ज्वार के साथ जाने तथा भाटे के साथ लौटने से जहाजों और नावों को शक्ति पैदा करने में कोयला आदि खर्च नही करना पडता।

(ख) भाटे के साथ नदियों के मुहाने की मिट्टी बही चली जाती है जिससे नदियों का मुहाना हमेशा घुलता रहता है और बन्दरगाह हमेशा खुला रहता है।

(ग) ज्वार की लहर में काफी शक्ति होती है। कुछ स्थानों पर इस जल को एकत्र करने के लिए बाँध बना दिए है। ज्वार मे इन बाँधो के भीतर जल भर जाता है और उससे बिजली बनाई जाती है।

प्रश्न

1. Discuss as clearly as possible the phenomenon of tides
(*I A S Competition Exams 1953*)

2. How are tides caused? How do they help in commercial navigation
(*Nagpur Inter 1952*)

इकतीसवाँ अध्याय

प्रवाल द्वीप (Coral Islands)

४४३. प्रवाल क्या है ?— गर्म समुद्रों में प्रवाल नाम के कीड़ों ने असख्य द्वीपों की रचना कर डाली है। इन द्वीपों को प्रवाल-द्वीप कहते हैं। इन द्वीपों के बनने की कहानी अत्यन्त मनोरंजक है। यह तो हम जानते ही हैं कि समस्त प्रकार की जीवन लीलाओं का केन्द्र **जीवनमूल** (Protoplasm) है। सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी हक्सले का मत है कि जीवनमूल ही जीवन का भौतिक आधार है। जीवनमूल सामान्यतया **३५° फा० से लेकर ९५° फा० तक** की गरमी में जीवित रहता है। स्पष्ट है कि कम ताप-क्रम वाले गहरे महासागरों में जीवनमूल नहीं पनपता। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि समुद्र के जीव-जन्तु प्राय. गरम और छिछले समुद्रों में ही अधिक संख्या में पाये जा सकते हैं।

४४४. प्रवाल कीड़े कहाँ पाये जाते हैं—अतः प्रवाल कीड़ा भी ६८° फा० से कम तापक्रम वाले जल में जीवित नहीं रह सकता। यह कीड़े अधिकतर उन्हीं स्थानों में पाये जाते हैं जहाँ जल का तापक्रम ६८° से ऊपर है और गहराई भी १५० फुट से अधिक नहीं है। प्रवाल कीड़ा मीठे और गंदले जल में भी जीवित नहीं रह सकता। अतः नदियों के मुहानों के समीप भी प्रवाल-द्वीप नहीं बन सकते और जितनी दूर तक नदियों के ताजा जल की पहुँच हो जाती है उतनी दूर तक प्रवाल कीड़ा द्वीपों का निर्माण नहीं करता। आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट पर बनी हुई मूंगे की दीवार तटभूमि से १० मील दूर है और जहाँ-जहाँ यह दीवार नदियों के मुहाने के सामने पड़ती है, उन्हीं स्थानों पर यह टूटी हुई है। इन टूटे भागों में होकर ही समुद्री जहाज भीतर तटभूमि तक पहुँचते हैं।

नक्शे में प्रवाल-द्वीपों के विन्यास की ओर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि ये द्वीप ३०° उत्तरी अक्षांश से ३०° दक्षिणी अक्षांश तक स्थित हैं तथा प्रशान्त और हिन्द महासागरों में इनकी अधिकता है। इससे ज्ञात होता है कि इन स्थानों पर परिस्थितियाँ प्रवाल कीड़े के लिए बहुत अनुकूल हैं। मूंगे के कीड़े के लिए सर्वश्रेष्ठ तापक्रम ७३° फा० से ८५° फा० तक होता है। इतना तापक्रम उष्ण कटिबन्ध में महाद्वीपों के पूर्वी तट पर होता है क्योंकि व्यापारिक हवायें समुद्र के ऊपरी गरम जल को छूती हुई आती हैं। स्थलखण्डों के पश्चिमी तट पर हवायें स्थल से चलकर आती हैं, अतः इस ओर तापक्रम पूर्वी तट की अपेक्षा कम होता है। यही कारण है कि महाद्वीपों

के पश्चिमी तट पर प्रवाल-द्वीपों की संख्या बहुत कम है। गंगा, ब्रह्मपुत्र, अमेजन, ओरिनिको और मिसीसिपी आदि नदियों द्वारा लाई हुई मीठे पानी की अपार जलराशि अटलाण्टिक महासागर में मूंगे में द्वीप-निर्माण में बाधक होती हो।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रवाल द्वीपों के निर्माण के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है —

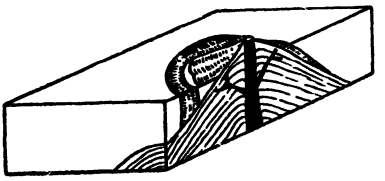
(क) जल का **तापक्रम ७०° फा०** के आस-पास या कुछ अधिक हो, (ख) समुद्र की **गहराई २०० फुट** के आस-पास हो, तथा (ग) द्वीप का स्थान नदियों के **मीठे और गँदले जल के प्रभाव से पर्याप्त दूर हो।**

४४५ **प्रवाल चट्टान कैसे बनती है**—प्रवाल कीड़े की अनेक जातियाँ होती हैं। ये कीड़े भोज्यन कैलशियम कार्बोनेट खाते हैं जो समुद्र-जल में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। यही कारण है कि इस कीड़े के शरीर में चूने की मात्रा अधिक होती है। यह कीड़ा अपने शरीर से एक द्रव पदार्थ निकालकर अपने निचले भाग के चारों ओर एक आवरण सा बना लेता है। यह आवरण बड़ी जल्दी सख्त हो जाता है और इस ढाँचे के अन्दर कीड़ा बड़े आराम से रहता है। कुछ समय बाद इस बाहिरी ढाँचे में से अंकुर निकलते हैं। इन नये अंकुरों में नये प्रवाल कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं और वे भी अपने इस नवीन आवरण में सुरक्षित रूप से बन्द रहते हैं। नये कीड़ों के विकसित हो जाने पर उनके बाहिरी आवरणों में से भी नये-नये अंकुर फूटते रहते हैं। इस प्रकार यह ढाँचा बर्र के छत्ते के समान बढ़ता जाता है। मरे हुए कीड़ों के ढाँचे समुद्र की तली पर गिर जाते हैं और नवीन ढाँचा उनके ऊपर बढ़ता जाता है। यह काम शताब्दियों तक चलता रहता है। मरे हुए कीड़ों के ढाँचे जमकर चट्टान के रूप में बदलते जाते हैं और इस तरह मूंगे की चट्टान धीरे-धीरे ऊँची होती जाती है। जब यह मूंगे का टीला इतना ऊँचा पहुँच जाता है कि भाटे की लहर आने पर जल से कुछ बाहर हो जाय, तो ऊपर की ओर बढ़ना बन्द हो जाता है। जब प्रवाली (चट्टान) समुद्रतल से कुछ नीची रह जाती है, तो समुद्र की लहरें इसके ऊपर बालू, मिट्टी आदि बिछाती रहती हैं। धीरे-धीरे स्थल का एक चबूतरा सा बन जाता है। लहरों द्वारा लाये हुए बीजों से इनमें पेड़ उग आते हैं। यही प्रवाल-द्वीप की संक्षिप्त कहानी है।

४४६. **भेद**—स्थिति और आकार के आधार पर इन द्वीपों को तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है—(क) अनुतट प्रवाल श्रेणी, (ख) परातट प्रवाल श्रेणी और (ग) वलयाकार प्रवाल श्रेणी।

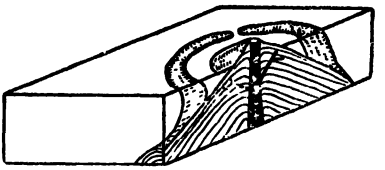
(क) अनुतट प्रवाली (Fringing Reefs)—जब प्रवाली (मूंगे की चट्टान) किसी महाद्वीप या द्वीप के तट से सटकर बनी होती है, तो उसे अनुतट प्रवाली कहते हैं। अनुतट प्रवाली जब ऊपर की ओर बढ़ती जाती है तभी उसके साथ ही बाहर की

ओर भी बढती रहती है। बाहर समुद्र की ओर कीडे को भोजन-सामग्री प्रचुर परिणाम में मिल सकती है। वाह्य भाग समुद्रतल के पास जल्दी पहुँच जाता है। बहुत से प्रदेशों में इसका बाहिरी भाग तट से थोडी दूर पर ऊँचा उठा हुआ दिखाई देता है और बीच में लम्बी और संकीर्ण लैगून (खाई) रहती है जिसकी तली मूगे की चट्टान की बनी होती है। लैगून बहुत कम गहरी होती है। अदमन द्वीप मे ऐसी ही एक प्रवाली है।



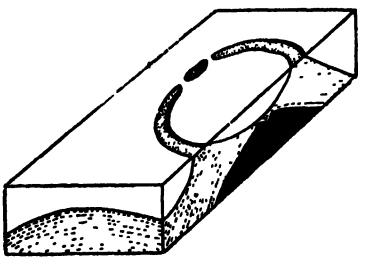
चित्र १२१. अनुतट प्रवाली

(ख) **परातट प्रवाली** (Barrier Reefs)—जैसा कि नाम से प्रकट होता है, परातट प्रवाली समुद्रतट से कुछ दूरी पर तट के समानान्तर दीवार की तरह उठी हुई होती है। तट और प्रवाली के बीच की लैगून (खाई) काफी चौडी और अधिक गहरी होती है। इस प्रकार की विश्व की सबसे बडी मूगे की दीवार आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट के समानान्तर बनी हुई है। इस दीवार की लम्बाई लगभग १,२०० मील है। यह कई स्थानों पर खण्डित है। इसकी चौडाई १० मील से ९० मील तक है। इसका अधिकाश भाग जलमग्न है, परन्तु कही-कही जल के बाहर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। महाद्वीप के तट से इसकी दूरी २० मील से १५० मील तक है।



चित्र १२२ परातट प्रवाली

(ग) **वलयाकार प्रवाली** (Atoll)—जिन प्रवाल द्वीपो की आकृति गोल अथवा घोड़े के नाल के आकार जैसी होती है उन्हें वलयाकार प्रवाली कहते है। इनके बीच में खारे पानी की छिछली झील होती है। नाल के खुले हुए भाग द्वारा अथवा गोल द्वीप में किसी खण्डित भाग द्वारा इस झील का खुले समुद्र से सम्बन्ध रहता है। जिससे होकर जल प्रवेश पा सके। ऐसे द्वीप दक्षिणी प्रशान्त महासागर में अधिक सख्या में पाये जाते हैं। किसी तट से कुछ सम्बन्ध न होने के कारण इनकी रचना का कोई स्पष्ट कारण समझ मे नही आता। इनके निर्माण के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत हैं जिनका



चित्र १२३. वलयाकार प्रवाली

नीचे निरूपण किया जा रहा है।

चार्ल्स डार्विन के मतानुसार वलयाकार प्रवाली प्रारम्भ में किसी ज्वालामुखी पर्वत की चोटी के चारों ओर अनुतट अथवा परातट प्रवाली के रूप में बनी होगी। इस पर्वत चोटी के नीचे धंस जाने मे या समुद्र का तल ऊँचा हो जाने से उसका नवीन रूप अस्तित्व मे आया होगा। ज्यो-ज्यो पर्वत नीचे को धँसता गया, त्यों-त्यो मूंगे के कीड़े बाहर की ओर उसका निर्माण करते गये और बीच मे झील की गहराई बढती गई।

इस मत के विपरीत सर जान मरे, अगासीज, सैम्पर प्रभृति विद्वानो का मत है कि मूगे के द्वीप किसी पर्वत अथवा भूभाग के जलमग्न होने मे नही बने। किन्तु समुद्र के भीतर जलमग्न पर्वतों, पठारो अथवा अन्य ऊँचे भूभागो के ऊपर ही मूगे के कीडो ने प्रवाल-द्वीपो का निर्माण आरम्भ किया।

इन विभिन्न प्रतिपादित मतों मे दोनो ही सत्य प्रतीत होते है। सभवतया कुछ द्वीप पर्वत या पठार आदि के जलमग्न होने से बने होंगे तथा कुछ ऐसे भी होंगे जिनका निर्माण अदृश्य पर्वतो के ऊपर प्रारम्भ हुआ होगा।

प्रश्न

1. What are coral reefs and islands ? Under what Geographical conditions are they formed ? Give their world distribution and account for their significance (*Agra B.A. 1955*)

2. Write a critical essay on the coral reefs problem (*Agra M A 1949; Allahabad M.A 1950*)

3. Say what do you know of the distribution of Coral reefs and Coral island ? To what Causes do you ascribe their distribution ? What do you know of the theories of the origins of coral islands and reefs. (*U P. Inter 1942*)

अनुक्रमणिका

अ

अक्रमगामी प्रवाह १४६
अगाध सागरीय तल ३३६
अग्रदेश २००
अधोमंडल २३०
अध्यारोपित प्रवाह १४५
अरीह प्रवाह १४६
अन्तस्थलीय प्रवाह १४६
अपोढ़ १६८
अटलांटिक महासागर की तली का रूपघेय ३३८
अटलांटिक महासागर की जलधारायें ३५०
अनुतटीय वाधक श्रेणी २१८
अनुगामी प्रवाह १४३
अन्तर्राष्ट्रीय तिथिरेखा २१
अधिकतम तापरेखा २४६
अपक्षरण (घिसाव) १२८
अप्रधान गर्तचक्र ३००
अभिनति (Dip) १०१
अक्षांश १७
अक्षांश और सूर्य की ऊँचाई १८

आ

आधारतल १४१
आनति १०१
आयनमण्डल २३०
आर्द्रता २७३
आर्द्रता (प्रकेवल) २७४
आर्द्रता (सापेक्ष) २७४
आर्द्रता की माप २७५
आवर्तन १२
आश्चुताश्म १३५

उ

उत्तरायण १४
उत्तरगामी प्रवाह १४४
उद्वाष्पन (वाष्पीभवन) २७५
उत्तल १५१
उत्तल (तरंग घर्षित) २१६
उन्मग्न पहाड़ी तट २१६
उन्मग्न मैदानी तट २१७
उपग्रह १
उल्कापिण्डों की नीहारिका का सिद्धान्त ३
उपःकल्प ६३
उष्ण मरुस्थल ३१७
उत्क्षालित स्थली १६६

ऊ

ऊखा मोरेन १६८
ऊँचा उठना ६५

ऐ

ऐश्चुअरी २१५

ओ

ओला २८६
ओषोण मण्डल २३०

क

कन्दरास्तम्भ १३६
कक्ष १४

कालक्षेत्र २०
कार्स्ट मैदान १८३
कॉप के ऊँचे मैदान १५१
कुहरा २७६
कूटिका १६८
केनयान १४७
कंकतगिरि १६६

ख

खनिज ७३

ग

गतिशील प्रक्रियायें १२५, १२८
गर्तचक्र में मौसम की दशा २६७
गर्तचक्र का आगे बढ़ना २६६
गर्तचक्र का समाप्त होना ३००
गिरिश्रृंग १६३
गीसर १११
ग्रह १
ग्रहण २४
ग्रहीय परिवाह सिद्धान्त ६३
ग्रीष्म सम्पात १६

घ

घनीभवन २७६
घाटी निर्माण १३६
घाटी (ऊपरी) १४२
घाटी (मध्य) १४२
घाटी (निम्न) १४३
घुमावदार मार्ग (नदी) १८६
घोड़े का अक्षांश २६६

च

चक्रवात २६३
चक्रवात (तापज) ३०१
चक्रवात (उष्णकटिबन्धीय) ३०१
चटकन ६७
चट्टान ७२
चट्टान आग्नेय ७४
चट्टान परतदार ७७
चट्टान रूपान्तरित ८२
चतुष्फलक सिद्धान्त ४८
चन्द्रमा २२
चन्द्रकलाये २२
चन्द्रग्रहण २४
चीन-जैसी जलवायु ३२३

ज

जलपटल १३०
जलप्रपात १४८
जलविभाजक १४६
जलस्रोत १३२
जलीकरण १२७
जारण १२६
ज्वार (बृहत और लघु) ३५६
ज्वार वाला सिद्धान्त ४
ज्वालामुख १०४
ज्वालामुखी १०४
ज्वालामुखी चक्र १०८
ज्वालामुखी (शंकु) ११३
ज्वालामुखी (भेद) ११४

झ

झरना १३२

ट

टुण्ड्रा टाइप ३३१

ड

डेल्टा १५३
डेल्टा के मैदान १८६
डोलड्रम्स २६५

डोलाइन १३६

ढ

ढाल के अनुरूप नदी १४३
ढाल के अनुरूप उपधारा १४४
ढाल के अनुरूप सहायक उपधारा १४४

त

तापक्रम (जनवरी व जुलाई) २५०
तापक्रम में ऊँचाई के अनुसार परिवर्तन २४५
तापक्रम मे दैनिक परिवर्तन २४३
तापक्रम में ऋतु-अनुसार परिवर्तन २४४
तापक्रम वितरण २४७
तापक्रम की विलोमता २४७
तापज चक्रवात ३०१
तापान्तर २५०
तापीय चक्र (जौली) ५५, ६२
तापीय संकोचन सिद्धान्त ८६

द

दरार ६७
दरारी घाटी ६६
दक्षिणायन १५
दीर्घकूटिका १६८
देशान्तर १६
दोआब १८८

ध

धनुषाकार झील १८६
धारायें ३४७
धँसते महाद्वीप का सिद्धान्त ६२
धँआरे १११
धुँआरे (गन्धकीय) ११२
ध्रुवीय अग्र २६४
ध्रुवीय अग्र के लहरदार होने के कारण २६५

न

नदी का घाटी चक्र १४६
नदी की नवीन अवस्था १४७
नदी की मध्य अवस्था १४६
नदी की जीर्णावस्था १५०
नदी मे पुनर्युवीकरण १५१
नदी प्रगहण १४५
नवजीवकल्प ६७
निर्बल क्षेत्र २००
निश्चुताश्म १३५
निक्षेपण (रचनात्मक कार्य) १२६
नीचे धँसना ६६
नीहारिका सिद्धान्त (लाप्लास) २
नीहारिका सिद्धान्त (उल्का पिण्ड) ४

प

परिवर्तमण्डल २३०
पर्वत (ज्वालामुखी) २०३
पर्वत (घिसाव द्वारा निर्मित) २०३
पर्वत (संवर्ग) १००, २०३
पठार जलीय २०७
पर्वत निर्माणकारी हलचलें ६६
पठार वायव्य २०८
पठार हिम्य २०८
पठार उत्स्यन्द २०६
पठार मिश्रित २०६
पठार अन्तरापर्वतीय २१०
पठार प्रान्ती २१०
पठार महाद्वीपीय २१०
पठार शुष्क २११
पठार आर्द्र २११
पदभित्ति ६६
पवन (जल तथा स्थल) २७०

पवन (पर्वत और घाटी) २७०
पश्चिमी यूरोप जैसी जलवायु ३२५
पहाड़ी प्रदेश २१२
पाताल तोड़ कुयें १३३
पानी हड़पना (नदी) १४५
पाषाण-वृक्ष १३६
पुराजीवकल्प ६३
पूर्वगामी प्रवाह १४५
पृथ्वी का आकार ८
पृथ्वी का आधार ६
पृथ्वी की वार्षिक गति १४
पृथ्वी की आयु ६०
पृष्ठदेश २००
पोताश्रय २२०
पंक ज्वालामुखी ११२
प्रकाशचक्र १३
प्रतिगामी प्रवाह १४४
प्रच्छद १०२, १७०
प्रतिचक्रवात ३०४
प्रतिस्थापन १३६
प्रवर्धित प्रवाह मोड़ १५१
प्रवाह प्रणाली (नदी) १४३
प्रवाह-प्रदेश १३८
प्रवाह मोड़ १८६
प्रवाली अनुतट ३६५
प्रवाली परातट ३६६
प्रवाली वलयाकार ३६६
प्रशान्तमहासागर की तली का रूपधेय ३३७
प्रशान्त महासागर की जल धारायें ३५२
प्राकृतिक पिरामिड २२०
प्रामाणिक समय २०
प्रांगारीयण १२६

फ

फियोर्ड १६६
फैरल का नियम २६८

ब

बट १०६
वर्षा वाहनिक २८३
वर्षा पार्वत्य २८४
वर्षा चक्रवातीय २८४
वर्षा की माप २८६
बादल २७६
बालुका स्तूप १७६
बैरोमीटर का ज्वारभाटा २५६
बोर ३६२
बंदरगाह २२०

भ

भूकम्प ११७
भूकम्प क्षेत्र १२२
भूकम्प तरग ३०, १२०
भूद्रोणी १६६
भूमध्यरेखिक जलवायु ३१०
भूमध्यसागरीय जलवायु ३२०
भूमि आवरण ८५
भूमिगत जल (पातालजल) १२६
भूम्युत्थान चक्र ८८
भौगर्भिक शक्तियाँ ७३
भंजचाप १०१
भंजद्रोणी १०१
भंवर १२६

म

मध्यजीवकल्प ६५

मध्यपिण्ड २०१
महाद्वीपीय प्रवाह (वेगनर) ५२, ६१
महाद्वीपीय निमग्नतट ३३५
महाद्वीपीय ढाल ३३५
मानसून हवायें २६८
मानसून टाइप जलवायु ३१४
मेषशिलायें १६५
मैदान (नदी घर्षित स्थलीप्राय) १८२
मैदान (हिमानी घर्षित स्थलीप्राय) १८३
मैदान (तरंग घर्षित) १८४
मैदान (पर्वत प्रान्ती) १९०
मैदान बाढ़ निर्मित १८८
मैदान (हिमानी निर्मित) १९०
मैदान तटीय १९१
मोरेन १६६
मौसमी क्षरण १२६

य

यथापूर्व प्रवाह
यथास्थानीय पट्टी १९५
यू-घाटी १६४

र

रसायनिक क्षरण १२६
राजकुण्ड १३४

ल

लटकती घाटी १६४
लटकती भित्ति
लहरें ३४६
लेवीज १५२, १८७
लैकोलिथ १०६
लैपिली १०७
लैगून झील २१८
लोयस १७९

व

वायुभार की माप २५७
वायुभार की निर्भरता २५८
वायुभार में दैनिक परिवर्तन २५९
वायुभार की पेटियाँ २६०
वायुभार में ऋतु अनुसार परिवर्तन २६१
वायुभार का ढाल २६४
वायुधारा २२५
वायु विरचित पाषाणखण्ड १७६
वारिपथ (तलैटी) १४०
विभंग ९८
विभंग के भेद ९९
विलयन १२७
विषम मोड़ १०२
वृष्टिच्छाया २४३
वृष्टिद्योतक मानचित्रो का अध्ययन २८९
वेला द्वार २१९
वेला धावन २१९
बैरोमीटर का ज्वारभाटा २५९

स

समतापमण्डल २३०
समताप दर्शक मानचित्रों का अध्ययन २४८
समतुलन का सिद्धान्त ३७
समदिश प्रवाह १४६
समभारदर्शक मानचित्र का अध्ययन २६२
समवृष्टि रेखायें २८९
समार्हनिश १७
समुद्रजल की गहराई ३३४
समुद्रजल का खारापन ३३९
समुद्रजल में तापक्रम ३४२
साइक्लोन ३०१

साइबेरियन टाइप ३२७
सागरगर्त ३३६
साधारण झुकाव १०२
सिआल ३१ (२६)
सिआल का छिन्न-भिन्न होना ५०
सिमा ३२
सिल १०६
सीमान्त गर्तचक्र २६४
सूर्य ७
सूर्यग्रहण २५
सूर्यातपन २३५
सूर्यातपन के वितरण के अनुसार संसार के भाग २५६
सूडान टाइप जलवायु ३१३
सौरमण्डल २
संकुण्ड १३४
संघनन (घनीभवन) २७६
संधिस्थान (जोड़) ६८
संतृप्ति का स्थायीतल १३८
संपृक्त वायु २३६
संभंग १०२
संरचना द्वार १६६
संवर्ग पर्वत २०३
संवाहन-परिवाह सिद्धान्त ५७
सेंट लॉरेंस टाइप ३२८
स्तर भंग ६७
स्तर का मुड़ाव ६७, १००
स्टेप टाइप ३२२
स्थलमण्डल ७१
स्थलरूप ८७
स्थैतिक प्रक्रियायें १२५
स्थली अंकुश २१६

श

शरद-सम्पात १६
शिलाचूर्णन १२७

ह

हवायें चलने का कारण २६३
हवायें व्यापारिक २६६
हवायें पछवा २६७
हिमपात २८५
हिमखड्ड १३६
हिमरेखा १५५
हिमक्षेत्र १५५
हिममण्डित प्रदेश ३३२
हिमस्था १६३
हिमागार १६३
हिमानी १५६
हिमानी महाद्वीपीय १५७
हिमानी पर्वतीय १५८
हिमावरण १५७
हँसियाकार (जिह्वाकार) टीला २१६

क्ष

क्षतिपूर्ति का तल ४०